

ॐ अहं

जिन्दागीम-दृष्ट्यमाला : भन्धा कृ० १३

[परमशब्देय गुरुदेव पूज्य श्री जोरावरमलजी महाराज की पुण्यस्मृति में आयोजित]

षतुर्दशपूर्वेष्ठरस्थविरप्रणीत प्रथम उपांग

औपपातिकसूत्र

[मूलपाठ, हिन्दी अनुवाद, विवेचन, परिशिष्ट युक्त]



प्रेरणा

(स्व.) उपश्रवर्तक शासनसेवी स्वामी श्री ब्रजलालजी महाराज



संयोजक तथा आद्य सम्पादक

(स्व०) युवाचार्य श्री मिश्रोमलजी महाराज 'अधुकर'



अनुवादक—विवेचक

डा० छागनलाल शास्त्री, काश्यतीर्थ
एम. ए., पी-एच. डी., विद्यामहोद्धि



प्रकाशक

श्री आगमप्रकाशन समिति, छ्यावर (राजस्थान)

प्रकाशकीय

आभी तक आगम वर्तीली है जबीन यूद्धप्रदी जे नाम अनुपलब्ध सूत्रों के प्रकाशन और पुनर्मुद्रण का कार्य साथ-साथ चलता रहा है। इस समय में अनेक सूत्रों का पुनर्मुद्रण हुआ। अब श्रीपपातिक सूत्र से अनुपलब्ध सूत्रों के पुनर्मुद्रण का कार्य प्रारम्भ हो रहा है।

अंग आगमों में शाचारांगसूत्र प्रथम है, और श्रीपपातिकसूत्र उसका उपांग है। अतएव उपांग के कम में इसे भी प्रथम माना जायेगा। उपांग होते हुए भी इसका एक विशिष्ट स्थान है। इसका पूर्वार्थि कथाप्रधान है, किन्तु तद्दग्ल वर्णन सूल आगमों का पुरक है। उन आगमों में उल्लिखित नगर, वैत्य, बन्धुण्ड, राजा, रानी, अनगार आदि के वर्णन को जानने के लिये 'वर्णनओ' लिखकर इस सूत्र का अतिवेष किया जाता है। अर्थात् इन सबका वर्णन श्रीपपातिक सूत्र के वर्णन के अनुसार कहना चाहिये। यह वर्णन अलंकारों और कोमल कान्त पदावली में इतना समृद्ध है कि पाठक इस वर्णन से यथार्थ की अनुभूति करता है। सारांश यह कि इस सूत्र का अध्ययन किये बिना अन्य कथासूत्रों का अध्ययन अपूर्ण हो रहता है।

उत्तरार्थ के वर्णन में विभिन्न प्रकार की परिचाक्र परम्पराओं का उल्लेख है, जो भारत के विभिन्न मतों-नुसारियों का प्रतिनिधित्व करती हैं। ये भारत के धार्मिक व सांस्कृतिक इतिहास लेखकों एवं अन्वेषकों को पर्याप्त सहायक सिद्ध हुई हैं।

सारांश यह कि श्रीपपातिक सूत्र एक साहित्यिक कृति होने के साथ-साथ विभिन्न धार्मिक शाचार परम्पराओं का इतिहास भी है। प्राचीन भारत की गौरव गाथा का अंकन करने वालों के लिये उपयोगी मार्गदर्शक सहयोगी बन सकता है।

आगमों के प्रकाशन की योजना के कारणों पर महामहिम स्व. युवाचार्य श्री मधुकर मुनिजी म. ने अपने 'आदिवचन' में विस्तृत प्रकाश डाला है। अतः पुनः कारणों का उल्लेख नहीं करते हैं। समिति तो इसी में गौरव-नुभूति करती है कि उनका बोया बीज विषाल बटवृक्ष की तरह विस्तृत होता जा रहा है।

यहां यह भी स्पष्ट कर देना उपयोगी होगा कि समिति द्वारा आगमों के प्रकाशन में अर्थिक लाभ पक्ष गौण है। इसीलिये प्रथम संस्करण के प्रकाशन में लागत से कम मूल्य रखा गया था और उसी नीति के अनुसार द्वितीय संस्करण के ग्रन्थों का मूल्य निर्धारित किया जा रहा है। समिति का उद्देश्य यही है कि सभी ग्रन्थ-भण्डारों एवं पाठकों को ग्रन्थ उपलब्ध हो जायें।

अन्त में अपने सभी सहयोगियों के आभारी हैं कि उनकी प्रेरणायें समिति को आगमों के द्वितीय संस्करण प्रकाशित करने के लिये प्रेरित कर रही हैं।

इति शुभम् ।

**रत्नचन्द्र मोदी
कार्यवाहक अध्यक्ष**

**सायरमल चोरड़िया
महामंत्री**

**अमरचन्द्र मोदी
मंत्री**

श्री आगमप्रकाशन समिति, पीपलिया बाजार, अमृतसर-३०५ १०१

प्रस्तावना

(प्रथम संस्करण से)

ओपपातिकसूत्रः एक समीक्षात्मक अध्ययन

जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम वर्गीकरण समवायांग में प्राप्त है। वहाँ पूर्व और अंग के रूप में विभाग किया गया है। संख्या की दृष्टि से पूर्व चौदह^१ थे और अंग बारह^२ थे।

नन्दीसूत्र में दूसरा आगमों का वर्गीकरण मिलता है। वहाँ सम्पूर्ण आगम साहित्य को अंगप्रविष्ट और अंगवाह्य के रूप में विभक्त किया है।^३

आगमों का तीसरा वर्गीकरण अंग, उपांग, मूल और छेद के रूप में किया गया है। यह वर्गीकरण मभी से उत्तरवर्ती है।

नन्दीसूत्र में आचार्य देवबाचिक ने मूल और छेद में दो विभाग नहीं किये हैं और न उपांग शब्द का प्रयोग ही किया है। उपांग शब्द अद्विचीन है। "उपांग" शब्द का सर्वप्रथम प्रयोग आगमों के लिए किसने किया? यह शोधायियों के लिए अन्वेषणीय है।

आचार्य उमास्वाति ने जो जैनदर्शन के तलसमर्थी मूर्धन्य मनीषी थे, प्रज्ञाचक्षु पं. मुखलालजी संघवी ने जिनका समय विक्रम की प्रथम शताब्दी से चतुर्थ शताब्दी के मध्य माना है^४, तत्त्वार्थभाष्य में अंग के साथ उपांग शब्द का प्रयोग किया है और उपांग में उनका तात्पर्य अंगवाह्य आगम है।^५

१. चतुर्दश पुन्वा पण्णता, तं जहा —

उपाश्रपुञ्चमगोणियं च तद्वर्णं च वीरियं पुञ्चं ।
 अत्थीनत्थिपदाय तस्मै नाणप्पवायं च ॥
 मच्चवणवायपुञ्चं ततो आयणवायपुञ्चं च ।
 कम्मण्डवायपुञ्चं एच्चवस्त्राणं भवे नवमं ॥
 विज्जाम्नाणवायं अवंभपाणाऽ ब्राह्मणं पुञ्चं ।
 ततो किरियविसालं पुञ्चं तह विदुसारं च ॥

—समवायांग, समवाय-१५

२. समवायांग, समवाय १३-६.

३. अहवा तं समासशो दुविहं पण्णते तं जहा —अङ्गप्रविष्टं अङ्गवाहिरं च । —नन्दी, सूत्र ४३

४. तत्त्वार्थसूत्र —पं. मुखलालजी, विवेचन पृ. ९.

५. अन्यथा हि अनिबद्धमंगोपांगशः समुद्रप्रतरणवद् तुरध्यवसेयं स्यात् । —तत्त्वार्थभाष्य १-२०

आचार्य श्रीचन्द्र ने सुखबोधा सभाचारी की रचना की है, जिनका समय ई. १११२ से पूर्व माना जाता है। उन्होंने आगम के स्वाध्याय की नगोविधि का वर्णन करते हुए अंगबाहू के अर्थ में ही उपांग शब्द का प्रयोग किया है।^५

आचार्य जिनप्रभ ने 'विधिमार्गप्रणा' ग्रन्थ की संरचना की। यह ग्रन्थ ई. १३०६ में पूर्ण हुआ। प्रस्तुत ग्रन्थ में आगमों की स्वाध्याय-तप-विधि का वर्णन करते हुए 'इयाणि उवांग' लिखकर जिस अंग का जो उपांग है उसका उल्लेख किया है।^६

जिनप्रभ ने 'वायणाविही' की उल्थानिका में जो वाक्य दिया है, उसमें भी उपांग विभाग का उल्लेख हुआ है।^७

पं. वेचरदासजी दोशी का अभिमत है कि चूणि साहित्य में 'उपांग' शब्द आया है। वह शब्द कहाँ-कहाँ आया है? यह अन्वेषणीय है। (क)।

प्राचीन ऐंडिक परम्परा के ग्रन्थों में भी अंग और उपांग ग्रन्थों की कल्पना की गई है। वेदों के गम्भीर रहस्य को वेदांगों में स्पष्ट किया गया है। शिक्षा, कल्प, व्याकरण, छन्द, निरुक्त और ज्योतिष ये श्वेत अंग हैं और उनकी व्याख्या करने वाले ग्रन्थ उपांग माने गये हैं^८ (ख)। वेदों के चार उपांग माने गये हैं—पुराण, नाय, मीमांसा और धर्मशास्त्र^९ (ग)। नामों वेदों के समकक्ष चार उपवेदों की भी कल्पना की गई है, जो आयुर्वेद, गान्धर्ववेद, धनुष्वेद और अर्द्धशास्त्र के रूप में प्रसिद्ध हैं। वेदों के अंग और उपांग की कल्पना जो है, उसकी सार्थकता समझ में आती है कि उनके बिना याजिक रूप से क्रियान्विति सम्भव नहीं है। अतः उनका अध्ययन आवश्यक माना, पर दार्शनिक दृष्टि से उपवेदों की कल्पना क्यों की गई? यह स्पष्ट नहीं है। जैसे—सामवेद का सम्बन्ध गान्धर्ववेद से जोड़ा जा सकता है, वैसे अन्य वेदों की भी अन्य उपवेदों में संगति बिठाना असम्भव तो नहीं है। पर वह केवल तर्क-कौशल ही है, वाद-नीपुण की परिसीमा में आता है। उपसर्ग के साथ निष्पत्र शब्दों में पूरकता का विशिष्ट गुण होना चाहिए। उसका उसमें अभाव है। उदाहरण के रूप में जैसे—गान्धर्व उपवेद सामवेद से निकला हुआ या उससे विकसित शास्त्र सम्भव है पर वह सामवेद का पूरक कैसे? उसके अभाव में सामवेद अपूर्ण है, यह कैसे कहा जा सकता है? सामवेद और गान्धर्व उपवेदों की तो कुछ संगति बिठाई जा सकती है पर अन्य वेदों के साथ वह सम्भव नहीं है। यदि ऐसा किया भी गया तो वह सीधा समाधान नहीं है। सम्भव

६. सुखबोधासभाचारी पृ. ३१-३४.

७. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग-१. प्रस्तावना — दलसुखभाई मालवणिया, पृ. ३८

८. एवं कर्पतिपाइविहि गुरस्सरं माहू समाणियस्यलजोगविही मूलग्रन्थ नन्दि-प्रणुन्नोगदार-उत्तरजभयण-इसिभा-मिय-अंग-उवांग-पद्मणय-द्वेषग्रन्थश्चागमेवाइज्ञा। — वायणाविहि पृ. ६८ जैन सा. वृ. ५. प्रस्तावना, पृ. ४०-४१

९. (क) जैन साहित्य का वृहद् इतिहास भाग-१. — जैनश्रुत पृ. ३०

१०. (ख) छन्दः पादो तु वेदस्य, हस्तो कल्पोऽथ पठ्यते ।

योतिषाययनं चक्रान्तिरुक्तं श्वोत्रमुच्यते ॥

शिक्षा व्याणं तु वेदस्य, मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

तस्मात् सांगमधीत्येवं, ऋद्युलोके महीयते ॥

११. (ग) पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्रांगमिश्रिताः ।

वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश ॥

— पाणिनीय शिक्षा, ४१-४२

— पाण्डवलक्ष्मी स्मृति; १-३

है धनुर्वेद प्रभृति लौकिक शास्त्रों का मूल उद्गम लोत वेद है, वह बताने के लिए ही यह उपक्रम किया गया हो। अस्तु ।

अंगों का उल्लेख जिस प्रकार प्राचीन आगम ग्रन्थों में हुआ है और उनकी संख्या बारह बताई है, वही बारह उपांगों का उल्लेख नहीं हुआ है। नन्दीमूत्र में भी कालिक और उत्कालिक के रूप में उपांगों का उल्लेख है। पर बारह उपांगों के रूप में नहीं। बारह उपांगों का उल्लेख बारहवीं शताब्दी से पहले के ग्रन्थों में नहीं है।

यह निविवाद है कि अंगों के रचयिता गणधर हैं और उपांगों के रचयिता विभिन्न स्थविर हैं। इसलिए अंग और उपाङ्ग का परस्पर एक दूसरे का कोई सम्बन्ध नहीं है। लषाणि आचार्यों ने प्रत्येक अंग का एक उपांग माना है। आचार्य अभयदेव ने औपपातिक को आचारांग का उपांग माना है। आचार्य मलयगिरि ने राजप्राप्तीय को सूश्रृङ्खलांग का उपांग माना है पर गहराई से अनुचिन्तन करने पर जीवाभिगम और स्थानांग का, सूर्यप्रश्नप्ति और भगवती का, चन्द्रप्रश्नप्ति तथा उपासकदणांग का, विष्णुदसा और दृष्टिवाद का पारस्परिक सम्बन्ध सिद्ध नहीं होता। इस क्रम के पीछे उस युग की क्या परिस्थितियाँ थीं, वह शोधायियों के लिए अन्वेषणीय है। सम्भव है, जब आगम-पुरुष की कमनीय कल्पना की गई, जहाँ उसके अंग स्थानीय आगमों की परिकल्पना और अंग सूत्रों की तत्स्थानिक प्रतिष्ठापना का प्रश्न आया, तब यह यह विभाया गया हो।

श्राद्धुनिक चिन्तकों का यह भी अभिमत है कि औपपातिक का उपांगों में प्रथम स्थान है, वह उचित नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक दृष्टि से प्रजापना का प्रथम स्थान होना चाहिए। कारण यह है कि प्रजापना के रचयिता श्यामाचार्य हैं जो महावीर निर्वाण के तीन सौ ऐतीस में युगप्रधान आचार्य पद पर विभूक्षित हुए थे। इस दृष्टि से प्रजापना प्रथम उपांग होना चाहिए। हमारी दृष्टि से औपपातिक को जो प्रथम स्थान मिला है, वह उसकी कुछ भौतिक विशेषताओं के कारण ही मिला है। इसके सम्बन्ध में हम आगे की पंक्तियों में चिन्तन करेंगे।

यह पूर्ण सत्य है कि आचारांग में जो विषय चर्चित हुए हैं, उन विषयों का विश्लेषण जैसा औपपातिक में चाहिए, बैला नहीं हुआ है। उपांग अंगों के पूरक और यथार्थ संगति बिठाने वाले नहीं हैं, किन्तु स्वतन्त्र विषयों का निरूपण करने वाले हैं। मूर्धन्य मनीषियों के लिए ये सारे प्रश्न चिन्तनीय हैं।

औपपातिक प्रथम उपांग है। अंगों में जो स्थान आचारांग का है, वही स्थान उपांगों में औपपातिक का है। प्रस्तुत आगम के दो अध्याय हैं। प्रथम का नाम समवसरण है और दूसरे का नाम उपपात है। द्वितीय अध्याय में उपपात सम्बन्धी विविध प्रकार के प्रश्न चर्चित हैं। एतदर्थी नवांगी टीकाकार आचार्य अभयदेव ने औपपातिक-वृत्ति में लिखा है—उपपात-जन्म देव और नारकियों के जन्म तथा सिद्धिगमन का वर्णन से प्रस्तुत आगम का नाम औपपातिक है^{१०}।

विन्दुरनितज्ञ ने औपपातिक के स्थान पर उपपादिक शब्द का प्रयोग किया है। पर औपपातिक में जो अर्थ की गम्भीरता है, वह उपपादिक शब्द में नहीं है। प्रस्तुत आगम का प्रारम्भिक अंश गद्यात्मक है और अंतिम अंश पद्यात्मक है। मध्य भाग में गद्य और पद्य का सम्मिश्रण है। किन्तु कुल मिला कर प्रस्तुत सूत्र का अधिकांश भाग गद्यात्मक ही है। इसमें एक और जहाँ राजनीतिक, सामाजिक और नागरिक तथ्यों की चर्चाएँ की हैं, दूसरी और धार्मिक, दार्शनिक एवं सांस्कृतिक तथ्यों का भी सुन्दर प्रतिपादन हुआ है। इस आगम की यह सबसे बड़ी

१०. उपपत्तं उपपातो—देव-नारक-जन्म सिद्धिगमनं च। अतस्तमधिकृत्य कृतमध्ययनमौपपातिकम्।

—मौप. अभयदेव वृत्ति

विशेषता है कि इसमें जो विषय चर्चित किये गये हैं, वे विषय पूर्ण विस्तार के साथ चर्चित हुए हैं। यही कारण है कि भगवती आदि अंग-आगमों में प्रस्तुत सूत्र को देखने का सूचन किया गया, जो इस आगम के वर्णन की मौलिकता सिद्ध करता है। अमण भगवान् महाबीर का आनन्द-शिख समस्त अंगोपांगों का विशद वर्णन इसमें किया गया है, वैसा वर्णन अन्य किसी भी आगम में नहीं है। भगवान् महाबीर की शरीर-सम्पत्ति को जानने के लिए यह आगम एकमात्र आधार है। इसमें भगवान् के समवसरण वा सजीव चित्रण हुआ है। भगवान् महाबीर की उपदेश-विश्वि भी इसमें सुरक्षित है।

अध्या नगरी : एक विशेषण

चम्पा अंगदेश की राजधानी थी। अथर्ववेद में अंग का उल्लेख है।^{११} गोपथ ब्राह्मण में भी अंग और मगध का एक समय उल्लेख हुआ है।^{१२} पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी अंग का नाम अंग, कलिंग और पुण्ड्र आदि के नामों के साथ उल्लिखित है।^{१३} रामायण में अंग शब्द की व्युत्पत्ति करते हुए एक आख्यायिका दी है।^{१४} शिव की कोषामिनि से बचते के लिए कामदेव इस प्रदेश में भागकर आया। अंग का परित्याग कर वह प्रनंग हो गया। इस घटना से प्रस्तुत क्षेत्र का नाम अंग हुआ। जातकों से यह भी परिज्ञात होता है कि तथागत बुद्ध से पूर्व राज्यसत्त्वा के लिए मगध और अंग में प्रसरण संघर्ष होता था।^{१५} बुद्ध के समय अंग मगध का ही एक विभाग था। राजा श्रेणिक अंग और मगध इन दोनों का अधिपति था। त्रिपिटक-साहित्य में अंग और मगध को साथ में रखकर 'अंग-मगध' हन्दू समाज के रूप में प्रयुक्त हुआ है।^{१६} 'चम्पेय जातक' के अनुसार चम्पा नदी अंग और मगध इन दोनों का विभाजन करती थी, जिसके पूर्व और पश्चिम में दोनों जनपद बसे हुए थे। अंग जनपद की पूर्वी सीमा राजप्रासादों की पहाड़ियाँ, उत्तरी सीमा कोसी नदी, दक्षिण में उसका समुद्र तक विस्तार था। पाजिटर ने पूर्णिया जिले के पश्चिमी भाग को अंग जनपद के अन्तर्गत गाना है।^{१७} महाभारत के अनुसार अंग नामक राजा के नाम पर जनपद का नाम अंग पड़ा।

कनिधम ने लिखा है—‘भागलपुर से ठीक चौबीस मील पर पश्चर घाट है। इसके आस-पास चम्पा की अवस्थिति होनी चाहिए। इसके पास ही पश्चिम की ओर एक बड़ा गाँव है, जिसे चम्पानगर कहते हैं और एक छोटा सा गाँव है, जिसे चम्पापुर कहते हैं, सम्भव है, ये दोनों गाँव प्राचीन राजधानी ‘चम्पा’ की सही स्थिति को प्रकट करते हैं।’^{१८}

फाहियान ने चम्पा को पाटलीपुत्र से अठारह योजन पूर्व दिशा में गंगा के दक्षिणी तट पर अवस्थित

११. अथर्ववेद—५-२२-१४.

१२. गोपथ ब्राह्मण—२-९.

१३. अष्टाध्यायी—४-१-१७०

१४. रामायण—४७-१४

१५. जातक, पालिटैक्स्ट-सोसायटी, जिल्द-४, पृ. ४५४, जिल्द इक्वी पृ. ३१६, जिल्द छठी पृ. २७१.

१६. (क) दीवनिकाय-३।५.

(ख) मजिस्ट्रमनिकाय-२।३।७

(ग) वेरीगाथा-बम्बई विश्वविद्यालय संस्करण, गाथा ११०

१७. जर्मल आँव एशियाटिक सोसायटी आँव बंगल, सन् १८९७ पृ. १५

१८. दी एन्शियण्ट ज्योग्याकी आफ इण्डिया, पृ. ५४६-५४७

माना है।^{१६} महाभारत की दृष्टि से चम्पा का प्राचीन नाम 'मालिनी' था। महाराज चम्पा ने इसका नाम चम्पा रखा। चम्पा के 'चम्पावती', 'चम्पापुरी', 'चम्पानगर' और 'चम्पामालिनी' आदि नाम प्राप्त होते हैं।^{१७} दीघनिकाय के अनुसार इस महानगरी का निर्माण महागोविन्द ने किया था।^{१८} चम्पक वृक्षों का बहुल्म होने के कारण इस नगरी का नाम चम्पा पड़ा हो।

दीघनिकाय के अनुसार चम्पा एक विशालनगरी थी।^{१९} जातकों में आवे हुए वर्णन से यह स्पष्ट है कि चम्पा के चारों ओर एक सुन्दर खाई थी और बहुत सुदृढ़ प्राचीर था।^{२०} पालि ग्रन्थों के अनुसार चम्पा में "गग्नरापोखरणी" नामक एक कासार था, जिसका निर्माण गामग्रा नामक महाराजी ने करवाया था। प्रस्तुत कासार के तट पर चम्पक वृक्षों का एक बहुत ही सुन्दर गुलम था, जिसके कारण सशिकट का प्रदेश अत्यन्त सौरभ-युक्त था। तथागत बुद्ध जब भी चम्पा में आते थे, वे गग्नरापोखरणी के तट पर ही रुकते थे।^{२१} इस महानगरी की रमणीयता के कारण ही आनन्द ने गीतम बुद्ध के महापरिनिवारण के उपयुक्त स्थानों में इस नगरी की परिकल्पना की थी। तथागत बुद्ध के जीवन से सम्बन्धित होने के कारण बौद्धयात्री समय-समय पर इसी नगरी के अवलोकनार्थ आये। चीनी यात्री फाहियान ने चम्पा का वर्णन करते हुए लिखा है, चम्पा नगर पाटलीपुत्र से अठारह योजन की दूरी पर स्थित था। उसके अनुसार चम्पा गंगा नदी के दक्षिण तट पर बसा हुआ था। चीनी यात्रियों के समय चम्पा नगरी का हास प्रारम्भ हो गया था। उसने वहाँ पर स्थित विहारों का उल्लेख किया है।^{२२} द्वात्तचार्य भारतीय सांस्कृतिक कल्पों वा निरीक्षण वरता हुया इसमें इहुँचा है। इह इरण पर्वत से तीन सौ ली [पचास मील] की दूरी समाप्त कर चम्पा पहुँचा था। उसके अधिगतानुसार चम्पा देश की परिधि चार सौ "ली"। [सत्तर मील] वी और नगर की परिधि चालीस ली [सात मील] वह भी चम्पा को गंगा के दक्षिण तट पर अवस्थित मानता है। इसके आगमन के समय यह नगरी बहुत कुछ विनष्ट हो चुकी थी।

१९. स्थानांग में जिन दश महानगरियों का उल्लेख है, उनमें चम्पा भी एक है। यह राजधानी थी। बारहवें तीर्थकर वासुपूज्य की यह अन्मशूभ्रि थी। आचार्य शश्यभव ने दशवैकालिक सूत्र की रचना इस नगरी में की थी। 'विविध तीर्थ कल्प' के अनुसार सम्भाट् श्रेणिक के निघन के पश्चात् सभाट् कूणिक को राजगृह में रहना अच्छा न लगा। एक स्थान पर चम्पा के सुन्दर उद्घाट को देखकर चम्पानगर बसाया।^{२३}

१९. ट्रैबेल्स बॉफ फाहियान, पृ. ६५

२०. ला. बी. सी., इण्डोलॉजिकल स्टडीज, पृ. ४९

२१. "दन्तपुरं कलिञ्चनमस्सकानाच्च पौत्रनम् ।
माहिस्ती अवन्तीनम् सोवीराज्च रोहकम् ॥
मिथला च विदेहानम् चम्पा अङ्गेरु मापिता ।
वाराणसी च कासीनम् एते गोविन्द-मापितेती ॥

—दीघनिकाय, १९, ३६ !

२२. दीघनिकाय-२-१४६

२३. जातक-४।४५४

२४. मललसेकर-२।७२४

२५. लेखे, फाहियान-१००

२६. विविध तीर्थ कल्प,—पृ. ६५

धीकल्याणविजय गणि के अभिमतानुसार चम्पा पटना से पूर्व [कुछ इक्षिण में] लगभग सौ कोश पर थी, जिसे आज चम्पकमाला कहते हैं। यह स्थान भगलपुर से तीन मील दूर पश्चिम में है।^{२७}

चम्पा उस युग में व्यापार का प्रमुख केन्द्र था, जहाँ पर माल लेते के लिए दूर-दूर से व्यापारी आते थे। चम्पा के व्यापारी भी माल लेकर के मिथिला, अहिङ्काश और पिहुण्ड [चिकाकोट और कलिंगपट्टम का एक प्रदेश] आदि में व्यापारार्थ जाते थे।^{२८} चम्पा और मिथिला में साठ योजन का अन्तर था।

मजिभमनिकाय के अनुसार पूर्ण कस्तुप, मक्खलिंगोसाल, अजितकेसकम्बलिन, पकुधकच्चायन, सञ्जय बेलडिपुत्र तथा मिगम्यनाथपुत्र का वहाँ पर विचरण होता था।^{२९} जैन इतिहास के अनुसार भगवान् महावीर अनेक बार चम्पा नगरी में पदारे थे और उन्होंने ५६७ ई. पूर्व में तीसरा, ५५८ ई. पूर्व में बाहरवां और सन् ६१६ पूर्व ५४४ में छब्बीसवां वर्षावास चम्पानगरी में किया था।^{३०} भगवान् महावीर चम्पा के उत्तर-पूर्व में स्थित पूर्णभद्र नामक चैत्य में विराजते थे।

प्रस्तुत आगम में चम्पा का विस्तृत वर्णन है। वह वर्णन परवर्ती साहित्यकारों के लिए मूल आधार रहा है। प्राचीन कस्तुकला की दृष्टि से इस वर्णन का अनूठा महत्व है। प्राचीन युग में नगरों का निर्माण किस प्रकार होता था, यह इस वर्णन से स्पष्ट है। नगर की धोमा केवल गणनचुम्बी प्रासादों से ही नहीं होती, किन्तु सधन वृक्षों से होती है और वे बृक्ष लहलहाते हैं पानी की सरसब्जता से। इसलिए नगर के साथ ही पूर्णभद्र चैत्य का उल्लेख हुआ है। बनखण्ड में विविध प्रकार के बृक्ष थे, लताएं भी और नाना प्रकार के पक्षियों का मधुर कलरव था।

सम्राट् कूणिक : एक चिन्तन

चर्चा पा. अधियति कूणिक संज्ञान ५। कूणिक का उत्तर आगम में विस्तार से विरूपण है। वह भगवान् महावीर का परम भक्त था। उसकी भक्ति का जीता-जागता चित्र इसमें चित्रित है। उसी तरह कूणिक अजातशत्रु को बौद्ध परम्परा में भी बुद्ध का परम भक्त भाना है। सामन्बालसुत्त के अनुसार तथागत बुद्ध के प्रथम दर्शन में ही वह बौद्ध धर्म को स्वीकार करता है।^{३१} बुद्ध की अस्थियों पर स्तूप बनाने के लिए जब बुद्ध के भग्नावशेष बट्टे जाने लगे, तब अजातशत्रु ने कुशीनगर के मल्लों को कहलाया कि बुद्ध भी क्षत्रिय थे, मैं भी क्षत्रिय हूँ, अतः अवशेषों का एक भाग मुझे मिलना चाहिए। द्वोण विप्र की सलाह से उसे एक अस्थिभाग मिला और उसने उस पर एक स्तूप बनवाया।^{३२}

यह सहज ही जिज्ञासा हो सकती है कि अजातशत्रु कूणिक जैन था या बौद्ध था? उत्तर में निवेदन है

२७. अमण भगवान् महावीर, पृ. ३६९

२८. (क) शात्रूधर्मकथा, ८, पृ. १७, ९, पृ. १२१-१५, पृ. १५९

(ख) उत्तराध्ययन-२१।२

२९. मजिभमनिकाय, २।२

३०. भगवान् महावीर का एक अनुशीलन — परिशिष्ट-१-२ देवेन्द्रमुनि

३१. एसाहं भन्ते, भगवन्तं शरणं गच्छामि धर्मं च भिक्खुसंघं च। उपासकं भं भगवा धारेतु अज्जतग्ने पाण्पेतं सरणं गतं। — सामन्बालसुत्त

३२. बुद्धचर्चा, पृ. ५०९

कि प्रस्तुत आगम में जो वर्णन है, उसके सामने सामृज्यफलसुत्त का वर्णन शिथिल है, उतना महत्वपूर्ण नहीं है। सामृज्यफलसुत्त में केवल इतना ही वर्णन है कि आज से भगवान् मुझे अंजलिबद्ध शरणागत उपासक समझे पर प्रस्तुत आगम में अमण भगवान् महाबीर के प्रति अनन्द भक्ति कूणिक की प्रदर्शित की गई है। उसने एक प्रवृत्ति-बादुक (संवाददाता) व्यक्ति की नियुक्ति की थी। उसका कार्य था भगवान् महाबीर की प्रतिदिन की प्रवृत्ति से उसे अवगत कराते रहना। उसकी सहायता के लिए अनेक कर्मकर नियुक्त थे, उनके माध्यम से भगवान् महाबीर के प्रतिदिन के समाचार उस प्रवृत्ति-बादुक को मिलते और वह राजा कूणिक को बताता था। उसे कूणिक विपुल अर्थदान देता था। प्रवृत्ति-बादुक हारा समाचार जात होने पर भक्ति-भावना से विभोर होकर अधिवन्दन करना, उपदेश श्रवण के लिए जाना और निर्धन्य धर्म पर अपनी अनन्द अद्भुत व्यक्त करना। इस वर्णन के सामने तथागत बुद्ध के प्रति जो उसकी अद्भुत है, वह केवल श्रीपञ्चारिक है।*

अजातशत्रु कूणिक का बुद्ध से साक्षात्कार केवल एक बार होता है, पर महाबीर से उसका साक्षात्कार अनेक बार होता है।^{३३} भगवान् महाबीर के परिनिर्वाण के पश्चात् भी महाबीर के उत्तराधिकारी गणधर सुघर्मा की धर्म-सभा में भी वह उपस्थित होता है।^{३४}

डा. स्मिथ का मत्तव्य है—बौद्ध और जैन दोनों ही अजातशत्रु को अपना-अपना अनुयायी होने का दावा करते हैं, पर लगता है जैनों का दावा अधिक आधारयुक्त है।^{३५}

डॉ. राधाकुमार मुखर्जी ने लिखा है—महाबीर और बुद्ध की वर्तमानता में तो अजातशत्रु महाबीर का ही अनुयायी था।^{३६} उन्होंने आगे चलकर यह भी लिखा है, जैसा प्रायः देखा जाता है, जैन अजातशत्रु और चदाईभद्र दोनों को अच्छे चरित्र का बतलाते हैं। वयोंकि दोनों जैनधर्म के मानने वाले थे। यही कारण है कि बौद्ध चन्द्रों में उनके चरित्र पर कालिख पोती गई है।^{३७}

अजातशत्रु बुद्ध का अनुयायी नहीं था, इसके भी अनेक कारण हैं—

१. अजातशत्रु की देवदत्त के साथ मित्रता थी, जबकि देवदत्त बुद्ध का विरोधी शिष्य था।

२. अजातशत्रु की वजियों के साथ शानुता थी, वज्जी लोग बुद्ध के परम भक्तों में थे।

३. अजातशत्रु ने प्रसेनजित् के साथ युद्ध किया, जबकि प्रसेनजित् बुद्ध का परम भक्त और अनुयायी था।

तथागत बुद्ध की अजातशत्रु के प्रति सद्भावना नहीं थी। उन्होंने अजातशत्रु के सम्बन्ध से अपने भिक्षुओं को कहा—इस राजा का संस्कार अच्छा नहीं है। यह राजा अभागा है। यदि यह राजा अपनेधर्मराज-पिता की हत्या न करता तो आज इसी आसन पर बैठे-बैठे इसे नीरज-निर्मल धर्म-बक्षु उत्पन्न हो जाता।^{३८} देवदत्त के

* आगम और विप्रिटिक : एक अनुशीलन, पृ. ३३३

३३. स्थानांगवृत्ति, स्था. ४, उ. ३

३४. (क) ज्ञाताधर्मकथांगसुत्र, सू. १-५

(ख) परिशिष्ट पर्व, सर्ग ४, फ्लो. १५-५४

35. Both Buddhists and Jains claimed his one of Themselves. The Jain claim appears to be well founded—Oxford History of India by V. A. Smith, Second Edition Oxford 1923, P. 51

३६. हिन्दू सम्प्रता, पृ. १९०-१

३७. हिन्दू सम्प्रता, पृ. २६४

३८. दीघनिकाय सामृज्यफलसुत्त, पृ. ३२

प्रसंग को लेकर बुद्ध ने कहा—भिक्षुओ ! मगधराज अजातशत्रु, जो भी पापी है, उनके मित्र हैं। उनसे प्रेम करते हैं और उनसे संसर्ग रखते हैं।^{३६}

जातकथटुकथा के अनुसार तथागत बुद्ध एक बार विम्बिसार को धर्मोपदेश कर रहे थे। चालक अजातशत्रु को विम्बिसार ने गोद में बिठा रखा था और वह क्रीड़ा कर रहा था। विम्बिसार का ध्यान तथागत बुद्ध के उपदेश में न लगकर अजातशत्रु की ओर लगा हुआ था, इसलिए बुद्ध ने उसका ध्यान अपनी ओर आकर्षित करते हुए एक कथा कही, जिसका रहस्य था कि युप इसके भोह में युध हो पर नहीं अजातशत्रु बरत तुल्हारा घातक होगा।^{३७}

अबदानशतक के अनुसार विम्बिसार ने बुद्ध की वत्सान अवस्था में ही बुद्ध के नष्ट धीर केशों पर एक स्तूप अपने राजमहल में बनवाया था। राजरानियाँ धूप-दीप और पुष्पों से उसकी अर्चना करती थीं। जब अजातशत्रु राजसिंहासन पर आसीन हुआ, उसने सारी अर्चना बन्द करवा दी। श्रीमती नामक एक महिला ने उसकी आज्ञा की अवहेलना कर पूजा की, जिस कारण उसे मृत्युदण्ड दिया गया।^{३८}

बौद्धसाहित्य के जाने माने विद्वान् राहस डेविड्स लिखते हैं—वार्तालाप के अन्त में अजातशत्रु ने बुद्ध को स्पष्ट रूप से अपना मार्गदर्शक स्वीकार किया और पितृ-हत्या का पश्चात्ताप भी व्यक्त किया। पर यह असंदिग्ध है कि उसने धर्म-परिवर्तन नहीं किया। इस सम्बन्ध में एक भी प्रमाण नहीं है। इस हृदयसर्णी प्रसंग के बाद वह तथागत बुद्ध की मान्यताओं का अनुसरण करता रहा हो, यह संभव नहीं है। जहाँ तक मैं जान पाया हूँ, उसके पश्चात् उसने बुद्ध के अथवा बौद्ध संघ के अन्य किसी भी भिक्षु के न कभी दर्शन किये और न उनके साथ धर्मचर्यावैदिकी और न उसने बुद्ध के जीवन-काल में भिक्षु-संघ को कभी अधिक सहयोग भी किया। इतना तो अवश्य मिलता है कि बुद्ध निर्बाण के बाद उसने बुद्ध की अस्तियों की मांग की पर वह भी यह कह कर कि मैं भी बुद्ध की तरह क्षत्रिय हूँ। और उन अस्तियों पर बाद में एक स्तूप बनवाया। इसी बात उत्तरवर्ती ग्रन्थों में यह भी मिलती है कि बुद्ध-निर्बाण के पश्चात् राजगृह में प्रथम संगति हुई, तब अजातशत्रु ने सप्तपर्णी गुफा के द्वार पर एक सभाभवन बनवाया था, जहाँ बौद्धपिटकों का संकलन हुआ। परन्तु इस बात का बौद्धधर्म के प्राचीनतम और मौलिक ग्रन्थों में किंचिन्-मात्र भी न तो उल्लेख है और न संकेत ही है। यह सम्भव है कि उसमें बौद्धधर्म को बिना स्वीकार किये ही उसके प्रति सहानुभूति व्यक्त की हो। यह तो सब उसने केवल भारतीय राजाओं की उस प्राचीन परम्परा के अनुसार किया हो। सभी धर्मों का संरक्षण करना राजा अपना कर्तव्य मानता था।^{३९}

धन्मपद अट्टुकथा में कुछ ऐसे प्रसंग दिये गये हैं। जो अजातशत्रु कूणिक की बुद्ध के प्रति दृढ़ अद्वा व्यक्त करते हैं पर उन प्रसंगों को अरघुनिक मूर्धन्य मनीषीण किंवद्नती से रूप में स्वीकार करते हैं।^{४०} उसका अधिक मूल्य नहीं है। कुछ ऐसे प्रसंग भी अबदानशतक आदि में आये हैं, जिससे अजातशत्रु की बुद्ध के प्रति विद्वेश

३६. विनयपिटक, चूल्लबग्न संगभेदक खंडक-७

३७. जातकअट्टुकथा, युस जातक सम्प. ३३८

३८. अबदानशतक, ५४.

३९. Buddhist India, PP. 15, 16.

४०. धन्मपद अट्टुकथा-१००७; खण्ड-२; ६०५-६०६

भावना व्यक्त होती है।^{४४} लगता है, ये दोनों प्रकार के प्रशंग कुछ अति मात्रा को लिये हुए हैं। उनमें लटस्थिता का अभाव नहीं।

सारांश यह है, अजातशत्रु कूणिक के अन्तर्मनिस पर उसकी माता चेलना के संस्कारों का असर था। चेलना के प्रति उसके मानस में गहरी निष्ठा थी। चेलना ने ही कूणिक को यह बताया था कि तेरे पिता राजा श्रेणिक का तेरे प्रति कितना स्नेह था? उन्होंने तेरे लिए कितने कष्ट सहन किये थे! आवश्यकचूणि,^{४५} त्रिष्टिशलाकापुरुषचरित्र^{४६} प्रभृति जैन ग्रन्थों में उसका अपर नाम 'अशोकचन्द्र' भी मिलता है चेलना भगवान् महावीर के प्रति अत्यन्त निष्ठवान् थी। चेलना के पूज्य पिता राजा 'चेटक' महावीर के परम उपासक थे।^{४७} इसलिए अजातशत्रु कूणिक जैन था। यह पूर्ण रूप से स्पष्ट है।

कूणिक की राजियों में पद्मावती,^{४८} धारिणी^{४९} और सुभद्रा^{५०} प्रमुख थीं। आवश्यकचूणि^{५१} में आठ कन्याओं के साथ उसके विवाह का वर्णन है पर वहाँ आठों कन्याओं के नाम नहीं हैं। महारानी पद्मावती का पुत्र उदायी था, वह मगध के राजसिंहासन पर आसीन हुआ था। उसने चम्पा से अपनी राजधानी हटा कर पाटलीपुत्र में स्थापित की थी।^{५२}

भगवान् महावीर

जैन इतिहास में भगवान् महावीर के भक्त अनेक समाजों का उल्लेख है, जो महावीर के प्रति अनन्य श्रद्धा रखते थे। आठ राजाओं के दो भगवान् महावीर के पास आई हैं और भी स्वीकार की थी। किन्तु कूणिक एक ऐसा समाज था, जो प्रतिदिन महावीर के समाचार प्राप्त करता था और उसके लिए उसने एक पृथक् व्यवस्था कर रखी थी। दूसरे समाजों में यह विशेषता नहीं थी। इन सभी से यह सिद्ध है कि राजा कूणिक की महावीर के प्रति अपूर्व भक्ति थी।

भगवान् महावीर अपने शिष्य-समुदाय के साथ चम्पा नगरी में पधारते हैं। उनके तेजस्वी शिष्य कितने ही श्रारक्षक-दल के अधिकारी थे तो कितने ही राजा के मंत्री-मण्डल के सदस्य थे, कितने ही राजा के परामर्श-मण्डल के सदस्य थे। सैनिक थे, सेनापति थे। यह वर्णन यह सिद्ध करता है कि बुझकृत नहीं किन्तु मुमुक्षु श्रमण बनता है। जिस साधक में जितनी अधिक वैराग्य-भावना सुदूर होती है, वह उतना ही माधवना के पथ पर आगे बढ़ता है। "नारि मुई घर सम्पति नासी, सूड मुङ्डाय भये सन्यासी" यह फथन प्रस्तुत आगम को पढ़ने से खण्डित होता है। महावीर के शासन में ऐरे-ऐरे व्यक्तियों की भीड़ नहीं थी पर ऐसे तेजस्वी और वर्चस्वी व्यक्तियों का साम्नार्य था, जो स्वयं साधना के सच्चे पथिक थे। वे ज्ञानी भी थे, ज्ञानी भी थे, लब्धिधारी भी थे और विविध शक्तियों के धनी भी थे।

४४. अवदानतक-५४

४५. आवश्यकचूणि उत्तराधि

४६. त्रिष्टिशलाकापुरुष चरित्र

४७. आवश्यकचूणि उत्तराधि पत्र-१६४

४८. तस्स एं कूणियस्स रण्णो पउमावहि नामं देवी होत्था। —निरयावली, सूत्र-८.

४९. उववाहि सूत्र १२.

५०. औपपातिक सूत्र-५५.

५१. कूणियस्स अद्वृहि रायवरक्षाहि समं विवाहो कतो। —आव. चूणि उत्त. पत्र-१६७.

५२. आवश्यक चूणि —पत्र-१७७.

भगवान् महावीर के चित्ताकर्षक व्यक्तित्व को विविध उपमाओं से मणित कर हृष्ट शब्द चित्र उपस्थित किया है, विराट् उत्तित्व के धनी का व्यक्तित्व यदि अद्भुत नहीं है, तो जन-मानस पर उसका प्रभाव नहीं पड़ सकता। यही कारण है कि विश्व के सभी चित्तकों ने अपने महापुरुष को सामान्य व्यक्तियों से पुथक् रूप में विशिष्ट रूप से चिह्नित किया है। तीर्थकर विश्व में सबसे महान् अनुपम शारीरिक-बैभव से विभूषित होते हैं। उनके शरीर में एक हजार आठ प्रशस्त लक्षण बताये गए हैं। डा. विमलचरण लाँ ने लिखा है—बौद्ध साहित्य बुद्ध के शरीरगत लक्षणों की संख्या बाईस बताते हैं, वहाँ औपपातिक सूत्र में महावीर के शरीरगत लक्षणों की संख्या आठ हजार बताई है।^{५३} डा. विमलचरण लाँ को यहाँ पर संख्या के सम्बन्ध में आन्ति हुई है। प्रस्तुत आगम में “अद्वित्यहस्त” यह पाठ है और टीकाकार ने ‘अष्टोत्तर सहस्रम्’ लिखा है।^{५४} जिसका अर्थ एक हजार आठ है। तीर्थकर जैन दृष्टि से एक विलक्षण व्यक्तित्व के धनी होते हैं, सामान्य व्यक्ति में एकाध युभ लक्षण होता है। उससे बढ़ कर व्यक्ति में बत्तीस लक्षण पाये जाते हैं। उससे भी उत्तम व्यक्ति में एक सौ आठ लक्षण होते हैं। लौकिक सम्पदा के उत्कृष्ट धनी चक्रवर्ती में एक हजार आठ लक्षण होते हैं परन्तु कुछ अस्पष्ट होते हैं, जबकि तीर्थकर में वे पूर्ण स्पष्ट होते हैं। लाँ ने बुद्ध के बाईस लक्षण कैसे कहे हैं? यह चिन्तनीय है।

तपः एक विश्लेषण

औपपातिक में श्रमणों के तप का सजीव चित्रण हुआ है। तप साधना का गोज है तेज है और शक्ति है। तपःशून्य साधना निष्पाण है। साधना का भव्य प्रासाद तप की गुदृढ़ नींव पर आधारित है। साधना-प्रणाली, चाहे वह पूर्व में विकसित हुई हो अथवा पश्चिम में कली और फूली हो, उराके अन्तस्तल में तप किसी रूप में रहा हुआ है। तप में त्याग की भावना प्रमुख होती है और उसी से प्रेरित होकर साधक प्रथास करता है।

भारतीय सांस्कृतिक जीव का हम अध्ययन करें तो यह सूर्य के प्रकाश की भौति स्पष्ट हुए बिना नहीं रहेगा कि चाहे भगवान् महावीर की अध्यात्मवादी विचार-धारा रही हो या भौतिकवादी अजितकेसकम्बलि या नियतिवादी गोप्यालक की विचार-धारा रही हो, सभी में तप के स्वर भूङ्गत हुए हैं किन्तु साधना-पद्धतियों में तप के लक्ष्य और स्वरूप के सम्बन्ध में कुछ विचारभेद अवश्य रहा है। श्री भरतसिंह उपाध्याय का यह अभिमत है कि जो कुछ भी शाश्वत है, जो कुछ भी उदात्त और महत्वपूर्ण है, वह सब तपस्या से ही संभूत है।^{५५} प्रत्येक साधनाप्रणाली चाहे यह अध्यात्मिक हो, चाहे भौतिक हो, सभी तपस्या की भावना से अनुप्राणित है।^{५६}

तप के सम्बन्ध में अनुचिन्तन करते हुए सुप्रसिद्ध गांधीवादी विचारक काका कालेलकर ने लिखा है—“बुद्ध-कालीन मिथुओं की तपस्या के परिणामस्वरूप ही अशोक के साम्राज्य का और मौर्यकालीन संस्कृति का विस्तार हो पाया। शंकराचार्य की तपश्चर्या से हिन्दू धर्म का संस्करण हुआ। महावीर की तपस्या से अहिंसा धर्म का प्रचार हुआ और चैतन्य महाप्रभु, जो मुखशुद्धि के हेतु एक हर्त भी मुँह में नहीं रखते थे, उनके तप से बंगाल में वैष्णव संस्कृति विकसित हुई।^{५७} और महात्मा गांधी के फलस्वरूप ही भारत सर्वतंत्र स्वतन्त्र हुआ है।

भगवान् महावीर स्वयं उश तपस्वी थे। अतः उनका जिष्यवर्ग तप से कैसे अछूता रह सकता था? वह भी उश तपस्वी था। जैन तप-विधि की यह विशेषता रही है कि वह आत्म-परिशोधन-प्रधान है। देहवण्ड

५३. औपपातिकसूत्र, पृ. १२. अद्वित्यहस्तवरपुरिसलवद्वाणधरे।

५४. Some Jaina Canonical Sutras, P. 73.

५५. बौद्धदर्शन और अन्य भारतीय दर्शन प्र. सं. पृ. ७१-७२

५६. जीवन साहित्य-द्वितीय भाग पृ. ११७-११८.

किया नहीं जाता, वह सहज होता है। जैसे—स्वर्ण की विशुद्धि के लिए उसमें रहे हुए विकृत तत्वों को तपाते हैं पात्र को नहीं, वैसे ही आत्मशुद्धि के लिए आत्म-विकारों को तपाया जाता है न कि शरीर को। शरीर तो आत्मा का साधन है, इसलिए वह तप जाता है, तपाया नहीं जाता। तप में पीड़ा हो सकती है, किन्तु पीड़ा की अनुभूति नहीं होनी चाहिए। पीड़ा शरीर से सम्बन्धित है और अनुभूति आत्मा से। अतः तप करता हुआ भी साधक दुखी न होयगा आहूदित होता है।

आधुनिक युग के सुप्रसिद्ध मनोविष्लेषक फ्रायड ने 'दमन' की कटु आलोचना की है। उसने दमन को सम्य समाज का सबसे बड़ा अधिष्ठाप कहा है। उसका अभिमत है कि सभ्य संसार में जितनी भी विकृतियाँ हैं, मानसिक और शारीरिक बीमारियाँ हैं, जितनी हत्थायें और आत्महत्यायें होती हैं, जिसे लोग पागल और पाखण्डी बताते हैं, उसमें मुख्य कारण इच्छाओं का दमन है। इच्छाओं के दमन से अनतर्दृढ़ पैदा होता है, जिससे मानव रुग्ण, विकिप्त और छष्ट बन जाता है। इसलिए फ्रायड ने दमन का निषेध किया है। उसने उन्मुक्त भोग का उपाय बताया है। पर उसका मिदान्त भारतीय आचार में स्वीकृत नहीं है। वह तो उस दबा के समान है जो सामान्य रोग को मिटाकर भयंकर रोग पैदा करती है। यह सत्य है कि इच्छाओं का दमन हानिकारक है पर सबसे कहीं अधिक हानिकारक और घातक है उन्मुक्त भोग ! उन्मुक्त भोग का परिणाम अमेरिका आदि में बहती हुई विकिप्तता और आत्महत्याओं के रूप में देखा जा सकता है।

भारतीय आचार पठतियों में इच्छाओं की मुक्ति के लिए दमन के स्थान पर विराग की आवश्यकता बताई है। विषयों के प्रति जितना राग होगा उतनी ही इच्छाएं प्रबल होंगी ! अन्तर्मानस में उदाम इच्छाएं पनप रही हों और फिर उसका दमन किया जाय तो हानि की संभावना है पर इच्छाएं निर्मूल समाप्त हो जायें तो दमन का प्रश्न ही कहाँ ? और फिर उससे उत्पन्न होने वाली हानि को अवकाश कहाँ है ? फ्रायड विशुद्ध श्रौतिकवादी या देहमनोवादी थे। वे मानव को मूल प्रवृत्तियों और संवेगों का केवल पुतला मानते थे। उनके मन और मस्तिष्क में आध्यात्मिक उच्च स्वरूप की कल्पना नहीं थी, अतः वे यह स्वीकार नहीं कर सकते थे कि इच्छायें कभी समाप्त भी हो सकती हैं। उनका यह अभिमत था—मानव सागर में प्रतिपल प्रतिक्षण इच्छायें समुत्पन्न होती हैं और उन इच्छाओं की तृप्ति आवश्यक है। पर भारतीय तत्त्वचिन्तकों ने घृह उद्धोषण की कि इच्छायें आत्मा का स्वरूप नहीं, विकृति स्वरूप हैं। वह मोहजनित हैं। इसलिए विराग से उन्हें नष्ट करना—निर्मूल बना देना सुख-शान्ति की प्राप्ति के लिए हितकर है। ऐसा करने से ही मच्ची—स्वाभाविक जांति उत्पन्न हो सकती है।

जैन आखारशास्त्र में दमन का भी यत्र-तत्र विधान हुआ है। "देहदुक्खं महाफलं" के स्वर भक्त दुए हैं। संयम, संधर और निर्जरा का विधान है। वहाँ 'शम' और 'दम' दोनों आये हैं। शम का सम्बन्ध विषय-विराग से है और दम का सम्बन्ध इन्द्रिय-निग्रह से है। दूसरे शब्दों में शम और दम के स्थान पर मनोविजय और इन्द्रिय-विजय अथवा कषाय-विजय और इन्द्रिय-विजय शब्द भी व्यवहृत हुए हैं। स्वामी कुमार ने कात्तिके-यानुप्रेशा^{५७} में "मण-इंदियाण विजई" और "इंदिय-कसायविजई" शब्दों का प्रयोग किया है। जिसका अर्थ है, मनोविजय और इन्द्रियनिग्रह अथवा 'कषायविजय' और 'इन्द्रियनिग्रह' निर्जरा के लिए आवश्यक है। दमन का विधान इन्द्रियों के लिए है और मनोगत विषय-वासना के लिए शम और विरक्ति पर बल दिया है। जब मन विषय-विरक्त हो जायेगा तो इच्छाएं स्वतः समाप्त हो जायेंगी। विषय के प्रति जो अनुरक्ति है,

५७. कात्तिके-यानुप्रेशा-गाथा, ११२-११४

वह ज्ञान से नष्ट होती है और इन्द्रियों, जो स्नायुविक हैं, उन्हें प्रभ्यास से बदलना चाहिए। यदि वे निकारों में प्रवृत्त होती हों तो वेराग्यभावना से उनका निरोध करना चाहिए। दमन शब्द खतरनाक नहीं है। व्यसनजन्य इच्छाओं से मुक्ति पाने के लिए इन्द्रिय-दमन आवश्यक है। इन्द्रिय-दमन का अर्थ इन्द्रियों को नष्ट करना नहीं अपितु दूड़ संकल्प से इन्द्रियों की विषय-प्रवृत्ति को रोकना है। यह आत्मपरिणाम दृढ़ संकल्प रूप होता है। व्यसनजन्य इच्छाओं का दमन हानिकारक नहीं किन्तु स्वस्थता के लिए आवश्यक है। इच्छाएँ प्राकृतिक नहीं, अप्राकृतिक हैं। यह दमन प्रकृतिविरुद्ध नहीं किन्तु प्रकृतिसंगत है। इन्द्रियों की खतरनाक प्रवृत्ति को रोकना इन्द्रियानुशासन है और यह जैन दृष्टि से तप का सही उद्देश्य है। इसीलिए जैन दृष्टि से आगम-साहित्य में बाह्य और आभ्यन्तर तप का उल्लेख किया है। आभ्यन्तर तप के बिना बाह्य तप कभी-कभी तप बन जाता है। जैनदर्शन के तप की यह अपूर्व विशेषता प्रस्तुत आगम में विस्तार के साथ प्रतिपादित की गई है।

वैदिक साधना पद्धति के सम्बन्ध में यदि हम चिन्तन करें तो यह स्पष्ट होगा, वह प्रारम्भ में तप-प्रधान नहीं थी। श्रमण संस्कृति के प्रभाव से प्रभावित होकर उसमें भी तप के स्वर मुख्यरित हुए और वैदिक ऋषियों की हृतशिर्यों भंडूत हुईं। तप से ही वेद उत्पन्न हुए हैं।^{५८} तप से ही ऋत और सत्य समृद्धिन हुए हैं।^{५९} तप से ही ब्रह्म को खोजा जाता है।^{६०} तप से ही मृत्यु पर विजय-वेजयन्ती फहरा कर ब्रह्मलोक प्राप्त किया जाता है।^{६१} जो कुछ भी दुर्लभ और दुष्कर है, वह सभी तप से साध्य है।^{६२} तप की शक्ति दुरतिक्षम है। तप का लक्ष्य आत्मा या ब्रह्म की उपलब्धि है। तप से ब्रह्म की अन्वेषणा की जा सकती है।^{६३} तप से ही ब्रह्म को जानो!^{६४} यह आत्मा तप और सत्य के द्वारा ही जाना जा सकता है।^{६५} महर्षि पतंजलि के शब्दों में कहा जाए तो तप से अशुद्धि का क्षय होने से शरीर और इन्द्रियों की शुद्धि होती है।^{६६}

जिस प्रकार जैन साधना पद्धति से बाह्य और आभ्यन्तर-ये दो तप के प्रकार बताये हैं, वैसे ही गीता में भी तप का वर्गीकरण किया गया है। स्वरूप की दृष्टि से तप के १. शारीरिक तप २. वाचिक तप और ३. मानसिक तप—ये भेद प्रतिपादित किये हैं।^{६७} शारीरिक तप से तात्पर्य है—देव, द्विज, गुरुजन और जानी जानी का सत्कार करना। शरीर को आचरण से पवित्र बनाना, सरलता, ब्रह्मचर्य और अहिंसा का पालन करना, यह शारीरिक तप है। वाचिक तप है—ऋग्रथ का अभाव, प्रिय, हितकारी और यथार्थ संभाषण, स्वाध्याय और अध्ययन आदि। मानसिक तप वह है, जिसमें मन की प्रसन्नता, शांतता, मौत और मनोनिश्चल से भाव की शुद्धि हो।

- ५८. तर्यव वैदानृपयस्तपसा प्रतिपेदिरे। —मनुस्मृति ११, १४३.
- ५९. ऋतं च सत्यं चाभीद्वात्पसोऽध्याजापत। —ऋग्वेद १०, १९०, १.
- ६०. तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डक—१, १, ८.
- ६१. ब्रह्मचर्येण तपसा देवा मृत्युमुपाघ्नत। —वेद
- ६२. यद् दुस्तरं यद्दुरापं दुर्गं यच्च दुष्करम्।
सर्वं तु तपसा साध्यं तपोहि दुरतिक्षमम् ॥ —मनुस्मृति—११/२३७.
- ६३. तपसा चीयते ब्रह्म। —मुण्डकोपनिषद्—१. १. ८.
- ६४. तपसा ब्रह्म विजिज्ञासस्व। —तैत्तिरीयोपनिषद्-३. २. ३. ४.
- ६५. सत्येन लभ्यस्तपसा ह्येष आत्मा। —मुण्डक—३. १. ५.
- ६६. कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षया तपसः। —४३ साधनपाद—मोगसूत्र
- ६७. गीता—अध्याय-१७, श्लो. १४, १५, १६.

जो तप अद्वापूर्वक, फल की आकांक्षा रहित होकर किया जाता है, वही सात्त्विक तप कहलाता है। जो तप सत्कार, मान, प्रतिष्ठा के लिए अथवा प्रदर्शन के लिए किया जाता है, वह राजस तप है। जो तप अज्ञानतापूर्वक अपने आपको भी कष्ट देता है और दूसरों को भी दुःखी करता है, वह तामस तप है।^{६८}

प्रसुत थागत में उमा या जी दग्धिहारण किया गया है, उसमें और गीता के वर्णिकरण में यही मुख्य अन्तर है कि गीताकार ने अहिंसा, सत्य, ब्रह्मचर्य, इन्द्रिय-नियन्त्रण, प्रार्जन, प्रभूति को तप के अन्तर्गत माना है, जबकि जैन दृष्टि से वे महाकृत और अमण्डर्म के अन्तर्गत आते हैं। गीता में जैनधर्म-मान्य बाह्य तपों पर चिन्तन नहीं हुआ है जीर आम्यन्तर तप में से केवल स्वाध्याय को तप की कोटि में रखा है। ध्यान और कामोत्सर्ग को योग साधना के अन्तर्गत लिया है। वैयाकृत्य, विनय आदि को गुण माना है और प्रायशिचत्त का वर्णन शरणागति के रूप में हुआ है।^{६९} महानारायणोपनिषद् में अनशन तप का महत्व यहीं तक प्रतिपादित किया गया है कि अनशन तप से बढ़कर कोई तप नहीं है।^{७०} जबकि गीताकार ने अवमोदर्य तप को अनशन से भी अधिक श्रेष्ठ माना है। उसका यह स्पष्ट अभिमत है—योग अधिक अोजन करने वालों के लिए सम्भव नहीं है और न निराहार रहने वालों के लिए सम्भव है किन्तु जो युक्त आहार-विहार करता है, उसी के लिए योग-साधन सरल है।^{७१}

बौद्ध साधना पद्धति में भी तप का विभाजन है। वहीं तप का अर्थ प्रतिपल-प्रतिक्षण चित्त शुद्धि का प्रयास करना है। महामंगलसुत्त में तथागत बुद्ध ने कहा—तप ब्रह्मचर्य आर्य सत्यों का वर्णन है और निर्वाण का साक्षात्कार है। यह उत्तम मंगल है।^{७२} काशीभारद्वाजसुत्त में तथागत ने कहा—मैं थदा का बीज वपन करता हूँ। उस पर तप की वृद्धि होती है। तब और वचन में संयम रखता हूँ। आहार को नियमित कर सत्य के द्वारा मन के दोषों का परिष्कार करता हूँ। दिट्ठिवज्जसुत्त में उन्होंने कहा—किसी तप या व्रतों को ग्रहण करने से कुशल धर्मों की वृद्धि हो जायेगी और अकुशल धर्मों की हानि होगी। अतः तप अवश्य करना चाहिए।^{७३} बुद्ध ने अपने आपको तपस्वी कहा। उनके साधना-काल का वर्णन और पूर्व जन्मों के वर्णन में उत्कृष्ट तप का उल्लेख हुआ है। उन्होंने सारिषुत्त के सामने अपनी उग्र तपस्या का निरूपण किया।^{७४} सम्राट् विम्बिसार से कहा—मैं अब तपश्चर्या के लिए जा रहा हूँ। मेरा मन उस साधना में रहता है।^{७५} यह पूर्ण सत्य है कि बुद्ध अज्ञानयुक्त केवल देह-दण्ड को निर्वाण के लिए उपयोगी नहीं मानते थे। जानयुक्त तप को ही उन्होंने महत्व दिया था। डॉ. राधाकृष्णन् ने लिखा है—बुद्ध ने कठोर तपश्चर्या की आलोचना की, तथापि वह आश्चर्य है कि बौद्ध अमण्डों का अनुशासन किसी भी आह्वाण ग्रन्थों में वर्णित अनुशासन [तपश्चर्या] से कम कठोर नहीं है। यद्यपि शुद्ध संदातिक दृष्टि से वे निर्वाण की उपलब्धि तपश्चर्या के अभाव में भी सम्भव मानते हैं, फिर भी व्यवहार में तप उनके अनुसार आवश्यक सा प्रतीत होता है।^{७६}

६८. गीता—अध्याय-१७, श्लो. १७, १८, १९,

६९. भारतीय संस्कृति में तप साधना, ले. डॉ. सागरमल जैन

७०. तपः नानशनात्परम्। —महानारायणोपनिषद्. २१, २.

७१. गीता, ७, श्लो. १६-१७

७२. महामंगलसुत्त—सुत्तनिपात, १६-१०.

७३. अंगुत्तरनिकाय—दिट्ठिवज्ज सुत्त

७४. भजिभसनिकाय—महासिंहनाद सुत्त

७५. सुत्तनिपात पवज्जा सुत्त-२७। २०,

७६. Indian Philosophy, by—Dr. Radhakrishnan, Vol 1. P. 436

बौद्ध दृष्टि से तप का उद्देश्य है —अकुशल कर्मों को नष्ट करना। तथागत बुद्ध ने सिंह सेनापति को कहा—हे सिंह! एक पर्याप्त इस प्रकार का है, जिससे सत्यवाकी मानव मूर्खे तपस्वी कह सकें। वह पर्याप्त है—प्राप्त-कारक अकुशल धर्मों को तपाया जाये, जिससे पापकारक अकुशल धर्म (गल जायें, नष्ट हो जायें और वे पुनः उत्पन्न नहीं हों)।^{७७}

जैनधर्म की तरह बौद्धधर्म में तप का जैसा चाहिए वैसा वर्गीकरण नहीं है। मजिस्फमनिकाय में मानव के चार प्रकार बताये हैं जैसे—१. जो आत्म-तप हैं पर पर-तप नहीं हैं। इस समूह में कठोर तप करने वाले तपस्वियों का समावेश होता है। जो अपने आप को कष्ट देते हैं पर दूसरों को नहीं। २. जो पर-तप हैं किन्तु आत्म-तप नहीं हैं। इस समूह में वे हिंसक, जो पशुबलि देते हैं, आते हैं। वे दूसरों को कष्ट देते हैं, स्वयं को नहीं। ३. जो आत्म-तप भी हैं और पर-तप भी हैं। वे लोग जो स्वयं भी कष्ट सहन करते हैं और दूसरे व्यक्तियों को भी कष्ट प्रदान करते हैं। इस समूह में वे व्यक्ति आते हैं, जो तप के साथ धज्ज-याग किया करते हैं। ४. जो आत्म-तप भी नहीं हैं और पर-तप भी नहीं हैं, ये वे लोग हैं, जो स्वयं को कष्ट नहीं देते और न दूसरों को ही कष्ट देते हैं। यह चतुर्भाँगी स्थानांग की तरह है। इसमें वस्तुतः तप का वर्गीकरण नहीं हुआ है।

तथागत बुद्ध ने अपने विष्णुओं को अतिभोजन करने का निषेध किया था। केवल एक समय भोजन की अनुमति प्रदान की थी। रसासक्ति का भी निषेध किया था। विविध आसनों का भी विधान किया था। विष्णाचर्या का भी विधान किया था। जो विष्णु जंगल में निवास करते हैं, बृक्ष के नीचे ठहरते हैं, श्मशान में रहते हैं, उन धूतंग विष्णुओं को बुद्ध ने प्रशंसा की। प्रकारण [शायरिक्त], विनय, धैगाधूत्य, स्थायोध्य, व्यान, कायोत्सर्व—इन सभी को जीवन में आचरण करने की बुद्ध ने प्रेरणा दी। किन्तु बुद्ध मध्यममार्गी विचारधारा के थे, इसलिए जैन तप-विधि में जो कठोरता है, उसका उसमें अभाव है, उनकी साधना सरलता को लिये हुए है।

हमने यहीं संक्षेप में वैदिक और बौद्ध तप के सम्बन्ध में चिन्तन किया है, जिससे आगम-साहित्य में आये हुए तप की तुलना सहज हो सकती है। वस्तुतः प्रस्तुत आगम में आया हुआ तपो-वर्णन अपने आप में सौमित्रिक और विलक्षणता को लिये हुए है।

भगवान् महाबीर के समवसरण में भवनपति, व्यन्तर, ज्योतिष्क और वैमानिक—ये चारों प्रकार के देव उपस्थित होते थे। उन देवों के वर्णन में नानाप्रकार के आभूषण, वस्त्रों का उल्लेख हुआ है। यह वर्णन, जो शोधार्थी आचीन संस्कृति और सम्यता का अध्ययन करना चाहते हैं, उनके लिए बहुत ही उपयोगी है। वस्त्र-निर्माण की कला में भारतीय कलाकार अत्यन्त दक्ष थे, यह भी इस वर्णन से परिज्ञात होता है। विस्तार-भय से हम यहाँ उस पर चिन्तन न कर मूल धन्त्य को ही देखने की प्रबुद्ध पाठकों को प्रेरणा देते हैं।

साथ ही कूणिक राजा का भगवान् को बन्दन करने के लिये जाने का वर्णन पठनीय है। इस वर्णन में अनेक महत्वपूर्ण तथ्य रहे हुए हैं। भगवान् महाबीर की धर्मदेशना भी इसमें विस्तार के साथ आई है। यों धर्म-देशना में सम्पूर्ण जैन आचार मार्ग का प्रखण्डण हुआ है। अमणाचार और आचारकाचार का विश्लेषण हुआ है। उसके पश्चात् गणधर गौतम की विविध जिज्ञासायें हैं। पापकर्म का अनुबन्धन कैसे होता है? और किस प्रकार के आचार-विचार वाला जीव मृत्यु के पश्चात् कहाँ पर (किस योनि में) उत्पन्न होता है? यह उपपात-वर्णन प्रस्तुत आगम का हार्दिक है। और इसी आधार पर प्रस्तुत आगम का नामकरण हुआ है। यह वर्णन ज्ञानवर्धन के साथ

७७. बुद्धलीलासारसंग्रह—पृ. २८०/२८१।

दिलचस्प भी है। इसमें वैदिक और थमण परम्परा के अनेक परिवाजकों, तापसों व श्रमणों का उल्लेख है। उनकी आवार संहिता भी संक्षेप में दी गई है।

उन परिवाजकों का संक्षेप में परिचय इस प्रकार है—

१. गौतम—ये अपने पास एक नग्ना सा बैल रखते थे, जिसके गले में कौड़ियों की माला होती, जो संकेत से अन्य व्यक्तियों के चरण स्पर्श करना। इस बैल को साथ रख कर यह साधु भिक्षा मांगा करते थे। अंगुत्तरनिकाय में भी इस प्रकार के साधुओं का उल्लेख है।^{७८}
२. गोव्रतिक—गोव्रत रखने वाले। गाय के साथ ही ये परिभ्रमण करते। जब गाय गाँव से बाहर जाती तो ये भी उसके साथ जाते। गाय चारों चर्ती तो ये भी चरते और गाय के पानी पीते पर ये भी पानी पीते। जब गाय सोती तो ये सोते। गाय की भाँति ही घास और पत्तों का ये आहार करते थे। मञ्जिकमनिकाय^{७९} और ललितविस्तर^{८०} प्रभृति ग्रन्थों में भी इन गोव्रतिक साधुओं का उल्लेख मिलता है।
३. गृहिष्ठर्म—ये अतिथि, देव आदि को दान देकर परम आह्वादित होते थे और अपने श्रापको गृहस्थ धर्म का सही रूप से पालन करने वाला मानते थे।
४. धर्मचिन्तक—ये धर्म-शास्त्र के पठन और चिन्तन में तल्लीन रहते थे। अनुयोगद्वार^{८१} की टीका में याज्ञवल्क्य प्रभृति ऋषियों द्वारा निर्मित धर्म-संहिताओं का चिन्तन करने वालों को धर्म-चिन्तक कहा है।
५. अविद्वद्—देवता, राजा, मातापिता, पणु और पक्षियों की समान रूप से भक्ति करने वाले अविद्वद् साधु कहलाते थे। ये सभी को नगस्कार करते थे। हसनिए किन्यवादी भी कहलाते थे। आवश्यकनियुक्ति^{८२}, आवश्यकनूणि^{८३}, में इनका उल्लेख है। भगवतीसूत्र के अनुसार^{८४} ताप्रलिपि के मौर्य-पुत्र तामलि ने यही प्रणामा-प्रव्रज्या ग्रहण की थी। अंगुत्तरनिकाय^{८५} में भी अविद्वद्कों का वर्णन है।
६. चिरद्व—ये पुण्य-पाप, स्वर्ग-नरक नहीं मानते थे। ये अक्रियावादी थे।
७. वृद्ध—तापस लोग प्रायः वृद्धावस्था में संन्यास लेते थे। इसलिए ये वृद्ध कहलाते थे। शौपातिक^{८६}

७८. अंगुत्तरनिकाय-३, पृ. ७२६

७९. मञ्जिकमनिकाय-३, पृ. ३८७.

८०. ललितविस्तर, पृ. २४८.

८१. अनुयोगद्वार सूत्र, २०.

८२. आवश्यकनियुक्ति, ४९४.

८३. आवश्यकनूणि, पृ. २९८.

८४. भगवती सूत्र, ३।१.

८५. अंगुत्तरनिकाय-३, पृ. २७६.

८६. वृद्धाः तापसा वृद्धकाल एव दीक्षाभ्युपगमात्, आदि देवकालोत्पत्त्वेन च सकलतिज्ज्ञामाद्यत्वात्, आवका-धर्मशास्त्रश्वरणाद् ब्राह्मणाः अथवा वृद्धश्वरका ब्राह्मणाः। —शौपातिक सूत्र ३८ वृ.

की टीका के अनुसार वृद्ध अर्थात् तापस, श्रावक अर्थात् ब्राह्मण। तापसों को वृद्ध इसलिए कहा गया है कि समग्र तीर्थिकों की उत्पत्ति भगवान् वृषभदेव के प्रवर्ज्या के पश्चात् हुई थी। उनमें सर्वप्रथम तापस-सांख्यों का प्रादुर्भाव हुआ था, अतः वे वृद्ध कहलाये। अमण भगवान् महावीर के समय तीन सौ तिरेसठ पाञ्चषट-मत प्रचलित थे। उन्हीं अन्य तीधों या तीर्थिकों में वृद्ध श्रावक शब्द भी अवहृत हुआ है।^{५७} ज्ञाताधर्मकथा^{५८} एवं अंगुत्तरनिकाय^{५९} में भी यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। अनुयोगद्वारा^{६०} की टीका में भी वृद्ध का अर्थ तापस किया है। कहीं पर 'वृद्धश्रावक' यह शब्द एक कर दिया गया है और कहीं पर दोनों को पृथक्-पृथक् किया गया है। हमारी दृष्टि से दोनों को पृथक् करने की आवश्यकता नहीं है। वृद्धश्रावक का अर्थ ब्राह्मण उपयुक्त प्रतीत होता है। यहाँ पर वृद्ध और श्रावक शब्द जैन परम्परा से सम्बन्धित नहीं हैं। यह तो ब्राह्मणों का ही बालक है।

८. श्रावक—धर्म-शास्त्रों को ध्वनि करने वाला ब्राह्मण।^{६१}

ये आठों प्रकार के साधु दूध-दही, मक्खन-घृत, तेल, गुड़, मधु, मध और मोस का अक्षण नहीं करते थे। केवल सरसों का तेल उपयोग में लेते थे।

गंगातट निधारी बानप्रस्थी तापस

९. होत्तिय—अग्निहोत्र करने वाले तापस।
१०. पोत्तिप—वस्त्रधारी।
११. कोत्तिय—भूमि पर सोने वाले।
१२. जण्णई—यज्ञ करने वाले।
१३. सङ्घई—अद्वाशील।
१४. यात्तई—सब सामान लेकर चलने वाले।
१५. हुंबजट्ट—कुण्डी लेकर चलने वाले।
१६. बंतुक्षलिय—दांतों से चबाकर खाने वाले। इसका उल्लेख रामायण^{६२} में प्राप्त है। दीघनिकाय^{६३} प्रटुक्या में भी इस सम्बन्ध में उल्लेख है।
१७. उम्भल्लक—उम्भज्जन मात्र से स्नान करने वाले।^{६४} अर्थात् कानों तक पानी में जाकर स्नान करने वाले।

८७. अण्णतीर्थिकाश्चरक-परिवाजक-शाक्याजीवक-वृद्धश्रावकप्रभृतयः।

—निशीथ समाव्यचूणि, भाग-२, पृ. ११८.

८८. ज्ञाताधर्मकथा, अध्य. १५ वा, सू. १.
८९. अंगुत्तरनिकाय—हिन्दी अनुवाद भाग २, पृ. ४५२.
९०. अनुयोगद्वार सूत्र-२० की टीका।
९१. देखिए विस्तार के साथ ज्ञातासूत्र प्रस्तावना पृ. ३७। —देवेन्द्रमुनि
९२. रामायण-३।६।३.
९३. दीघनिकाय अटुक्या १, पृ. २७०।
९४. कर्णवध्ने जले स्थित्वा, तपः कुर्वन् प्रवर्तते।
उम्भज्जकः स विशेषस्तापसो लोकपूजितः॥

—अभिधानवाचस्पति

१८. सम्मजनक—अनेक बार उन्मज्जन करके स्नान करने वाले ।
१९. निमज्जनक—स्नान करते समय कुछ क्षणों के लिए जल में डूबे रहने वाले ।
२०. सम्प्रवास—शरीर पर मिट्टी घिस कर स्नान करने वाले ॥
२१. बक्षिष्णकूलग—गंगा के दक्षिण तट पर रहने वाले ।
२२. उत्तरकूलग—गंगा के उत्तर तट पर रहने वाले ।
२३. संखधमक—संख बजाकर भोजन करने वाले । वे मांद्र इसलिए बजाते थे कि अन्य व्यक्ति भोजन करते समय न आये ।
२४. कूलधमक—किनारे पर खड़े होकर उच्च स्वर करते हुए भोजन करने वाले ।
२५. मियलुद्धक—पशु-पक्षियों का शिकार कर भोजन करने वाले ।
२६. हस्तीतावस—जो हाथी को मारकर बहुत समय तक उसका मक्षण करते थे । इन तपस्वियों का यह अभिमत था कि एक हाथी को एक वर्ष या अह महीने में मार कर हम केवल एक ही जीव का वध करते हैं, अन्य जीवों को मारने के पाप से बच जाते हैं । दीकाकार के अभिमतानुसार हस्तीतावस बौद्ध भिक्षु थे ।^{९४} ललितविस्तर में हस्तीवत ताप्सों का उल्लेख है ।^{९५} महावग्र में भी दुष्मिक के समय हाथी आदि के मांस खाने का उल्लेख मिलता है ।^{९६}
२७. उड्ढडंक—दण्ड को ऊपर उठाकर चलने वाले । आचारांग चूर्ण^{९७} में उड्ढडंक, बोडिय, और सरक्ष आदि साधुओं के साथ उसकी परिणामता की है । ये साधु केवल शरीर मात्र परिग्रही थे । पाणिपुट में ही भोजन किया करते थे ।
२८. दिसापोक्खी—जल से दिशाओं का स्थिरन कर पुण्याद्यादि बटोर्ने वाले । भगवती सूत्र^{९८} में हस्तिनापुर के शिवराजपि का उपाख्यान है । उन्होंने दिशा-प्रोक्षक तपस्वियों के निकट दीक्षा अहम की थी । वाराणसी का सोमिल अध्यात्म तपस्वी भी चार दिशाओं का अर्चक था ।^{९९} आवश्यकचूर्ण^{१००} के अनुसार राजा प्रसन्नचन्द्र अपनी महारानी के साथ दिशा-प्रोक्षकों के धर्म में दीक्षित हुआ था । वसुदेवहिंडी^{१०१} और दीघनिकाय^{१०२} में भी दिसापोक्खी ताप्सों का वर्णन है ।
२९. वषकवासी—बल्कल के वस्त्र पहनने वाले ।

९५. सूत्रकृतांग टीका, २।३.

९६. ^४ ललितविस्तर, पृ. २४८.

९७. महावग्र-६।१०।२२, पृ. २३५.

९८. आचारांग चूर्ण-५, पृ. १६९.

९९. भगवती सूत्र-१।१।९.

१००. निरत्यावलिका-३, पृ. ३७-४०.

१०१. आवश्यकचूर्ण, पृ. ४५७.

१०२. वसुदेवहिंडी, पृ. १७.

१०३. दीघनिकाय, सिगालोववादसुत्त

३०. अम्बुधासी—जल में रहने वाले ।
 ३१. बिलवासी—बिलों में रहने वाले ।
 ३२. जसवासी—जल में निमग्न होकर बैठने वाले ।
 ३३. वेलवासी—समुद्र के किनारे रहने वाले ।
 ३४. रुक्षमूलिया—वृक्षों के नीचे रहने वाले ।
 ३५. अम्बुधक्षी—जल भक्षण करने वाले ।
 ३६. वाडभक्षी—वायु पीकर रहने वाले । रामायण^{१०३} में मण्डकरनी नामक तापस का उल्लेख है, जो केवल वायु पर जीवित रहता था । महाभारत^{१०४} में भी वायुभक्षी तापसों के उल्लेख मिलते हैं ।
 ३७. सेवालभक्षी—केवल शैवाल को खाकर जीवन-यापन करने वाले । ललितविस्तर^{१०५} में भी इस मान्यता में वर्णन मिलता है ।

इनके अतिरिक्त भी अनेक प्रकार के तापस थे, जो मूल, कन्द, छाल, पत्र, पुष्प और बीज का सेवन करते थे । और कितने ही सँडे गले हुए मूल, कन्द, छाल, पत्र आदि द्वारा अपना जीवन-यापन करते थे । दीघनिकाय^{१०६} आदि में भी इस प्रकार के वर्णन हैं । इनमें से अनेक तापस पुनः-पुनः स्नान किया करते थे, जिससे इनका शरीर पीला पड़ जाता था । ये गंगा के किनारे रहते थे और बानप्रस्थाश्रम का पालन करते थे । ये तपस्वीयण एकाकी न रह कर समूह के साथ रहते थे । कोदिष्ठदिष्ठ और सेवालि नाम के कितने ही तापस तो पाँच सौ-पाँच सौ तापसों के साथ रहते थे । ये गले सँडे हुए कन्द-मूल, पत्र और शैवाल का भक्षण करते थे । उत्तराध्ययन^{१०७} टीका में वर्णन है कि ये तापसगण अष्टापद की यात्रा करने जाते थे ।

बन-वासी साधु तापस कहलाते थे ।^{१०८} ये जंगलों में आश्रम बनाकर रहते थे । यज्ञ-याम करते, पंचामित द्वारा अपने शरीर को कष्ट देते । इनका बहुत सारा समय कन्द-मूल और बन के फलों को एकत्रित करने में व्यतीत होता था । अथवारभाष्य^{१०९} में यह भी वर्णन है कि ये तापस-गण बोखली और खलिहान के समिकट पड़े हुए धानों को बीनते और उन्हें स्वयं पकाकर खाते । कितनी बार एक चम्मच में आये, उतना ही आहार करते या धान्य-राशि पर वे बहुत केंकते और जो अन्न कण उस बहुत पर लग जाते, उन्हीं से वे अपने उदर का पोषण करते थे ।

प्रक्षेपित अमण

परिज्ञाजक अमण ब्राह्मण-धर्म के लब्धप्रतिष्ठित पण्डित थे । वशिष्ठ धर्म-सूत्र के अनुसार वे सिर मुण्डन करते थे । एक वस्त्र या चर्मखण्ड धारण करते थे । गायों द्वारों उछाड़ी हुई धास से अपने शरीर को हॉकते थे

-
१०३. रामायण-३-११/१२.
 १०४. महाभारत, ११६/४२.
 १०५. ललितविस्तर, पृ. २४८.
 १०६. दीघनिकाय, १, अम्बुधसुत, पृ. ८८.
 १०७. उत्तराध्ययन टीका, १०, पृ. १५४, अ.
 १०८. निशीयचूणि-१३/४४०२ की चूणि
 १०९. (क) अथवारभाष्य—१०/२३-२५.
 (ख) मूलाचार—५-५४.

और जमीन पर सोते थे।^{११०} ये आचार-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र पर विचार, चर्चा करने के लिए भारत के विविध अंचलों में परिष्कार करते थे। वे घड़गों के ज्ञाता होते थे। उन परिवाजकों में कितने ही परिवाजकों का परिचय इस प्रकार है—

- ४८. संखा—सांख्य मत के अनुयायी।
- ४९. जोई—योगी, जो अनुष्ठान पर बल देते थे।
- ५०. कपित—निरीश्वरवादी सांख्या, जो ईश्वर को सृष्टिकर्ता नहीं मानते थे।
- ५१. मित्रच—भृगु कृषि के अनुयायी।
- ५२. हृंस—जो पर्वत की गुफाओं में, रास्तों में, आश्रमों में, देवकुलों और आरामों में रह कर केवल भिक्षा के लिए गाँव में प्रवेश करते थे। षष्ठदर्शनसमुच्चय^{१११} और रिलीजन्स आँव दी हिन्दूज^{११२} में भी इनका उल्लेख आया है।
- ५३. परमहृंस—जो सरिता के तट पर या सरिता के संगम-प्रदेशों में रहते और जीवन की सांघ्य वेला में चीर, कोपीन, कुण आदि का परित्याग कर प्राणों का यिसज्जन करते थे।
- ५४. बहुउद्दय—जो गाँव में एक रात्रि और नगर में पाँच रात रहते हों।
- ५५. कुहिरवय—जो घर में रहते हों तथा कोध, लोभ और मोह रहित होकर अहंकार आदि का परित्याग करने में प्रयत्नशील हों।
- ५६. कष्टपरिवायग—कृष्ण परिवाजक अर्थात् नारायण के परम भक्त।

ब्राह्मण परिवाजक

- ५७. कण्डु—अयवा कण्ण।
 - ५८. करुण्डु
 - ५९. अम्बद—कृषिभासित, येरीगाया^{११३} और महाभारत^{११४} में भी अम्बद परिवाजकों के सम्बन्ध में उल्लेख है।
 - ६०. परासर—सूत्रकृतांग^{११५} में परासर को श्रीत, उदक और बीज रहित फलों आदि के उपशीग से सिद्ध माना गया है। उत्तराध्ययन^{११६} की टीका में द्वीपायन परिवाजक की कथा है। उसका पूर्व नाम परासर था।
-
- ११०. (क) वशिष्ठ धर्मसूत्र-१०-६। ११।
 - (ख) डिक्सनरी आँव पाली प्रीपर नेम्स, जिल्ड २, पृ. १५९. मलालसेकर
 - (ग) महाभारत-१२। १९। ०। ३.
 - १११. षष्ठदर्शनसमुच्चय पृ. ८
 - ११२. रिलीजन्स आँव दी हिन्दूज, जिल्ड-१, पृ. २३१. —लेखक एच. एच. विल्सन
 - ११३. येरी गाया-११६.
 - ११४. महाभारत-१। ११४। ३५.
 - ११५. सूत्रकृतांग-३। ४। २। ३, पृ. ९४-९५.
 - ११६. उत्तराध्ययन टीका-२, पृ. ३९.

५१. कण्ठदीवायण—कण्ठदीवायण जातक^{११७} और महाभारत^{११८} में इनका उल्लेख है।

५२. देवगुप्त

५३. नारथ—नारद।

अत्रिय परिवाजक

५४. सेलई

५५. ससिहार [ससिहर अथवा ससिहार ?]

५६. एशगई [नानजित्],

५७. भगमई

५८. चिदेह

५९. रायाराय

६०. रायाराम

६१. बल

ये परिवाजक गण वेदों और वेदांगों में पूर्ण निष्णात थे। दान और शोच धर्म का उपदेश देते थे। इनका यह अभिमत था—जो पदार्थ अशुचि में सने हुए हैं, वे मिट्टी आदि में स्वप्न हो जाते हैं। वैसे ही हम पवित्र आचार, निरवच्च व्यवहार से, अभिषेक-जल से अपने को पवित्र बना सकते हैं। एवं स्वर्ग प्राप्त कर सकते हैं। ये परिवाजक नदी, तालाब, पुष्करणी प्रसूति जलाशयों में प्रवेश नहीं करते और न किसी बाहन का ही उपयोग करते। न किसी प्रकार का तृत्य आदि खेल देखते। बनस्पति आदि का उम्मूलन नहीं करते और न धातुओं के पात्रों का ही उपयोग करते। केवल मिट्टी, लकड़ी और सुम्बी के पात्रों का उपयोग करते थे। अन्य किसी भी प्रकार के मुग्धित सेपों का उपयोग न कर केवल गंगा की मिट्टी का उपयोग करते थे। ये निर्मल लाना हुआ और किसी के द्वारा दिया हुआ एक प्रस्थ जितना जल पीने के लिए प्रहण करते थे।

अम्बदृ परिवाजक और उनके सात सौ शिल्पों का उल्लेख प्रस्तुत आगम में हुआ है। जैन साहित्य के बृहत् इतिहास^{११९} में तथा 'जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज' ग्रन्थों में अम्बदृ परिवाजक के सात शिल्प होना लिखा है पर वह ढीक नहीं है। मूल शास्त्र में 'सत्त अतेवासीस्याऽ' पाठ है। उसका अर्थ सात सौ अतेवासी होता है, न कि सात। अम्बदृ परिवाजक का वर्णन जैन साहित्य में दो स्थलों पर आया है—जीपातिक में और भगवती में। अम्बदृ परिवाजक^{१२०} नामक एक व्यक्ति का और उल्लेख है, जो आगामी चौबीसी में तीर्थंकर होगा। जीपातिक में आये हुए अम्बदृ महाविदेह में मुक्त होंगे।^{१२१} इसनिए दोनों पृथक्-पृथक् होने चाहिए।

११७. कण्ठदीवायण जातक-४, पृ. ८३-८७.

११८. महाभारत-१११।४।४५.

११९. (क) जैन साहित्य का बृहदृ इतिहास, भाग २, पृ. २५.

(ख) जैन आगम साहित्य में भारतीय समाज, पृ. ४१६. डा. जगदीशचन्द्र जैन

१२०. स्थानांग, ९ वीं सूत्र ६१.

१२१. (क) यशचौपपातिकोपाङ्गे महाविदेहे मंत्स्यतीत्यभिधीयते सोऽन्य इति सम्भाव्यते।

—स्थानांग बृत्ति, पृ. ४३४

(ख) दीघनिकाय के अम्बदृगुत्त में अंबदृ नाम के एक पंडित ब्राह्मण का वर्णन है। निशीथनूणि पीठिका में महादीर अम्बदृ को धर्म में स्थिर करने के लिए राजगृह पधारे थे।

—निशीथ चू. पीठिका, पृ. २०

श्रीषण ग्रीष्म ऋतु में जल प्राप्त होने पर भी उन्हें कोई व्यक्ति देने वाला न होने से सात सौ शिष्यों ने अदत्त प्रहण नहीं किया और संयारा कर शरीर का परित्याग किया। अम्बड़े और उसके शिष्य भगवान् महावीर के प्रति पूर्ण निष्ठावान् थे। अम्बड़े अवधिज्ञानी भी था। वह औदेशिक, नैमित्तिक आहार आदि नहीं लेता था।

आजीवक श्रमण

६२. दुघरंतरिया—एक घर में शिक्षा ग्रहण कर उसके पश्चात् दो घरों से भिक्षा न लेकर तृतीय घर में भिक्षा लेने वाले।
६३. तिघरंतरिया—एक घर से भिक्षा ग्रहण कर तीन घर छोड़ कर भिक्षा लेने वाले।
६४. सत्तघरंतरिया—एक घर से भिक्षा ग्रहण कर सात घर छोड़ कर भिक्षा लेने वाले।
६५. उप्पलब्धेटिया—कमल के ढंगल खाकर रहने वाले।
६६. घरसमुदाणिय—प्रत्येक घर में भिक्षा ग्रहण करने वाले।
६७. विज्ञुअंतरिया—विजली गिरने के समय भिक्षा न लेने वाले।
६८. उट्टिष्ठसमण—किसी दड़े मिट्टी के बर्तन में बैठ कर तप करने वाले।

आजीवक मत का संस्थापक गोशालक था। भगवती सूत्र^{१२२} के अनुसार वह महावीर के साथ दीर्घकाल तक रहा था। वह आठ महानिमित्तों का ज्ञाता था^{१२३} और उसके श्रमण उप तपस्वी थे^{१२४}

अन्य श्रमण

६९. अत्तुकोसिय—आत्म-प्रशंसा करने वाले।
७०. परिवाइय—पर-निन्दा करने वाले। भगवती १२५ में अवर्णवादी को किलिषक कहा है।
७१. भूहकस्मिय—ज्वरशस्त लोगों को भूति [राज्ञ] देकर नीरोग करने वाले।
७२. भूजो भूजो कोउयकारक—थार-बार सौभाग्य वृद्धि के लिए कौतुक, स्नानादि करने वाले।

सात निळुव

विचार का इतिहास जितना पुराना है उतना ही पुराना है विचार-भेद का इतिहास। विचार व्यक्ति की उपज है। वह संघ में रुढ़ होने के बाद संघीय कहलाता है। सुदीर्घकालीन परम्परा में विचार-भेद होना असम्भव नहीं है। जैन परम्परा में भी विचार-भेद हुए हैं। जो जैन धर्मसंघ से सर्वथा पृथक् हो गए, उन श्रमणों का यहीं उल्लेख नहीं है। यहीं केवल उनका उल्लेख है, जिनका किसी एक विषय में मत-भेद हुआ, जो भगवान् महावीर के ज्ञासन से पृथक् हुए, पर जिन्होंने अन्य धर्म को स्वीकार नहीं किया। इसलिए वे जैन-शासन के एक विषय के अपलाप करने वाले निळुव कहलाये। वे सात हैं। उनमें से दो भगवान् महावीर के केवल्य-प्राप्ति के बाद हुए और

१२२. भगवती सूत्र, शतक १५ वां

१२३. पंचकल्प चूणि

१२४. (क) स्थानांग—४। ३०९

(ख) हिस्ट्री एण्ड डाक्ट्रीन्स आफ द आजीविकाज - ए. एल. बालम

१२५. भगवती सूत्र, १।३.

शेष पांच निवाणि के पश्चात् हुए।^{१२६} इनका अस्तित्व-काल श्रमण भगवान् महावीर के केवल्य प्राप्ति के चौदह वर्ष से निवाणि के पश्चात् पांच सौ चौरासी वर्ष तक का है।^{१२७}

१. बहुरत—भगवान् महावीर के केवल्य प्राप्ति के चौदह वर्ष पश्चात् धावस्ती में बहुरतवाद की उत्पत्ति हुई।^{१२८} इसके प्रखण्डक जमाली थे। बहुरतवादी कार्य की निष्पत्ति में दीर्घकाल की अपेक्षा मानते हैं। वह क्रियमाण को कृत नहीं मानते, अपितु वस्तु के पूर्ण निष्पन्न होने पर ही उसका अस्तित्व स्वीकार करते हैं।
२. जीवप्रादेशिक—भगवान् महावीर के केवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात् ऋषभपुर^{१२९} में जीव-प्रादेशिकवाद की उत्पत्ति हुई।^{१३०} इसके प्रवर्तक तिष्ठगुप्त थे। जीव के असंख्य प्रदेश हैं, परन्तु जीवप्रादेशिक मतानुसारी जीव के चरम प्रदेश को ही जीव मानते हैं, शेष प्रदेशों को नहीं।
३. अध्यक्षिक—भगवान् महावीर के परिनिवाणि के दो सौ चौदह वर्ष पश्चात् श्वेताम्बिका नगरी में अध्यक्षत्ववाद की उत्पत्ति हुई।^{१३१} इसके प्रवर्तक आचार्य आसाह के शिष्य थे। अध्यक्षत्ववादी ये क्रिया अनेक थे। ग्रहण उनके नामों का उल्लेख उपलब्ध नहीं है। मात्र उनके पूर्वावस्था के गुरु का नामोल्लेख किया गया है। नवाँगी टीकाकार ने भी इस आशय का संकेत किया है।^{१३२}
४. समुच्छेदिक—भगवान् महावीर के परिनिवाणि के दो सौ बीस वर्ष के पश्चात् मिथिलापुरी में समुच्छेदवाद की उत्पत्ति हुई।^{१३३} इनके प्रवर्तक आचार्य अश्वमित्र थे। ये प्रत्येक पदार्थ का समूर्ण विनाश मानते हैं, एवं एकान्त समुच्छेद का निरूपण करते हैं।
५. हृष्णिय—श्रमण भगवान् महावीर के परिनिवाणि के दो सौ अट्टार्वेद वर्ष पश्चात् उल्लुकातीर नगर

-
१२६. एणुष्यनीय दुवे, उप्पणा णिव्वुए सेसा । —आवश्यकनियुक्ति, गाथा-७८४.
१२७. चोद्दस सोलह सवासा, चोद्दस वीमुत्तरा य दोणिसया ।
अट्टावीसा य दुवे, र्वेव सया उ चोमाला ॥
पंचलया चुलसीया | —आवश्यकनियुक्ति, गाथा-७८८८४.
१२८. चउदस चासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।
तो बहुर्याण दिट्टी सावत्त्वीए समुप्पन्ना ॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१२५.
१२९. क्रषभपुरं राजगृहस्याद्याह्वा । —आवश्यकनियुक्ति दीपिका, पत्र-१४३.
१३०. सोलसयासाणि तया जिणेण उप्पाडियस्स नाणस्स ।
जीवपएसिअद्विही उसभपुरमिम समुप्पन्ना ॥ —आवश्यकभाष्य गाथा, १२७.
१३१. चउदस दो वाससया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
अव्वत्तगाण दिट्टी, सेअवियाए समुप्पन्ना ॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१२९.
१३२. सोऽमव्यक्तमत्थमचियार्यो, न चायं तन्मतप्रस्पकत्वेन किञ्चु ग्रागवस्थायामिति । —स्थानांग वृत्ति, पत्र ३९१.
१३३. दीसा दो वाससया तइया सिद्धि गयस्स वीरस्स ।
सामुच्छेदयद्विही, मिहिलपुरीए समुप्पन्ना ॥ —आवश्यक भाष्य, गाथा-१३१.

में द्विक्रियावाद की उत्पत्ति हुई।^{१३४} इसके प्रवर्तक आचार्य गंगा थे। ये एक ही साथ दो क्रियाओं का अनुवेदन मानते हैं।

६. वैराशिक—धर्मण भगवान् महावीर के परिनिवाण के पांच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् अन्तर्रंजिका नगरी में वैराशिक मत का प्रवर्तन हुआ।^{१३५} इसके प्रवर्तक आचार्य रोहणुष्ट [बड़लूक] थे। उन्होंने दो राशि के स्थान पर तीन राशियाँ मानी।
७. अबद्धिक—धर्मण भगवान् महावीर के निवाण के पांच सौ चौरासी वर्ष पश्चात् दशपुर नगर में अबद्धिक मत का प्रारम्भ हुआ। इसके प्रवर्तक आचार्य गोष्ठामाहिन थे।^{१३६} इनका यह मत्तद्वय या कि कर्म आत्मा का स्पर्श करते हैं किन्तु उनके साथ एकीभूत नहीं होते।

इन सात निलूप्तों में जमाली, रोहणुष्ट और गोष्ठामाहिन—ये तीनों अन्त समय तक अलग रहे। शेष चार निलूप्त भगवान् महावीर के शासन में पुनः सिल रखे।

इन सभी ताप्सों, परिवाजकों और श्रमणों के मरण के पश्चात् विभिन्न पथों में जन्मग्रहण करने के उल्लेख हैं। ये उल्लेख इस बात के दोतक हैं कि कौन साधक कितना अधिक साधना-सम्पन्न है? जिसकी जितनी अधिक निर्मल साधना है, उतना ही वह अधिक उच्च देवलोक को प्राप्त होता है। कर्मों का पूर्ण क्षय होने पर मुक्ति होती है। इसलिए केवली समुद्धात का भी निरूपण है। केवली समुद्धात में आत्म-प्रदेश सम्पूर्ण लोक में फैल जाते हैं। इसकी तुलना मुण्डक उपनिषद् के 'सर्वंगसः' से की जा सकती है।^{१३७}

मुक्त आत्माओं की विग्रहमति नहीं होती, मुक्त होने समय साक्षात्रोपयोग होता है। सिद्धों की सदि अपर्यवसित स्थिति को चोतित करने के लिए दूरध दीज का उदाहरण दिया गया है। सिद्ध होने वाले जीव का संहनन, संस्थान, जबन्य-उत्कृष्ट अवगाहना, सिद्धों का निवास-स्थान, सर्वार्थमिद्विमान के ऊपरी भाग से ईषत् प्राम्भारा पृथ्वी तल का अन्तर, ईषत् प्राम्भारा पृथ्वी का आयाम, विष्कंभ, परिधि, भृत्यभाग की मोटाई, उसके १२ नाम, उसका वर्ण, संस्थान, पौद्गलिक रचना, स्पर्श और उसकी अनुपम सुन्दरता का वर्णन किया गया है। ईषत् प्राम्भारा के उपरि तल से लोकान्त का अन्तर और कोश के छठे भाग में सिद्धों की अवस्थिति आदि बताई गई है।

अन्त में बाईस गाथाओं के द्वारा सिद्धों का वर्णन है। ये गाथायें सिद्धों के वर्णन को समझने में अत्यन्त उपयोगी हैं। इसमें भील-पुत्र के उदाहरण से सिद्धों के सुख को स्पष्ट किया गया है। यह उदाहरण बहुत ही हृदय-स्पर्शी है।

इस प्रकार यह आगम अपने आप में महत्वपूर्ण सामग्री लिये हुए है। नगर, चैत्य, राजा और राजियों का सांगोपयोग वर्णन अन्य आगमों के लिए आधार रूप रहा है। चम्पा नगरी का आलंकारिक वर्णन प्राकृत-साहित्य के

१३४. अद्वावीसा दो वासस्या तद्या सिद्धिग्रस्त वीरस्त।

—आवश्यक भाष्य, गाथा-१३३.

१३५. पञ्च सया चोताला तद्या सिद्धि ग्रस्त वीरस्त।

—आवश्यक भाष्य, गाथा-१३५.

१३६. पञ्चमया चुलसीया तद्या सिद्धि ग्रस्त वीरस्त।

—आवश्यक भाष्य, गाथा-१४१.

१३७. मुण्डक उपनिषद् — १।१।६

निए लोत रूप में रहा है। ऐसा सुक्ष्म और पूर्ण वर्णन संस्कृत-साहित्य में भी कम देखने को मिलता है। संस्कृति और समाज की दृष्टि से तथा तत्काल में प्रचलित विभिन्न आत्मसाधना-पद्धतियों को समझने की दृष्टि से भी इस आगम का महत्व है। इसमें धार्मिक और नैतिक मूल्यों की स्थापना हुई है।

भाषा की दृष्टि से प्रस्तुत आगम उपमा-बहुल, समास-बहुल और विशेषण-बहुल है। इसमें पहले प्रकरण की भाषा कठिन है तो दूसरे प्रकरण की भाषा बहुत ही सरल है। आगम के अन्त में तो बहुत ही सरल भाषा है।

प्रस्तुत आगम में आये हुए शब्दों के प्रयोग कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी प्रायः ज्यों के त्यों मिलते हैं। उदाहरण के रूप में प्रस्तुत आगम में घूसखोर के लिए प्रयुक्त “उष्कोडिय” जिसका संस्कृत रूप “उत्कोचक” है। कौटिल्य-अर्थशास्त्र में^{१३८} भी इसी अर्थ में आया है।

ओपपातिक में कूणिक राजा के प्रसंग में व्रताया गया है कि वह महेन्द्र और मनव पर्वत की तरह उल्लंघन में समुत्पन्न हुआ था।^{१३९} कौटिलीय अर्थशास्त्र में मनव और महेन्द्र पर्वत का वर्णन है। महेन्द्रपर्वत के मोती और मलय पर्वत के चन्दन-बृक्ष बहुत ही श्रेष्ठ होते हैं।^{१४०}

ओपपातिक में ‘अर्गला’ का नाम ‘इन्द्रकील’ आया है।^{१४१} तो कौटिलीय अर्थशास्त्र में भी अर्गला के अर्थ में इन्द्रकील शब्द प्रयुक्त है।^{१४२}

इस तरह प्रस्तुत आगम में आये हुए अनेक शब्दों की तुलना कौटिल्य-अर्थशास्त्र से की जा सकती है। इससे यह स्पष्ट है कि प्रस्तुत आगम की रचना उससे बहुत पहले हुई। जहाँ तक भाषा का प्रश्न है, प्रारम्भ की भाषा कठिन व समासयुक्त है तो बाद की भाषा सरल है। किन्तु विषय के अनुरूप भाषा कठिन और सरल होती है, इसलिए इसे दोनों अध्यायों को अलग-अलग समय की रचना मानना उपयुक्त नहीं है। हमारे अपने अभिमता-नुसार यह सम्पूर्ण आगम एक ही समय की रचना है।

व्याख्या-साहित्य

ओपपातिक सूत्र का विषय सरल होने के कारण इस पर नियुक्ति, भाष्य या चूणि साहित्य की संरचना नहीं की गई, केवल नवांगी टीकाकार आचार्य अभियदेव ने इस पर संस्कृत भाषा में सर्वप्रथम टीका लिखी। यह टीका शब्दार्थ प्रधान है। टीका में सर्वप्रथम आचार्य ने भगवान् महाबीर को नमस्कार किया है तथा ओपपातिक का अर्थ करते हुए लिखा है कि उपपात का अर्थ है—देवों भी नारकों में जन्म लेना व सिद्धि गमन करना। उपपात सम्बन्धी वर्णन होने से इस आगम का नाम ‘ओपपातिक’ है।

टीका में नट, नर्तक, जल्ल, मल्ल, मौष्टिक, विद्म्बक, कथक, एलवक, लासक, प्राज्ञायक, प्रभृति अनेक महत्वपूर्ण सांस्कृतिक, सामाजिक एवं प्रशासन विषयक ज्ञात्वाय शब्दों का अर्थ स्पष्ट किया गया है। दृति [टीका]

^{१३८.} कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण ४, अध्याय ४। १०.

^{१३९.} ओपपातिक

^{१४०.} कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय १। १२.

^{१४१.} ओपपातिक

^{१४२.} कौटिलीय अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३। २६.

में अनेक पाठान्तर और मतान्तरों का भी संकेत है। वृत्ति के अन्त में अपने कुल और शुरु का नाम भी निश्चिह्न किया है। यह भी लिखा है, इस वृत्ति का संशोधन अणहिलपाटक नगर में द्रोणाचार्य ने किया। १४३

प्रस्तुत आगम किस अंग का उपांग है? इस प्रश्न पर चिन्तन करते हुए टीका में आचार्य अभयदेव ने लिखा है कि आचारांग का प्रथम अध्ययन शस्त्रपरिज्ञा है। उसका यह भूत्र है कि मैं कहीं में आया हूँ और कहीं जाऊँगा? इस मूल में उपपात की चर्चा है, इसनिए पहुँ आगम आचारांग का ही उपांग है। १४४

प्रस्तुत आगम अभयदेववृत्ति के साथ सर्वप्रथम सन् १८३५ में रायबहादुर धनपतसिंह ने कलकत्ता से प्रकाशित किया। उसके बाद १८८० में आगम संग्रह-कलकत्ता में और १९१६ में आगमोदय समिति-बम्बई से अभयदेववृत्ति के साथ प्रकाट हुआ है। सन् १८८३ में प्रस्तावना आदि के साथ E. Lev man Lepizip, का प्रकाशन हुआ। आचार्य अमोलकर्णियजी ने हिन्दी अनुवाद सहित इसका संस्करण प्रकाशित किया। सन् १९६३ में मूल हिन्दी अनुवाद के साथ संस्कृत रक्षक, संघ, मैलाना रोगक संस्करण प्रकाशित हुआ है। १९५९ में जैन शस्त्रोद्धार समिति राजकोट से संस्कृत व्याख्या व हिन्दी गुजराती अनुवाद के साथ आचार्य श्री घासीलालजी म. ने संस्करण निकाजा है। सन् १९३६ में इसका मात्र मूल पाठ छोटेलाल यति ने जीवन कार्यालय-ग्रजमेर रो और युफकसिंख ने सुतागमे के रूप में लूपाया।

प्रस्तुत संस्करण और सम्पादन

इस प्रकार समय-समय पर अनेक संस्करण औप्पातिक के प्रकाशित हुए हैं, किन्तु आधुनिक दृष्टि से एक मूल पाठ, प्रांग भाषा में अनुवाद और ग्रावण्यक स्थनों पर टिप्पण आदि के साथ अभिनव संस्करण की अत्यधिक माँग थी। उस माँग की पूर्ति थमण संघ के पुबाचार्य महामहिम श्री मधुकरमुनिजी ने करने का भगीरथ कार्य अपने हाथ में लिया और अनेक मूर्धन्य पनीयियों के हार्दिक सहयोग में वह कार्य द्रुतगति से आगे बढ़ रहा है। प्रश्न-व्याकरण को छोड़ कर शेष दश अंग ग्रामः प्रकाशित हो चुके हैं। भगवती जो विद्याट्काय आगम है, वह भी अनेक भागों में प्रकाशित हो रहा है। प्रस्तुत आगम के साथ युवाचार्यश्री ने उपांग साहित्य को प्रकाशित करने का शीरणेश किया है। युवाचार्यश्री प्रकृष्ट प्रतिभा के धनी हैं और साथ ही मेरे परमश्रद्धेय सद्गुरुहर्वद्य उपाध्याय श्रीपुष्करमुनिजी म. के श्रनन्य सहयोगी और साथी हैं। युवाचार्यश्री के प्रबल प्रयास से यह कार्य प्रगति पर है, यह प्रसन्नता है।

१४३. चन्द्रकुल विपुल भूतनगुणपर वर्धमानकल्पतरोः ।

कुमुमोपमस्य सूरे: गुणसौरभभृतभवनस्य ॥१॥

निस्सम्बन्ध विहारस्य, सर्वदा श्रीजिनेश्वराह्वस्य ।

शिष्येणाभ्यदेवाख्यसूरिणीयं, कुता वृत्तिः ॥२॥

अणहिलपाटक नगरे श्रीमद्द्रोणाख्यमुरिमुख्येन ।

पण्डितगुणेन गुणवत्तिव्येण, संशोधिता चेयम् ॥३॥

१४४. इदं चोपाङ्गं वर्त्तते, आचारांगस्य हि प्रथमध्ययनं शस्त्रपरिज्ञा, तस्याद्वोद्देशके गूत्रमिदम् 'एवमेगेसि' नो ताथे भवति, अतिथ वा मे आया उवाचार्य, तत्थि वा मे आया उवाचार्य, के वा अहं आसी? के वा इह [अहं] चक्षुए [इशो चक्षो] पेच्चा इह भविस्सामि' इत्यादि, इह च मूले यदोपपातिकत्वमात्मनो निदिष्टं तदिह प्रपञ्चयत इत्यर्थतोऽङ्गस्य समीपभावेनेदमुपाङ्गम् । —श्रीपातिक अभयदेववृत्ति

प्रस्तुत आगम के सम्पादक डॉ. छग्ननसालजी शास्त्री हैं, जिन्होंने पहले उपासकदशांग का शानदार सम्पादन किया है। औपरातिक सूत्र के सम्पादन में भी उनकी प्रबल प्रतिभा यत्र-तत्र मुखरित हुई है। भनुवाद मूल विषय को स्पष्ट करने वाला है। जहाँ कहाँ उन्होंने विवेचन किया है, उनके गम्भीर पाण्डित्य को प्रदर्शित कर रहा है। तथा सम्पादनकलामर्मज पं. शोभावन्द्रजी भारिल्ल का गहन श्रम भी इसमें उजागर हुआ है।

मुझे पूर्ण विश्वास है—प्रस्तुत आगम जन-जन के अन्तर्भानि में त्याग-वैराग्य की ऊर्ति जागृत करेगा। अतिकबाद की आधी में स्व-स्वरूप को भूले हुए राधिकाएँ वह संज्ञा नहीं प्रकर्षित करेगी। जगत् में जाये हुए कितने ही तथ्यों पर मैंने संक्षेप में चिन्तन किया है। जिन्हाँ प्रबुढ़ पाठकवर्ग प्रस्तुत आगम का स्वाध्याय कर विचार-मुक्ताश्रों को प्राप्त करें, यही मंगल मनीषा !

—देवेन्द्रमुनि शास्त्री

जैन स्थानक सिंहपोल
जोधपुर (राजस्थान)
दि. ५ अगस्त १९८२
रक्षावन्धन

अनुद्राघात

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
चम्पा नगरी	३	एकरात्रिक भिक्षुप्रतिमा	४१
पूर्णभद्र चैत्य	४	नवुमोक्त प्रतिमा	४१
वन-खण्ड	८	यवमध्यचक्र प्रतिमा	४१
पादप	८	स्थविरों के मुण्ड	४२
अशोक वृक्ष	९	गुणसम्पन्न अनगार	४३
शिलापट्टक	१२	तप का विवेचन	४६
चम्पाधिपति कूणिक	१३	प्रतिसंलीनता	५५
राजमहिषी धारिणी	१४	योगप्रतिसंलीनता	५६
कूणिक का दरबार	१५	प्रायशिन्त	५७
भगवान् महाबीर : गदापंथ	१५	विनय-भेद-प्रभेद	५९
प्रवृत्तिव्यापृत द्वारा सूचना	१९	आचार्य	६०
कूणिक द्वारा भगवान् का परोक्ष वन्दन	२१	उपाध्याय	६१
भगवान् का चम्पा में आगमन	२३	स्थविर	६४
भगवान् के अन्तेश्वासी	२३	ध्यान	६९
ज्ञानी : शक्तिवर : तपस्वी	२४	ब्युत्सर्ग	७५
रत्नावली तप	२७	अनगारों द्वारा उत्कृष्ट धर्मसाधना	८०
कनकावली तप	२८	भगवान् की सेवा में असुरकुमार देवों का आगमन	८२
एकावली तप	२९	शेष भवनवासी देवों का आगमन	८४
लघुसिंहनिष्कीडित तप	३०	व्यन्तरदेवों का आगमन	८७
महासिंहनिष्कीडित तप	३१	ज्योतिष्क देवों का आगमन	८८
भद्र प्रतिमा	३२	बैमानिक देवों का आगमन	८८
महाभद्र प्रतिमा	३३	जन-समुदाय द्वारा भगवान् का वन्दन	९०
सर्वतोभद्र प्रतिमा	३३	महाराज कूणिक को सूचना	९३
लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा	३३	दर्शन-वन्दन की तैयारी	९३
महासर्वतोभद्र प्रतिमा	३५	प्रस्थान	१००
आर्यबिल वर्धमान	३६	दर्शन-लाभ	१०६
भिक्षुप्रतिमा	३८	रानियों का सपरिजन आगमन : वन्दन	१०७
अहोरात्रि भिक्षुप्रतिमा	४०	भगवान् द्वारा भर्म-देशना	१०८

विषय	पृष्ठ	विषय	पृष्ठ
परिषद्-विसर्जन	११४	आजीवकों का उपयात	१५४
इन्द्रभूति गौतम की जिज्ञासा	११६	आत्मोत्कर्षक प्रश्नजित अमणों का उपयात	१५५
पाप-कर्म का बन्ध	११७	निलूबों का उपयात	१५५
एकान्तवात् : एकान्तसुप्त का उपयात	११८	ग्रह्यारंभी आदि मनुष्यों का उपयात	१६०
किलशित-उपयात	११९	अनारंभी अमण	१६२
भृप्रकृति जनों का उपयात	१२२	सर्वकामादि विरत मनुष्यों का उपयात	१६५
परिक्लेश-बाधित नारियों का उपयात	१२३	केवलि-समुद्घात में कर्म-पुद्गलों का विस्तार	१६५
द्विद्व्यादिसेवी मनुष्यों का उपयात	१२४	केवलि-समुद्घात का हेतु	१६७
वानश्चस्थों का उपयात	१२५	समुद्घात का स्वरूप	१६८
प्रश्नजित अमणों का उपयात	१२६	समुद्घात के पश्चात् योग-प्रवृत्ति	१७०
परिवाजकों का उपयात	१२७	योग-निरोधः सिद्धाचस्था	१७१
अपदः परिवायक के सात सौ अन्तियासी	१२८	सिद्धों का स्वरूप	१७३
चमत्कारी अम्बड़ परिवाजक	१४१	सिद्धमान के संहनन, संस्थान आदि	१७३
अम्बड के उत्तरवर्ती भव	१४२	सिद्धों का परिवास	१७४
प्रत्यनीकों का उपयात	१५३	सिद्धः सार संक्षेप	१७५
संजी वज्रेन्द्रिय तिर्यक्योनि जीवों का उपयात	१५४	परिशिष्टः गण और कुल संबंधो विशेष विचार	१७६

ओपणातिकः सूत्र

चम्पा नगरी

१— तेण कालेण तेण समएण चंपा नामं नवरी होत्या— रिद्वत्तिथियसमिद्धा, पमुइयजणजाण-
वया, आइण्णजणमण्णसा, हलसयसहस्तसंकिटु-विकिटु-लटु-पण्णतसेउसीमा, कुकुडसंडेघनामपउरा,
उच्छुजवसालिकलिया, गो-महिस-भवेलगप्पमूया, आयारबंत-चेहयजुबइविहसण्णविटुबहुला, उष्को-
डियगायगंठिभेया-भड-तक्कर-खंडरक्खरहुया, खेमा, णिरुद्धया, सुभिक्खा, बीसत्यसुहावासा, अणेग-
कोडिकुडु वियाइण्णणिरुयमुहा, णड-णट्टा-अल्ल-मल्ल-मुट्ठिय-वेलंबग-कहग-पवग-लासग-आइखुग-मंख-
लंख-तूणइल्ल-न्तु व्यवीणिय-अणेगतालायराणुचरिया, आरामुजजाण-आगड-तसाग-बीहिय-वर्पिणगुणोव-
वेया, नंदणवणसन्निभप्पगासा, उविद्विउलगंभीरखायफलिहा, चक्क-गथ-भुभु'डि-ओरोह-सयग्धि-
ज्ञभलकवाड-घणदुप्पवेसा, धणुकुडिलवंकपागारपरिविखत्ता, कविसोसगवट्टरइयसंठियविरायमाणा,
अट्टालय-चरिय-दार-गोपुर-तोरण-समुण्णयसुविभस्तरायमगा, छेयायरियरइयदफलिहृइंदकीला, विष-
णिवणिछिसिप्पियाइण्णणिरुयसुहा, सिघाडग-तिग-चउक्क-चउच्चर-पणियावण-विविहृत्युपरि-
मंडिया, सुरम्मा, नरवइपविहण्णमहिवहपहा, अणेगवरतुरग-मस्तकु'जर-रहपहकर-सीय-संदमाणोआइण-
जाण-जुग्मा, विमउलगवणलिणिसोभियजला, पंडुरवरभवणसण्णमहिया, उत्ताणणयणपेच्छणिज्जा,
पासादीया, इरिसणिज्जा, अभिरुचा पडिरुचा ।

२— उस काल—वर्तमान अवसर्पिणी के लौथे आरे के अन्त में; उस समय—जब आर्य सुघर्मा
विद्यमान थे, चम्पा नामक नगरी थी । वह वैभवशाली, सुरक्षित एवं समृद्ध थी । वहाँ के नागरिक
और जनपद के अन्य भागों से आये व्यक्ति वहाँ आमोद-प्रमोद के प्रचुर साधन होने से प्रमुदित रहते
थे । लोगों की वहाँ घनी आवादी थी । सेंकड़ों, हजारों हलों से जुती उसकी समीपवर्ती भूमि सहजतया
सुन्दर मार्ग-सीमा सी लगती थी । वहाँ मुग्गों और युद्ध सांडों के बहुत से समूह थे । उसके आसपास
की भूमि ईख, जो और धान के पौधों से लहलहाती थी । वहाँ गायों, भेसों, भेड़ों की प्रचुरता थी ।
वहाँ सुन्दर शिल्पकलायुक्त चैत्य और युवतियों के विविध सन्निवेशों—पण्ण तरुणियों के पाड़ों—टोलों
का बाहुल्य था । वह रिष्वतखोरों, गिरहकटों, बटमारों, चारों, खण्डरक्षकों—चुंगी वसूल करने वालों
से रहित, सुख-शान्तिमय एवं उपद्रवशून्य थी । वहाँ भिक्षुकों को भिक्षा सुखपूर्वक प्राप्त होती थी,
इसलिए वहाँ निवास करने में सब सुख मानते थे, आश्वस्त थे । अनेक श्रेणी के कौटुम्बिक—पारि-
वारिक लोगों की घनी बस्ती होते हुए भी वह शान्तिमय थी । नट—नाटक दिखाने वाले, नर्तक—
नाचने वाले, जल्ल—कलावाज—रस्सी आदि पर चढ़कर कला दिखाने वाले, मल्ल—पहलवान,
मौष्टिक—मुक्केबाज, विडम्बक—विद्रूषक—मसखरे, कथक—कथा कहने वाले, त्लवक—उछलने या
नदी आदि में तैरने का प्रदर्शन करने वाले, लासक—वीररस की गाथाएं या रास गाने वाले,

आख्यायक—शुभ अशुभ बताने वाले, लंख-बांस के सिरे पर खेल दिखाने वाले, मंख-चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वाले, तूणइल्ल-तूण नामक तन्तु-वाद्य बजाकर आजीविका कमाने वाले, तुंबवीणिक तुंब-वीणा या पूंगी बजाने वाले, तालाचर—ताली बजाकर मनोविनोद करने वाले आदि अनेक जनों से वह सेवित थे । शःराम-कीड़ादाटिना, उदाग-उगीजे, हुए, तालाब, बावडी, जल के छोटे-छोटे बाँध—इनसे युक्त थी, नैदनवन-सी लगती थी । वह ऊंची, विस्तीर्ण और गहरी खाई से युक्त थी, चक्र, गदा, भुसुंडि—पत्थर फेंकने का एक विशेष अस्त्र—गोफिया, अवरोध—अन्तर-प्राकार शत्रु सेना को रोकने के लिए परकोटे जैसा भीतरी सुदृढ़ आवरक साधन, शतघ्नी—महायष्टि या महाशिला, जिसके गिराये जाने पर सैकड़ों व्यक्ति दब-कुचल कर मर जाएं और द्वार के छिद्र रहित कपाटयुगल के कारण जहाँ प्रवेश कर पाना दुष्कर था । घनुप जैसे टेढ़े परकोटे से वह घिरी हुई थी । उस परकोटे पर गोल आकार के बने हुए कपिशीर्षकों—कंगरों—भीतर से शत्रु-संन्य को देखने आदि हेतु निर्मित बन्दर के मस्तक के आकार के छेदों—से वह सुशोभित थी । उसके राजमार्ग, अट्टालक—परकोटे के ऊपर निर्मित आश्रय-स्थानों—गुमटियों, चरिका—परकोटे के मध्य बने हुए आठ हाथ चौड़े मार्गों, परकोटे में बने हुए छोटे द्वारों—बारियों, गोपुरों—नगरद्वारों, लोरणों से सुशोभित और सुविभक्त थे । उसकी अर्गला और इन्द्रकील—गोपुर के किवाड़ों के आगे जड़े हुए तुकीले भाले जैसी कीलें, सुयोग्य शिल्पाचार्यों—निपुण शिलिप्यों हारा निर्मित थीं । बिपणि—हाट-मार्ग, वणिक-क्षेत्र—व्यापार-क्षेत्र, नाजार आदि के कारण तथा बहुत से शिलिप्यों, कारीगरों के आवासित होने के कारण वह सुख-सुविधा पूर्ण थी । तिकोने स्थानों, तिराहों, चौराहों, चत्वरों—जहाँ चार से अधिक रास्ते मिलते हों, ऐसे स्थानों, बर्तन आदि की दूकानों तथा अनेक प्रकार की वस्तुओं से परिमित—सुशोभित और रमणीय थी । राजा की सवारी निकलते रहने के कारण उसके राजमार्ग पर भीड़ लगी रहती थी । वहाँ अनेक उत्तम धोड़े, मदोभूत हाथी, रथसमूह, शिविका—पद्देदार पालखियां, स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखियां, यान—गाड़ियाँ तथा युग्य—पुरातनकालीन गोललदेश में सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे चौड़े होली जैसे यान—इनका जमघट लगा रहता था । वहाँ खिले हुए कमलों से शोभित जल—जलाशय थे । सफेदी किए हुए उत्तम भवनों से वह सुशोभित, अत्यधिक सुन्दरता के कारण निनिमेष नेत्रों से प्रेक्षणीय, चित्त को प्रसन्न करने वाली, दर्शनीय, अभिरूप—मनोज—मन को अपने में रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन में बस जाने वाली थी ।

पूर्णभद्र चैत्य

२—तीसे णं चंवाए णयरोए बहिया उत्तरपुरुरहिथमे दिसीभाए पुण्यमहे नामं चेइए होत्या—चिराईए, पुब्वपुरिसपणते पोराणे, सद्विए, वित्तिए, कित्तिए, णाए, सञ्चत्ते, सज्जाए, सघण्टे, सपडाए, पडागाहपडागमंडिए, ससोमहत्थे, कपवेयदिडिए, साउल्लोहयमहिए, गोसीस-सरसरत्तचंबण-वद्वरविण्ण-पंचंगुलितले, उवचियचंदणकलसे, चंदणघडमुक्यतोरणपडिदुवारवेसभाए, आसत्तोसत्तविडलवद्वयग्धा-रियमल्लदामकलावे, पंचशणसरससुरभिमुक्कपुण्युजोवयारकलिए, कालागुरु-पवरकु-दुरुक-तुरुक-धूव-मध्यमध्यंतमधुयाभिरामे, सुगंधवरगंधगंधिए, गंधवट्टिभूए—

णद्व-णद्वग-जल्स-मत्तल्ल-मुट्टिय-वेलंबग-पवग-कहुग-लासग-आइबखग-लंख-मंख-सूणइल्ल-तुंब-बीणिय-भूयग-मागहपरिगए, बहुजणजाणवयस्त विसुवकित्तिए, बहुजणस्त आहुस्त आहुणिजे, पाहुणिजे, अचकणिजे, वंदणिजे, नमंसणिजे, पूषणिजे, सवकारणिजे, सम्माणणिजे, कस्साण, मंगल,

देवयं, चेहयं, विणएणं पञ्जाबासणिङ्गे, दिल्ले, सच्चने, सच्चोवाए, सणिणदिपाडिहेरे, जागसहस्रमाग-पञ्चिन्धए बहुजणो अच्चेइ आगम्म पुण्णभद्रचेइयं पुण्णभद्रचेइयं ॥

२—उस चम्पा नगरी के बाहर उत्तर-पूर्व दिशा भाग में—ईशान कोण में पूर्णभद्र नामक चैत्य—यक्षायतन था। वह चिरकाल से चला आ रहा था। पूर्व पुरुष—अतीत में हुए मनुष्य उसकी प्राचीनता की चर्चा करते रहते थे। वह सुप्रसिद्ध था। वह वित्तिक—वित्तयुक्त-चड़ावा, भैट आदि के रूप में प्राप्त सम्पत्ति से युक्त था अथवा वृत्तिक—आश्रित लोगों को उसकी ओर से आर्थिक वृत्ति दी जाती थी। वह कीर्तित—लोगों द्वारा प्रशंसित था, न्यायशील था—लौकिक श्रद्धायुक्त पुरुष वहाँ आकर न्याय प्राप्त करते थे अथवा वह ज्ञात—अपने प्रभाव आदि के कारण विख्यात था। वह छत्र, छवजा, घण्टा तथा पताका युक्त था। वह छोटी और बड़ी भण्डियों से सजा था। सफाई के लिए वहाँ रोममय पिञ्चियाँ रखी थीं। वेदिकाएँ बनी हुई थीं वहाँ की भूमि गोबर आदि से लिपी थी। उसकी दीवारें खड़िया, कलई आदि से पुनी थीं। उसकी दीवारों पर गोलोचन तथा सरस—आई लाल चन्दन के, पाँचों अंगुलियों और हथेली सहित, हाथ की छायें लगी थीं। वहाँ चन्दन-कलश—चन्दन से चन्चित मंगल-घट रखते थे। उसका प्रत्येक द्वार-भाग चन्दन-कलशों और तोरणों से सजा था। जमीन से ऊपर तक के भाग को छूती हुई बड़ी-बड़ी, गोल तथा लम्बी अनेक पुष्पमालाएँ वहाँ लटकती थीं। पाँचों रंगों के सरस—ताजे फूलों के ढेर के ढेर के ढेर वहाँ चढ़ाये हुए थे, जिनसे वह बड़ा भुन्दर प्रतीत होता था। काले अगर, उत्तम कुन्दरुक, लोबान तथा धूप की गमगमाती महक से वहाँ का वातावरण बड़ा मनोज्ज था, उत्कृष्ट सौरभमय था। सुगन्धित धूएं की प्रकृतता से वहाँ गोल-गोल धूममय छल्ले से बन रहे थे।

वह चैत्य नट—नाटक दिखानेवाले, नर्तक—नाचनेवाले, जहल—कलाबाज—रसी आदि पर चढ़कर कला दिखानेवाले, मल्ल—पहलवान, मौजिक—मुकेबाज, विडम्बक—विदूषक—मसखरे, प्लवक—उछलने या नदी आदि में तैरने का प्रदर्शन करनेवाले, कथक—कथा कहने वाले, लासक—बीर रस की गाथाएँ या रास गानेवाले, लंख—बौस के सिरे पर खेल दिखानेवाले, मंख—चिश्रपट दिखाकर आजीविका चलानेवाले, तूणइल्ल—तूण नामक तन्तुवाद्य बजाकर आजीविका चलानेवाले, तुम्बवोणिक—तुम्ब-बीणा या पूँगी बजानेवाले, भोजक—भक्ति प्रधान गीत गायक तथा मागध—भाट आदि यशोगायक जनों से युक्त था। अनेकानेक नागरिकों तथा जनपदवासियों में उसकी कीर्ति फैली थी। बहुत से दानशील, उदार पुरुषों के लिए वह आहवनीय—आह्वान करने योग्य, प्राहवणीय—विशिष्ट विधि-विधान पूर्वक आह्वान करने योग्य, अचंनीय—चन्दन आदि सुगन्धित द्रव्यों से अचंना करने योग्य, वन्दनीय—स्तुति आदि द्वारा वन्दना करने योग्य, नमस्करणीय—प्रणमन, पूर्वक नमस्कार करने योग्य, पूजनीय—पुष्प आदि द्वारा पूजा करने योग्य, सत्करणीय—वस्त्र आदि द्वारा सत्कार करने योग्य, सम्माननीय—मन से सम्मान देने योग्य, कल्याणमय—कल्याण—अर्थ, प्रयोजन या कामना पूर्ण करने वाला, मंगलमय—अनर्थप्रतिहारक—अवाज्ज्ञत स्थितियाँ मिटानेवाला, दिव्य—दैवी शक्ति युक्त तथा विनयपूर्वक पद्युपासनीय—विशेष रूप से उपासना करने योग्य था। वह दिव्य, सत्य एवं सत्योपाय—अपने आराधकों की सेवा को सफल करने वाला था। वह अतिशय व अतीन्द्रिय प्रभाव युक्त था, हजारों प्रकार की पूजा-उपासना उसे प्राप्त होती थी। बहुत से लोग वहाँ आते और उस पूर्णभद्र चैत्य की अर्चना-पूजा करते।

विवेचन—इस सन्दर्भ में प्रयुक्त चेत्य शब्द कुछ विवादास्पद है। चेत्य शब्द अनेकार्थवाची है। सुप्रसिद्ध जैनाचार्य पूज्य श्री जयमलजी म० ने चेत्य शब्द के एक सौ बारह अर्थों की व्येषणा की।^१

१. चेत्यः प्रासाद-विजेयः १ चेहयं हरिष्वते २।
- चेत्यं चेतन्य-नाम स्यात् ३ चेहयं च सुधा सृता ४॥
- चेत्यं ज्ञानं समाख्यातं ५ चेहयं मानस्य मानवः ६।
- चेहयं यतिरुचिः स्यात् ७ चेहयं भग्मुच्यते ८॥
- चेत्यं जीवमवाप्नोति ९ चेई भोगस्य रंभणम् १०।
- चेत्यं भोग-निवृत्तिश्च ११ चेई विनयनीचकौ १२॥
- चेत्यं पूष्णिमाच्छन्नः स्यात् १३ चेई गृहस्य रंभणम् १४।
- चेत्यं गृहमव्यावाधं १५ चेई च मृहल्लादनम् १६॥
- चेत्यं गृहस्तंभं चापि १७ चेई नाम वनस्पतिः १८।
- चेत्यं पर्वताग्रे वृक्षः १९ चेई वृक्षस्यस्थूलनम् २०॥
- चेत्यं वृक्षसारश्च २१ चेई चतुष्कोणस्तथा २२।
- चेत्यं विज्ञान-पुरुषः २३ चेई देहशक्ति कथ्यते २४॥
- चेत्यं गुणज्ञो जेधः २५ चेई च शिव-ज्ञासनम् २६।
- चेत्यं मस्तकं पूर्णं २६ चेई वयुहीनकम् २८॥
- चेई आप्वमवाप्नोति २९ चेहय खर उच्यते ३०।
- चेत्यं हस्ती विजेयः ३१ चेई च विमुखीं विदुः ३२॥
- चेत्यं नृसिंह-नाम स्यात् ३३ चेई च शिवा पुनः ३४।
- चेत्यं रंभानामोक्तं ३५ चेई स्यान्मृदंगकम् ३६॥
- चेत्यं शग्दुलता प्रोक्ता ३७ चेई च इन्द्रवासणी ३८।
- चेत्यं पुरदरं-नाम ३९ चेई चेतन्यमत्तता ४०॥
- चेत्यं गृहि-नाम स्यात् ४१ चेई शास्त्र-धारणा ४२।
- चेत्यं वलेशहारी च ४३ चेई गांधीर्णी-स्त्रियः ४४॥
- चेत्यं तपस्त्री नारी च ४५ चेई पात्रस्य निर्णयः ४६।
- चेत्यं शकुनादि-वार्ता च ४७ चेई कुमारिका विदुः ४८॥
- चेई तु त्यक्त-रागस्य ४९ चेई धत्तूर कुट्टितम् ५०।
- चेत्यं शांति-वाणी च ५१ चेई बृद्धा वर्णिना ५२॥
- चेई ब्रह्माण्डमानं च ५३ चेई मयूरः कथ्यते ५४।
- चेत्यं च नारका देवाः ५५ चेई च बक उच्यते ५६॥
- चेई हास्यमवाप्नोति ५७ चेई निभृष्टः प्रोच्यते ५८।
- चेत्यं मंगल-वार्ता च ५९ चेई च काकिनी पुनः ५९॥
- चेत्यं पुत्रवती नारी ६१ चेई च मीनमेव च ६२।
- चेत्यं नरेन्द्रराज्ञी च ६३ चेई च मृगवत्तरी ६४॥
- चेत्यं गुणवती नारी ६५ चेई च स्मरमन्दिरे ६६।
- चेत्यं घर-फल्या नारी ६७ चेई च तरणी-स्तनौ ६८॥

चैत्य शब्द के सन्दर्भ में भाषावैज्ञानिकों का ऐसा अनुमान है कि किसी मृत व्यक्ति के जलने के स्थान पर उसकी स्मृति में एक वृक्ष लगाने की प्राचीनकाल में परम्परा रही है। भारतवर्ष से बाहर भी ऐसा होता रहा है। चिति या चिता के स्थान पर लगाये जाने के कारण वह वृक्ष 'चैत्य' कहा जाने लगा हो। आगे चलकर वह परम्परा कुछ बदल गई। वृक्ष के स्थान पर स्मारक के रूप में भक्तान बनाया जाने लगा। उस मकान में किसी लौकिक देव या यक्ष आदि की प्रतिमा स्थापित की जाने लगी। यों उसने एक देवस्थान या मन्दिर का रूप ले लिया। वह चैत्य कहा जाने लगा। ऐसा होते-होते चैत्य शब्द प्रायः मन्दिरादि शी हो गया।

प्रस्तुत सूक्त में आये हुए चैत्य के वर्णन से ऐसा प्रतीत होता है कि जहाँ वह लौकिक दृष्टि से पूजा का स्थान था, अनेक मनीतियाँ लेकर लोग वहाँ श्राते थे, वहाँ नागरिकों में श्रामोद-प्रमोद तथा

चैत्यं सुवर्णं-वर्णा, च ६९ चेई मुकुट-सागरो ७० ।
 चैत्यं स्वर्णा जटी चोक्ता ७१ चेई च अन्य-धानुषु ७२ ॥
 चैत्यं राजा चक्रवर्ती ७३ चेई च तस्य या: स्त्रियः ७४ ।
 चैत्यं विष्वात् पुरुषः ७५ चेई पुष्पमती-स्त्रियः ७६ ॥
 चेई ये मन्दिरं राजः ७७ चैत्यं वाराह-संभरः ७८ ।
 चेई च यत्यो धूर्ता: ९९ चैत्य गृहडपश्चिमि ८० ।
 चेई च पद्मनागिनी ८१ चेई रक्त-मंत्रेऽपि ८२ ।
 चेई चक्षुविहीनस्तु ८३ चैत्यं युवक पुरुषः ८४ ॥
 चैत्यं वासुकी नागः ८५ चेई पुष्पी निरवते ८६ ।
 चैत्यं भाव-शुद्धः स्यात् ८७ चेई शुद्धा च घंटिका ८८ ॥
 चेई द्रव्यमवाप्नोति ८९ चेई च प्रतिमा तथा ९० ।
 चेई सुभट् योद्धा च ९१ चेई च द्विविद्या शूद्धा ९२ ॥
 चैत्यं पुरुष-भूद्रश्च ९३ चैत्यं हार एव च ९४ ।
 चैत्यं नरेन्द्राभरणः ९५ चेई जटाधरो नरः ९६ ॥
 चेई च धर्म-दातार्यां ९७ चेई च विकथा पुनः ९८ ।
 चैत्यं चक्रपतिः सूर्यः ९९ चेई च विधि-भ्रष्टकम् १०० ॥
 चैत्यं राज्ञी शयनस्थानं १०१ चेई रामस्य गर्भता १०२ ।
 चैत्यं श्रवणे शुभे वाती १०३ चेई च इन्द्रजालकम् १०४ ॥
 चैत्यं यत्यासनं प्रोक्तं १०५ चेई च पापमेत्र च १०६ ।
 चैत्यमुदयकाले च १०७ चैत्यं च रजनीं पुनः १०८ ॥
 चैत्यं चन्द्रो द्वितीयः स्यात् १०९ चेई च लोकपालके ११० ।
 चैत्यं रत्नं महामूर्त्यं १११ चेई श्रन्योपधीः पुनः ११२ ॥

[इति अलंकरणे दीर्घाह्याण्डे सुरेश्वरवातिके प्रोक्तम् प्रतिमा चेई शब्दे नाम १०मो छे। चेई नाम पांचमो छे। चेई शब्दे यति = साधु नाम ७म् छे। पछे यथा योग्य ठामे जे नामे हुवे ते जाणवो। सर्व चैत्य शब्दना आंक ५७, अने चेई शब्दे ५५ सर्व ११२ लिखितं पू० भूधरजी तत्त्वात् ऋषि जयमल नागौर भर्ते सं० १८०० चैत सुदी १० दिने]

—जयध्वज, पृष्ठ ५७३-७६

हास-विनोद का भी वह स्थान था, जो वहाँ नर्तकों, कलाबाजों, पहलवानों, मसखरों, कथा कहने-वालों, दादा बजानेवालों, मामधों—यशांगायकों आदि की अवस्थिति से प्रकट होता है।

बन-खण्ड

३—से ण पुण्णभद्रे चेइए एककेण भहया बणसंडेण सञ्चओ समंता परिक्षित्ते । से ण बणसंडे किण्हे, किण्होभासे, नीले, नीलोभासे, हरिए, हरिभोभासे, सीए, सीओभासे, णिद्वे, णिद्वोभासे, लिध्वे, तिव्वोभासे, किण्हे, किण्हच्छाए, नीले, नीलच्छाए, हरिए, हरियच्छाए, सीए, सीयच्छाए, णिद्वे, णिद्वच्छाए, लिध्वे, तिव्वच्छाए, घणकडिअकडिच्छाए, रम्मे, महामेहणिकुरंबम्मए ।

३—वह पूर्वभद्र चैत्य सब ओर से—चारों ओर से एक विशाल बन-खण्ड से घिरा हुआ था। सघनता के कारण वह बन-खण्ड काला, काली आभावाला, (मोर की गर्दन जैसा) नीला, नीली आभावाला तथा (तोते की पूँछ जैसा) हरा, हरी आभावाला था। लताओं, पौधों व वृक्षों की प्रचुरता के कारण वह (बन-खण्ड) स्पर्श में शीतल, शीतल आभामय, स्निग्ध—चिकना, रक्षारहित, स्निग्ध आभामय, तीव्र—सुन्दर वर्ण आदि उत्कृष्ट गुणयुक्त तथा तीव्र आभामय था।

यों वह बन-खण्ड कालापन, काली छाया, नीलापन, नीली छाया, हरापन, हरी छाया, शीतलता, शीतल छाया, स्निग्धता, स्निग्ध छाया, तीव्रता तथा तीव्र छाया लिये हुए था। वृक्षों की शाखाओं के परस्पर गुंथ जाने के कारण वह गहरी, सघन छाया से युक्त था। उसका दृश्य ऐसा रमणीय था, मानों बड़े-बड़े बादलों की घटाएँ घिरी हों।

पादप

४—ते ण पायवा मलमंतो कंदमंतो, खंधमंतो, तथामंतो, सालमंतो, पदालमंतो, पत्तमंतो, पुण्फमंतो, फलमंतो, बीयमंतो, अण्पुद्वसुजाय-रुद्वल-बद्वभादपरिणया, एवकर्खंधा, अणेगसाला, अणेग-साहृप्पसाहृविडिधा, अणेगनरवामसुप्पसारियअगोज्ज्ञं घणविउलबद्वखंधा, अच्छद्वपत्ता, अविरलपत्ता, अवाईणपत्ता, अणईअपत्ता, निद्वयजरद्वपंडुयत्ता, णवहरियभिसंतपत्तभारंधथारगंभीरदरिसणिज्जा, उवणिगगयणवतरुणपत्त - पल्लव - कोमल - उडजलचलंतकिसलय-मुकुमालपवालसोहियवर्कुरभ्यसिहरा, णिच्चं कुसुमिया, णिच्चं माइया, णिच्चं लवइया, णिच्चं यवइया, णिच्चं गुलइया, णिच्चं गोच्छिया, णिच्चं जमलिया, णिच्चं जुवलिया, णिच्चं विणमिया, णिच्चं पणमिया, णिच्चं कुसुमिध-माइय-लवइय-यवइय-गुलइय-गोच्छिय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमिय-सुविभत्तपिडमंजरिवडिसयधरा, सुय बर-हिण-मयणसाल-कोइल-कोभगक-भिगारग-कोडलग-जीवंजीवग-णंदीमुह-कविलपिण्यलवखग-फारंड-चकक-वाय-कलहंस-सारस-अणेगसउणगणमिहुणविरहयसद्दुण्णहयमहुरसरणाइए, सुरम्मे, संपिडियवरिय भभर-महुयरिपहकरपरिलित-मत्तछप्पय-कुसुमासवलोलमहुर-गुमगुमंतगुंजंतवेसमाए, अभिभंतरपुण्फफले, बाहिरपत्तोच्छणे, पत्तेहि य पुण्फेहि य ओच्छन्नपडिवलिच्छणे साउफले, निरोयए, अकंटए, णाणाविह-गुच्छ-गुच्छ-मंडवग-रभ्मसोहिए, विचित्तसुहकेउभूए, वावी-पुश्चरिणी-दीहियासु य मुनिवेसियरभ्मजाल-हरए पिडिमणीहारिमं सुगंधि सुहसुरभिमणहरं च महया गंधद्वणि मुयंता, णाणाविहगुच्छगुच्छगमंडव-गधरगसुहसेउकेउवहुला, अणेगरहजाणज्ञगसिवियपविमोयणर, सुरम्मा, पासादीया, दरिसणिज्जा अभिरुद्वा, अडिरुद्वा ॥

४—उस बन-खण्ड के वृक्ष उत्तम-मूल—जड़ों के ऊपरी भाग, कन्द—भीतरी भाग, जहाँ से जड़े फूटती हैं, स्कन्ध—तने, छाल, शाखा, प्रवाल—अंकुरित होते पत्ते, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज से

सम्पन्न थे । वे क्रमशः आनुपातिक रूप में सुन्दर तथा गोलाकार विकसित थे । उनके एक-एक—अविभक्त तना तथा अनेक शाखाएँ थीं । उनके मध्य आग अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं का विस्तार लिये हुए थे । उनके सघन, विस्तृत तथा सुधड़ तने अनेक मनुष्यों द्वारा फैलाई हुई भुजाओं से भी गृहीत नहीं किये जा सकते थे—धेरे नहीं जा सकते थे । उनके पत्ते छेदरहित, अविरल—घने—एक दूसरे से मिले हुए, अधोमुख-नीचे की ओर लटकते हुए तथा उपद्रव-रहित—नोरांग थे । उनके पुराने, पीले पत्ते झड़ गये थे । नये, हरे, चमकीले पत्तों की सघनता से वहाँ अंधेरा तथा भम्भीरता दिखाई देती थी ।

नवीन, परिपुष्ट पत्तों, कोमल उज्ज्वल तथा हिलते हुए किसलयों—पूरी तरह नहीं पके हुए पत्तों, प्रवालों—ताम्र वर्ण के नये निकलते पत्तों से उनके उच्च शिखर सुशोभित थे ।

उनमें कई वृक्ष ऐसे थे, जो सब ऋतुओं में फूलों, मंजरियों, पत्तों, फूलों के गुच्छों, गुलमों—लता-कुंजों तथा पत्तों के गुच्छों से युक्त रहते थे । कई ऐसे थे, जो सदा, समश्रेणिक रूप में—एक कतार में स्थित थे । कई ऐसे थे, जो सदा युगल रूप में—दो-दो की जोड़ी के रूप में विद्यमान थे । कई ऐसे थे, जो पुष्प, फल आदि के भार से नित्य विनमित—बहुत भुके हुए थे, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनन्त—नमे हुए थे ।

यों विविध प्रकार की अपनी-अपनी विशेषताएँ लिये हुए वे वृक्ष अपनी सुन्दर लुभियों तथा मंजरियों के रूप में मातो शिरोभूषण—कलंगियाँ धारण किये रहते थे । तोते, मोर, मैना, कोयल, कोभगक, भिगारक, कोण्डलक, चकोर, नन्दिमुख, तीतर, बटेर, बतख, चक्रवाक, कलहंस, सारस प्रभूति पक्षियों द्वारा की जाती आवाज के उन्नत एवं मधुर स्वरालाप से वे वृक्ष गुंजित थे, सुरम्य प्रतीत होते थे । वहाँ स्थित मदमाते भग्नरों तथा भ्रमरियों या मधुमक्खियों के समूह एवं पुष्परस—मकरन्द के लोभ से अन्यान्य स्थानों से आये हुए विविध जाति के भौंवर मस्ती से गुनगुना रहे थे, जिससे वह स्थान गुंजायमान हो रहा था ।

वे वृक्ष भीतर से फूलों और फलों से आपूर्ण थे तथा बाहर से पत्तों से ढके थे । वे पत्तों और फूलों से सर्वथा लदे थे । उनके फल स्वादिष्ट, नीरोग तथा निष्कण्टक थे । वे तरह-तरह के फूलों के गुच्छों, लता-कुंजों तथा मण्डपों द्वारा रमणीय प्रसीत होते थे, शोभित होते थे । वहाँ भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दर ध्वजाएँ फहराती थीं । चौकोर, गोल तथा लम्बी बावड़ियों में जाली-झरोखेदार सुन्दर भवन बने थे । दूर-दूर तक जाने वाली सुगन्ध के संचित परमाणुओं के कारण वे वृक्ष अपनी सुन्दर महक से मन को हर लेते थे, अत्यन्त तृप्तिकारक विपुल सुगन्ध छोड़ते थे । वहाँ नानाविधि, अनेकानेक पुष्पगुच्छ, लताकुंज, मण्डप, विश्राम-स्थान, सुन्दर मार्ग थे, भण्डे लगे थे । वे वृक्ष अनेक रथों, वाहनों, डोलियों तथा पालखियों के ठहराने के लिए उपयुक्त विस्तीर्ण थे ।

इस प्रकार के वृक्ष रमणीय, मवीरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाले तथा प्रतिरूप—मन में बस जाने वाले थे ।

अशोक-वृक्ष

५—तस्य एवं वर्णसंडस्य बहुमुख्यवेसमाए एत्य एवं महं एकके असोगवरपायवे पणत्ते—कुस-विकुस-विसुद्ध-खलखमूले, मूलमंते, कंदमंते, जाव (खंधमंते, तयामंते, सालमंते, पवालमंते, पत्तमंते, पुफमंते,

फलमर्ते, बीवमर्ते, अणुपुष्ट्वसुजायरुद्गलबद्वे मावपरिणए, एवकखंधे, अणेगसाहृष्ट्यसाहृष्टिदिमे, अणेगनरवामसुष्ट्यसारिय-अग्नेजसघणविडलबद्धखंधे, अच्छिद्वपत्ते, अविरलपत्ते, अवाईणपत्ते, अणईउपसे, निद्युजरहपंडुपत्ते, णव-हृष्टिय-मिसंत-पत्तभारधयारगंभोरवरिसणिउजे, उवणिगय-णव-तद्वण-पत्त-पहलव-कोभलउजलचलंत-किसलय-सुकुमालपवाल-सोहियवरंकुरणसिहरे, णिच्छं कुसुमिए, णिच्छं भाइए, णिच्छं लवहए, णिच्छं थवहए, णिच्छं गुलहए, णिच्छं गोच्छए, णिच्छं जमलिए, णिच्छं जुवलिए, णिच्छं विणमिए, णिच्छं पणमिए, णिच्छं कुसुमिय-माइय-लवहय-यवहय-गुलहय-गोच्छय-जमलिय-जुवलिय-विणमिय-पणमिय-सुविभलपिङ्मंजरिष्टिसयधरे, सुय-बरहिण-ययणसाल-कोइल-कोभगक-भिगारग-कोडलग-जीवंजोवग-णंवीमुह-कविलपिगलवखग - कारंड-चक्कवाय-कलहंस - सारस-अणेगसउणिगणमिहुणविरह्यसव्वुण्णह्यमहुरसरणाहए, सुरम्मे, संपिडिय-दरिय-ममर-महुयरिपहकर-परिसितमत्तछ्यप्यकुमुमासवलोलमहुरगुमगुमंतगुंजंतदेसभाए, अविभत्तर-पुण्फकले, बाहिरपत्तोळछ्यणे, पत्तेहि य पुण्फेहि य ओच्छश्वलिल्लिष्टणे, साउफले, तिरोयए, आकंटए, णाणा॒विहृगुच्छगुम्मभंडवगरम्म-सोहिए विचित्तमुहकेउभूए वावीपुवखरिणीवीहियासु य सुनिवेसिय-रम्मजालहरए पिडिमणीहारिमं सुगंधि सुहमुरभिमणहरं च महया गंधद्वृणि मुयते, णाणा॒विहृगुच्छ-गुम्म-मंडवग-घरगसुहसेउकेउवहमुले, अणेगरह-जाण-जुग-सिविय-परिमोषणे), सुरम्मे, पासावीए, वरिसणिजे अभिरुद्धे, पड्डिरुद्धे ॥

५—उस वन-खण्ड के ठीक बीच के भाग में एक विशाल एवं सुन्दर अशोक वृक्ष था । उसकी जड़ें डाख ददा दूसरे प्रकार के टूटों से दिल्लुग—रहित थीं । (वह वृक्ष उत्तम मूल—जड़ों के ऊपरी भाग, कन्द- भीतरी भाग, जहाँ से जड़ें फूटती हैं; स्कन्ध—तना, छाल, शाखा, प्रवाल- अंकुरित होते पत्ते, पत्र, पुष्प, फल तथा बीज सम्पन्न था । वह क्रमशः आनुपातिक रूप में सुन्दर तथा गोलाकार विकसित था । उसके एक—अविभक्त तना तथा अनेक शाखाएँ थीं । उसका मध्य भाग अनेक शाखाओं और प्रशाखाओं का विस्तार लिये हुए था । उसका सघन, विस्तृत तथा सुषड़ तना अनेक मनुष्यों द्वारा फैलाई हुई भुजाओं से भी गृहीत नहीं किया जा सकता था । घेरा नहीं जा सकता था । उसके पत्ते छेदरहित, अविरल—घने—एक दूगरे से मिले हुए, अधोमुख नीचे की ओर लटकते हुए तथा उपद्रव-रहित थे । उसके पुराने, पीले पत्ते भड़ गये थे । नये, हरे, चमकीले पत्तों की सघनता से वहाँ अंधेरा तथा गम्भोरता दिखाई देती थी । नवीन, परिपुष्ट पत्तों, कोमल, उज्ज्वल तथा हिलते हुए किसलयों— पूरी तरह नहीं पके हुए पत्तों, प्रवालों—ताम्र वर्ण के नये निकलते पत्तों से उसका उच्च धिक्कर सुशोभित था ।

वह सब झन्नुओं में फूलों, मंजरियों, पत्तों, फूलों के गुच्छों, गुलमों लता-कुंजों तथा पत्तों के गुच्छों से मुक्त रहता था । वह सदा गमथेणिक तथा युगल-रूप में दों-दों के जोड़ के बीच अवस्थित था । वह पुष्प, फल आदि के भार से रुदा विनमित—बहुत भुका हुआ, प्रणमित- विशेष रूप से प्रभिनत- नमा हुआ था ।

यों विविध प्रकार से अपनी विशेषताएँ लिये हुए वह वृक्ष अपनी सुन्दर लुम्बियों तथा मंजरियों के रूप में मानो शिरोभूषण—कलंगियाँ धारण किये रहता था । तोते, मोर, मैना, कोयल, कोभगक, भिगारक, कोण्डलक, चकोर, नन्दिभुख, नीतर, बटेर, बतख, चक्रवाल, कलहंस, सारस प्रभूति पक्षियों द्वारा की जाती आवाज के उन्नत एवं मधुर स्वरालाप से वह गुजित था, सुरम्य प्रतीत होता था । वही स्थित मदमाते अमर्यों तथा अमरियों या मधुमक्खियों के समूह एवं पुष्परस—मकरन्द के लोभ

से अन्यान्य स्थानों से आये हुए विविध जाति के भैंवरे मस्ती से गुनगुना रहे थे, जिससे वह स्थान गुजायमान हो रहा था।

वह वृक्ष भीतर से फूलों और फलों से आपूर्ण था तथा बाहर से पत्तों से ढँका था। यों वह पत्तों और फलों से सर्वथा लदा था। उसके फल स्वादिष्ट, नीरोग तथा निष्कण्ठक थे। वह तरह-तरह के फूलों के गुच्छों, लता-कुञ्जों तथा मण्डपों द्वारा रमणीय प्रतीत होता था, शोभित होता था। वहां भिन्न-भिन्न प्रकार की सुन्दर छवजाएँ कहराती थीं। चौकोर, गोल तथा लम्बी बाबड़ियों में जाली-भरोखेदार सुन्दर भवन बने थे। दूक दूर तक जानेवाली सुगन्ध के संचितारमाणुओं के कारण वह वृक्ष अपनी सुन्दर महक से मन को हर लेता था, अत्यन्त तृप्तिकारक विपुल सुगन्ध छोड़ता था। वहां नानाविधि अनेकानेक पुष्पगुच्छ, लता-कुञ्ज, मण्डप, गृह-विश्रामस्थान तथा सुन्दर मार्ग व अनेक छवजाएँ विद्यमान थीं। अति लिहाल होने से उसके लिये इनेक रक्ष, लक्ष, डोलियों और पालखियों के ठहराने के लिए पर्याप्त स्थान था।

इस प्रकार वह अशोक वृक्ष रमणीय, सुखप्रद—चित्त को प्रसन्न करनेवाला, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाला तथा प्रतिरूप—मनमें बस जाने वाला था।

६—से ०० असोकवरपायवे अण्णेहि बहृहि तिलएहि, लउएहि, छत्तोबेहि, सिरीसेहि, सत्तवण्णेहि, दहिवण्णेहि, लोद्वेहि, घवेहि, चंदणेहि, अज्जुणेहि, णीबेहि, कुडएहि, कलबेहि, सध्वेहि, फणसेहि, दालिमेहि, सालेहि, तालेहि, तमालेहि, पियएहि, पियंगूहि, पुरोबगेहि, रायरुक्खेहि, णंदिरुखेहि, सध्वन्नो समंता संपरिकिळासे ॥

६—वह उत्तम अशोक वृक्ष तिलक, लकुच, क्षत्रोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब, सव्य, पनस, दाढ़िम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियंगु, पुरोपग, राजवृक्ष, नन्दिवृक्ष—इन अनेक अन्य पादपों से सब ओर से विरा हुआ था।

७—ते ०० तिलया लउया जाव (छत्तोबया, सिरीसा, सत्तवण्णा, दहिवण्णा, लोढ़ा, घवा, चंदणा, अज्जुणा, णीबा, कुडया, कलंडा, सध्वा, फणसा, दालिमा, साला, ताला, तमाला, पियया, पियंगुया, पुरोबगा, रायरुक्खा,) णंदिरुखा, कुसविकुसविसुद्धरुखमूला, मूलमंतो, कंदमंतो, एएसि बण्णओ भाणियब्बो जाव^१ सिवियपरिमोयणा, सुरम्मा, दासादीया, परिसणिज्जा, अभिरूपा, परिरूपा ॥

७—उन तिलक, लकुच, (क्षत्रोप, शिरीष, सप्तपर्ण, दधिपर्ण, लोध्र, धव, चन्दन, अर्जुन, नीप, कुटज, कदम्ब, सव्य, पनस, दाढ़िम, शाल, ताल, तमाल, प्रियक, प्रियंगु, पुरोपग, राजवृक्ष) नन्दिवृक्ष—इन सभी पादपों की जड़ें डाभ तथा दूसरे प्रकार के तृणों से विशुद्ध—रहित थीं। उनके मूल, कन्द आदि दशों अंग उत्तम कोटि के थे।

यों वे वृक्ष रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप मन को अपने में रमा लेने वाले तथा प्रतिरूप—मनमें बस जानेवाले थे। उनका वर्णन अशोकवृक्ष के समान ज्ञान लेना चाहिए।

८—ते णं तिलया जाव' णविलयाऽग्नेहि बहूहि पउभलयाहि, णागलयाहि, असोग्नलयाहि, चंपगलयाहि, चूयलयाहि, वणलयाहि, वासंतियलयाहि, अहमुत्तयलयाहि कुंबलयाहि, साथलयाहि सब्बओ समंता संपरिविष्टा ।

९—वे तिलक, नन्दिवृक्ष, आदि पादप अन्य बहुत सी पद्मलताओं, नागलताओं, अशोकलताओं, चम्पकलताओं, सहकारलताओं, पीलुकलताओं, वासन्तीलताओं तथा अतिमुख्कलताओं से सब ओर से घिरे हुए थे ।

१०—ताक्षो णं पउभलयाऽग्ने णिच्चं कुसुमियाऽग्ने जाव (णिच्चं आहयाऽग्ने, णिच्चं लब्द्याऽग्ने, णिच्चं थव्याऽग्ने, णिच्चं गुलद्याऽग्ने, णिच्चं गोचिद्याऽग्ने, णिच्चं जमलियाऽग्ने, णिच्चं जुबलियाऽग्ने, णिच्चं विणमियाऽग्ने, णिच्चं पणमियाऽग्ने, णिच्चं कुसुमिय-माहय-सव्याय-यव्याय-गुलद्य-गोचिद्य-जमलिय-जुबलिय-विणमिय-पणमियसुविभत्तपिङ्गमंजरिवडिसयधराऽग्ने,) पासादीयाऽग्ने, वरिसणिजजाऽग्ने, अभिहङ्काऽग्ने, पडिरुवाऽग्ने ।

११—वे लताएं सब श्रद्धुओं में फूलती थीं (मंजरियों, पत्तों, फूलों के गुच्छों, गुलमों तथा पत्तों के गुच्छों से युक्त रहती थीं) । वे सदा समर्थणिक तथा युगल रूप में अवस्थित थीं । वे पुष्प, फल आदि के भार से सदा विनमित—बहुत झुकी हुई, प्रणमित—विशेष रूप से अभिनत—नमी हुई, थीं । यों विविध प्रकार से अपनी विशेषताएँ लिये हुए वे लताएँ अपनी सुन्दर लुम्बियों तथा मंजरियों के रूप में मानो शिरोभूषण—कलंगियाँ धारण किये रहती थीं ।) वे रमणीय, मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप—मन में बस जाने वाली थीं ।

शिलापटुक

१२—तस्य णं असोग्वरपायवस्स हेट्टा इसि खंधसमल्लीणे एथ णं भरुं एकके पुढिसिलापटुए पणते—विवर्खंभायामउस्सेहसुप्पमाणे, किण्हे, अंजण-धण-किदाण-कुबलय-हलहरकोसेज्जागास-केस-कज्ज-लंगीखंजण-सिंगभेद-रिट्य - जंबूफल-असणग-सण-बंधण-णीलुप्पलपत्तनिकर - अयसिकुमुमध्यगासे, मरणय-मसारकलित्त-णयणकोयरासिवणे, णिद्वधणे, अदुसिरे आवंसयतलोषमे, सुरम्मे, ईहामिय-उसभ-तुरग-णर-मगर-विहग-वालग-किण्णर-हह-सरभ-छमर-कुंजर-वणलय-पउभलय-भत्तिचित्ते, ग्राई-णग-रुय-बूर-णवणीय-तूलफरिसे, सीहासणसंठिए, पासादीए, वरिसणिज्जे, अभिरूपे, पडिरुवे ।

१३—उस अशोक वृक्ष के नीचे, उसके तने के कुछ पास एक बड़ा पृथिवी-शिलापटुक—चबूतरे की ज्यों जमी हुई मिट्टी पर स्थापित शिलापटुक—था । उसकी लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊंचाई समुचित प्रमाण में थी । वह काला था । वह अंजन (वृक्षविशेष), बादल, छपाण, नीले कमल, बलराम के वस्त्र, आकाश, केश, काजल की कोठरी, खंजन पक्षी, भैंस के सींग, रिष्टक रत्न, जामुन के फल, बीयक (वनस्पतिविशेष), सन के फूल के ढंगल, नील कमल के पत्तों की राशि तथा ग्रसी के फूल के सदृश प्रभा लिये हुए था ।

नील मणि, कसौटी, कमर पर बाँधने के चमडे के पट्टे तथा गाँधों की कनीनिका—तारे—इनके पुंज जैसा उसका दर्ण था । वह अत्यन्त स्निध्य—चिकना था । उसके आठ कोने थे । वह दर्पण

के तल के समान सुरक्षा था। भेड़िये, बंल, घोड़े, मनुष्य, मगर, पक्षी, सौप, किंशर, रुह, अष्टापद चमर, हाथी, बनलता और पद्मलता के चित्र उस पर बने हुए थे। उसका स्पर्श मृगझाला, कपास, बूर, मवखन तथा आक की रुई के समान कोमल था। वह आकार में सिद्धासन जैसा था।

इस प्रकार वह शिलापट्टक मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप—मन को अपने में रमा लेने वाला और प्रतिरूप—मन में बस जाने वाला था।

चम्पाधिपति कणिक

११—सत्य वं चंपाए ज्यवरीए कूणिए जामं राया परिवसइ—महयाहिमवंत-भहुतमलय-मंबर-
महिदसारे, अच्छंतविसुद्धदीहरायकुलबंससुप्पसूए, णिरंतरं रायलबखणविराइयंगमंगे, बहुजयबहुमाण-
पूइए, सञ्चवगुणसमिद्दे, खत्तिए, मुहए, मुद्भाहिसित्ते, माउपिडसुजाए, दयपसे, सीमंधरे,
सेमंकरे, लेमंधरे, मणुस्सिदे, जणवयपाले, जणवयपुरोहिए, सेउकरे, केउकरे, णरपवरे,
पुरिसवरे, पुरिससीहे, पुरिसवधे, पुरिसासीविसे, पुरिसपूङ्गीए, तुरिसइसंधहृत्यो, अड्हे, दिसे, विसे,
विच्छणिणविउलभवण-सवणासण-ज्ञाण-बाहुण१५णे, बहुधण-बहुजायहृथ-रयए, आओगपथोगसंपउत्ते,
विच्छुमियपउरभत्तवाणे, बहुवासी-दास-गो-महिस-गवेलगप्पसूए, पद्धिपुणजंतकोसकोट्टागाराडधागारे,
बलवं, दुब्बलपच्चामिसे, ओहयकंटयं, निहयकंटयं, मलियकंटयं, उद्दियकंटयं, अकंटयं, ओहयसस्,
निहयसत्, मलियसस्, उद्दियसत्, निजियसत्, पराइयसत्, ववगयवुडिमकडं, मारियविष्पमुकडं,
लेमं, सिवं, सुभिकडं, पसंतडिबडमरं रुजं पसासेमाणे विहरड।

११— चम्पा नगरी का कूणिक नामक राजा था, जो वहाँ निवास करता था। वह महाहिमवान् पर्वत के समान महत्ता तथा मलय, मेरु एवं महेन्द्र (संजक पर्वतों) के सदृश प्रशान्ता या विशिष्टता लिये हुए था। वह अत्यन्त विशुद्ध—दोषरहित, चिरकालीन—प्राचीन राजवंश में उत्पन्न हुआ था। उसके अंग पूर्णतः राजोचित लक्षणों से सुशोभित थे। वह बहुत लोगों द्वारा श्रद्धा सम्भानित और पूजित था, सर्वगुणसमूह—सब गुणों से शोभित क्षत्रिय था—जनता को आक्रमण तथा संकट से बचाने वाला था। वह सदा मुदित^१—प्रसन्न रहता था। अपनी पैतृक परम्परा द्वारा, अनुशासनवर्ती अन्यान्य राजाओं द्वारा उसका मूर्छाभिषेक—राजाभिषेक या राजतिलक हुआ था। वह उत्तम मातापिता से उत्पन्न उत्तम पूत्र था।

वह स्वभाव से कहणाशील था। वह मर्यादाओं की स्थापना करने वाला तथा उनका पालन करने वाला था। वह क्षेमकर—सबके लिए अनुकूल स्थितियों उत्पन्न करने वाला तथा क्षेमघर—उन्हें स्थिर बनाये रखने वाला था। वह परम ऐश्वर्य के कारण मनुष्यों में इन्द्र के समान था। वह अपने राष्ट्र के लिए पितृतुल्य, प्रतिपालक, हितकारक, कल्याणकारक, पथदर्शक तथा आदर्श उपस्थापक था। वह नरप्रबर—वैभव, सेना, शक्ति आदि की अपेक्षा से मनुष्यों में श्रेष्ठ तथा पुरुषवर—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष रूप चार पुरुषाधीयों में उच्चमशील पुरुषों में परमार्थ-चिन्तन के कारण श्रेष्ठ था। कठोरता व पराक्रम में वह सिहतुल्य, रीढ़ता में बाघ सदृश तथा अपने क्रोध को सफल बनाने के सामर्थ्य में सर्पतुल्य था। वह पुरुषों में उत्तम पुण्डरीक—सुखाधी, सेवाशील जनों के लिए इवेत कामल

१. टीकाकार आचार्य श्री अमयदेवसूरि ने 'मुदित' का एक दूसरा अर्थ निर्दोषमातृक भी किया है। उसे सन्दर्भ में उन्होंने उल्लेख किया है—“मुद्दमो जो होइ जोगिमुद्दोति ।” —पौष्पातिक सप्तव वृत्ति, पात्र ११

जैसा सुकुमार था । वह पुरुषों में गम्भीरता के समान था—अपने विरोधी राजा रूपी हाथियों का मान-भंजक था । वह समृद्ध, दृष्टि—दर्पे या प्रभावयुक्त तथा वित या वृत्त—सुप्रसिद्ध था । उसके यहाँ बड़े-बड़े विशाल भवन, सोने-चैठने के आसन तथा रथ, घोड़े आदि सदाचिरियाँ, बाहन बड़ी मात्रा में थे । उसके पास विपुल सम्पत्ति, सोना तथा चाँदी थी । वह आयोग-प्रयोग—अर्थ साध के उपायों का प्रयोक्ता था । धनवृद्धि के सन्दर्भ में वह अनेक प्रकार से प्रयत्नशील रहता था । उसके यहाँ भोजन कर लिये जाने के बाद बहुत खाद्य-सामग्री बच जाती थी । (जो तदपेक्षी जनों में बाट दी जाती थी ।) उसके यहाँ अनेक दासियाँ, दास, गायें, और तथा भेड़े थीं । उसके यहाँ यन्त्र, कोष—खजाना, कोष्ठागार—आदि वस्तुओं का भण्डार तथा शस्त्रागार प्रतिपूर्ण—अति समृद्ध था । उसके पास प्रभूत सेना थी । उसने अपने राज्य के सीमावर्ती राजाओं या पड़ोसी राजाओं को शक्तिहीन बना दिया था । उसने अपने संगीत्र प्रतिस्पद्धियों—प्रतिस्पद्धि व विरोध रखने वालों को विनष्ट कर दिया था । उनका धन छीन लिया था, उनका मान भंग कर दिया था तथा उन्हें देश से निर्वासित कर दिया था । यों उसका कोई भी संगोष्ठी विरोधी बच नहीं पाया था । उसी प्रकार उसने अपने (गोत्रभिन्न) शत्रुओं को विनष्ट कर दिया था, उनकी सम्पत्ति छीन ली थी, उनका मानभंग कर दिया था और उन्हें देश से निर्वासित कर दिया था । अपने प्रभावातिशय से उसने उन्हें जीत लिया था, पराजित कर दिया था ।

इस प्रकार वह राजा दुर्भिक्ष तथा महामारी के भय से रहित—निष्पद्व, क्षेममय, कल्याणमय, सुभिक्षयुक्त एवं शत्रुकृत विघ्नरहित राज्य का शासन करता था ।

राजमहिषी धारिणी

१२—तस्य एं कोणियस्स रणो धारिणी नामं देवी होत्या—सुकुमालपाणिपाया, अहीणपडि-पुण्णपंचिवियसरीरा, लवखण-वंजण-गुणोववेया, माणुम्भाणध्यमाणपडिपुण-सुजायलव्यगसुंवरंगी, ससिसोमाकारकंतपियदंसणा, सुरुवा, करयलपरिमियपसत्थतिवलीष्वलियमञ्जा, कुङ्डलुलिलहियगङ्डलेहा, कोमुहयरथणियरविमलपडिपुणसोमवयणा, सिगारागारचाहवेसा, संगयरथ-हसिय-भणिय-विहिय-विलास-सललियसंलाष्व-णिउणजुत्तोवयारकुसला, पासादीया, दरिसणिज्जा अभिलवा पडिलवा कोण-एण रणा भंभसारपुत्तेण सद्ब्रि अणुरत्ता, अविरत्ता इट्ठे सह-फरिस-रस-रुद्ध-गंधे पंचविहे माणुस्सए कामभोए पच्चणुभवमाणि विहरइ ॥

१२—राजा कूणिक की रानी का नाम धारिणी था । उसके हाथ-नैर सुकोमल थे । उसके शरीर की पाँचों इन्द्रियों अहीन-प्रतिपूर्ण—रचना की दृष्टि से अब्धिष्ठित, सम्पूर्ण, अपने अपने विषयों में सक्षम थीं । वह उत्तम लक्षण—सौभाग्यसूचक हाथ की रेखाओं आदि, व्यंजन—उत्कर्षसूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुण—शील, सदाचार, पातिव्रत्य आदि से युक्त थी । दैहिक फैलाव, बजन, ऊँचाई आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दरी थी । उसका आकार-स्वरूप चन्द्र के समान सीम्य तथा दर्शन कमनीय था । वह परम रूपवती थी । उसकी देह का मध्य भाग कमर हथेली के विस्तार जितनी या मुट्ठी द्वारा गृहीत की जा सके, इतना सा विस्तार लिये थी—बहुत पतली थी, पेट पर पड़ने वाली प्रकास्त—उत्तम तीन रेखाओं से युक्त थी । उसके कपोलों की रेखाएं कुण्डलों से उद्दीप्त—सुशोभित थीं । उसका मुख शरत्पूर्णिमा के चन्द्र के सदृश निर्मल, परिपूर्ण

तथा सौभग्य था । उसकी सुन्दर वेशभूषा ऐरो थी, मानो शृंगार-रस का आवास-स्थान हो । उसकी चाल, हँसी, बोली, कृति एवं दैहिक चेष्टाएँ संगत—समुचित थीं । लालित्यपूर्ण आलाप-संलाप में वह चतुर थी । समुचित लोक-व्यवहार में वह कुशल थी । वह मनोरम, दर्शनीय, अभिरूप तथा प्रतिरूप थी ।

कूणिक का वरदार

१३ - तस्य एण कोणियस्स रणे एके पुरिसे विउलकयवित्तिए भगवओ पवित्तिवाउए भगवओ तदेवसियं पवित्तिं णिकेवेत् ॥

१४—राजा कूणिक के यही पर्याप्त वेतन पर भगवान् महावीर के कार्यकलाप को सूचित करने वाला एक वाती-निवेदक पुरुष नियुक्त था, जो भगवान् के प्रतिदिन के विहारक्रम आदि प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में राजा को निवेदन करता था ।

१५ तस्य एण पुरिसस्स बहवे अणे पुरिसा विणभतिभत्तवेयणा भगवओ पवित्तिवाउया भगवओ तदेवसियं पवित्तिं णिकेवेति ॥

१६—उसने अन्य अनेक व्यक्तियों को भोजन तथा वेतन पर नियुक्त कर रखा था, जो भगवान् की प्रतिदिन की प्रवृत्तियों के सम्बन्ध में उसे सूचना करते रहते थे ।

१७—तेण कालेण सेण समएण कोणिए राया भंभसारपुत्ते बाहिरियाए उष्टुणसालाए अणेग-गणणायग-दंडणायग-राइसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-मति-महामति-गणग- दोवारिय-अमच्च - चेड-पीढमहृ-नगरनिगम-सेटु-सेणावहृ-सत्थवाहृ-दूय-संधिवाल-संद्वि संपरिवृत्ते विहरइ ।

१८—एक समय की बात है, भंभसार का पुत्र कूणिक अनेक गणनायक विशिष्ट जनसमूहों के अधिनेता, दण्डनायक—तन्त्रपाल—उच्च आरक्षि अधिकारी, राजा माडलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशाली पुरुष, तलवर—राज्यसम्मानित विशिष्ट नागरिक, माडविक—जागीरदार, भूस्वामी, कोटुम्बिक—बड़े परिवारों के प्रमुख, मन्त्री, महामन्त्री—मन्त्रिमण्डल के प्रधान, गणक—ज्योतिषी, द्वारपाल, अमात्य—राज्याधिष्ठायक—राज्य-कायी में परामर्शक, सेवक, पीठमर्द-परिपाशिक—राजसभा में आसन्नसेवारत पुरुष, नागरिक, व्यापारी, सेठ, सेनापति, राजा की चतुरंगिणी—रथ, हाथी, घोड़े तथा पैदल सेना के अधिनायक, सार्थवाह—दूसरे देशों में व्यापार करने वाले व्यवसायी, दूत—दूसरों तथा राजा के आदेश-सन्देश पहुँचाने वाले, सन्धिपाल—राज्य की सीमाओं के रक्षक—इन विशिष्ट जनों से संपरिवृत्त चारों ओर से घिरा हूँगा बहिर्वर्ती राजसभा भवन में अवस्थित था ।

भगवान् महावीर : पदार्पण

१९—तेण कालेण तेण समएण समणे भगवं महावीरे आइगरे, तित्थगरे, सहस्रबुद्धे, पुरिसुत्तमे,

१. दीकाकार आचार्य अभवदेवमूरि के अनुगार “श्रेष्ठिनः—श्रीदेवताऽयासितमौवर्णपट्टविभूवितोन्माङ्गः”

अर्थात् लक्ष्मी के चिह्न से अंकित स्वर्णपट्ट रे जिनका मरतक गुणोभित रहना था, वे श्रेष्ठी कहे जाते थे ।

गह सम्मान संभवतः उन्हें राज्य गे प्राप्त होता था ।

श्रीपपातिक मूल वृत्ति, पत्र १४

पुरिससीहे, पुरिसवरपुंजरीए, पुरिसवरगंधहृत्यो, अभयवए, अक्षुदए, मगदए, सरणवए, जीवदए, वीको, ताण, सरण, गई, पहटा, घम्मदवरचाडरंतचकवटी, अष्टिहृयवरनाणवंसणधरे, विष्टुच्छडमे, जिणे, जाणए, तिणे, तारए, मुत्ते, नोयए, चुद्दे, ओहुए, सध्यणू, सध्वदरिसी, सिवमयलमरुयमण्ठ-मवख्यमव्याख्याहृमपुणरावत्तगं सिद्धिपुणामधेज्जं ठाणं संपादितकामे, अरहा, जिणे, केवली, सत्तहृत्युसेहे, समचउरंससंठाणसंठिए, वउजरिसहनारायसंघयणे, आणुलोमवाउवेगे कंकरगहणी कबोय-परिणामे, सउणिपोसपिद्धंतरोरुपरिणए, पउमुपमध्यसरिसानिस्साससुरांमध्यणे, धूपी, निरव्यवः-वत्तम-पसत्थ-आइसेयनिरुवमपले, आल-भल्ल-कलंक-सेय-रय-दोसवजिज्यसरीरनिरुवलेवे, छायाउज्जोइयंगमंगे, घणनिचियसुबद्ध-लक्खणुप्पयकूडागारनिभपिडियमसिरए, सामलिबॉड-घणनिचियच्छोडियमिउविसय-पसत्थसुहुमलव्याणसुगंधसुन्दर-भूयमोयग-भिग-तील-कज्जल - पहटुममरगणणिद्धनिकुहं श्वतीचयकुंचिय-पयाहृणावसमुद्धसिरए, वालिमपुर्फरपगासत्वणिज्जनिमलसुणिद्धकेसंतकेसभूमी, छत्तागारुत्तिमंग-वेसे णिवण-सम-लटु-मटु-चंदद्वसमणिडाले, जडुवद्विपुणसोमवयणे, अल्लीणपमाणजुत्तसवणे, सुस्सवणे, पीण-मंसल-कबोलवेसभाए, आणामियचावहाल-किणहृभराइतणुकसिणणिद्धमभुहे, अवदालिय-पुंडरीयणयणे, कोआसियध्यवलपत्तलच्छे, गरुलाययउज्जृतुं गणासे, उवचियसिलप्पवाल-विवफलसण्ण-भाहरोट्ठे, पंडुर-ससिसयलविमलणिम्मतसंख-गोक्खोरकेण-कुंव-दगरय-मुणालिया-धवलदंतसेढी, अखंड-दंते, अफुडियदंते, अविरलदंते, सुणिद्धवंते, सुजायवंते, एगवंतसेढी विव श्रणेगवंते, हुयवहृणिद्ध-त-धोयतत्तत्वणिज्जरत्तत्तलतालुज्जीहे, अवद्वियसुविभत्तचित्तमंसू, मंसल-संठिय-पसत्थ-सद्दूलविउलहृणुए, चउरंगुलसुप्पमाणकंबुवरसरिसमीवे, वरमहिस-वराह-सीह-सद्दूल-उसभ-नागवर-पडिपुणविउलव्यधे, जुगसश्चिभवीण-रहयपीवरपउटु-सुसंठिय-सुसिलिद्ध-विसिद्ध - घण-विर-सुबद्धसंधिपुरवर-फलिहवद्वियभुए-भयगोसरविलभोगमायाणपलिहुउच्छूदवीहवाह, रत्ततलोवहय-मञ्चय-मंसल-सुजाय-लक्खणपसत्थ-अडिछहजालपाणी, पीदरकोमल-वरंगुली, आथंदतंवतलिणसुहुवहलणिद्धणेहे, चंदपाणिलेहे, संखपाणि-लेहे, चक्कपाणिलेहे, विसासोत्थयपाणिलेहे, चंद-सूर-संख-चक्क-दिसासोत्थयपाणिलेहे, कणगसिलाय-लुज्जल-पसत्थ-समतल-उवचिय-विच्छिणणपिहुसव्यद्धे, सिरिवच्छुंकिकवच्छे, अकरंदुयकणगरुययनिम्मल-सुजायनिरुहयदेहधारी, अटुसहसपडिपुणवरपुरिसलव्याणधरे, सण्णयपासे, संगयपासे, सुंवरपासे, सुजायपासे, मियमाहयपीणरहयपासे, उज्जय-समतहिय-जच्च-तणु-कसिण-णिद्ध-आहज्ज-लउह-रम-णिज्जरोमराई, झस-विहग-सुजायपीणकुच्छी, झसोयरे, सुइकरणे पउमवियडणाभे, गंगावत्तग-पयाहृणावस्त-तरंगमंगुर-रविकिरण-तवण-बोहियअकोसायंत-पउमगंभीरवियडणाभे, साहयसोणंद-मुसल-दण्णणजिकरियवरकणगच्छुसरिसवरवहरलियमज्जे, पमुइयवरतुरग-सीहवरवहद्वियकडी, वरतुरग-सुजायसुगुज्जवेसे, आहणहउव्यवणिरुवलेवे, वरवारणतुलविक्कमविसलियमई, गयससणसुजायसश्चिभोरु, समुगणिमग्गगूढजाणू, एणीकुरुविदावसवट्टाणपुव्वजंघे, संठियसुसिलिद्धगूढगुण्फे, सुप्पद्वियकुम्मच्चाह-चलणे, अणुपुद्ध-सूसंहयंगुलीए, उण्णयतणुतंबणिद्धुणक्ले, रत्तुप्पलपत्तमउयसुकुमालकोमलत्तले, अटुसह-सवरपुरिसलव्याणधरे, नग-नगर-मगर-सागर-च्छक-कवरंग-मंगलंकियच्छलणे, विसिहुल्वे, हुयवहृनिद्ध-मजलियसद्वितवियतव्यरविकिरणसरिसतेए, अणासवे, अभमे, अर्किचणे, छिप्पसोए, निरुवलेवे, ववगयपेम-राह-दोस-मोह, निगंथस्स पवयणस्स वेत्तए, सत्थनायगे, पहटुवए, समणगपई, समणगर्विदपरियद्विए, चउत्तीसबुद्धवयणाइसेसपत्ते, पणहीससच्चवयणाइसेसपत्ते, आगासगएणं चवकेणं, आगासगएणं छत्तेणं, आगासियाहि चामराहि, आगासफलिपामएणं सपायबीडेणं सीहासणेणं, धम्मज्जसएणं पुरओ पक्किज्ज-माणेण, चउट्टसाहि समणसाहस्सीहि, छत्तीसाए अजिज्यासाहस्सीहि सद्धि संपरिवुडे पुच्चाणुपुष्ट्य

चरमाणे, शामाणुगामं दूइज्जमाणे, सुहंसुहेण विहरमाणे चंपाए नयरीए बहिया उवणगरगामं उवागए
चंपं नगरि पुण्ड्रहृष्टं चेहयं समोसरित्तकामे ।

१६—उस समय श्रमण—बोर तप या साधना रूप श्रम में निरत, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्यसम्पन्न, महाबीर—उपद्रवों तथा विघ्नों के बीच साधना-पथ पर वीरतापूर्वक अविचल भाव से गतिमान्, आदिकर—अपने युग में धर्म के आधा प्रवर्तक, तीर्थकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका रूप चतुर्क्षिप्त धर्म-तीर्थ—धर्मसंघ के प्रतिष्ठापक, स्वयं-संबुद्ध—स्वयं बिना किसी अन्य निमित्त के बोध-प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुषसिंह—ग्रातम-जीर्ण में पुरुषों में सिंह-सदृश, पुरुषवर-पुंडरीक—मनुष्यों में रहते हुए कमल की तरह निलेप—आसक्तिशून्य, पुरुषवर-गन्धहस्ती—पुरुषों में उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्ध-हस्ती के पहुंचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी क्षेत्र में जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, अभयप्रदायक—सभी प्राणियों के लिए अभयप्रद-संपूर्णतः आहिसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नहीं करने वाले, चक्षु-प्रदायक-आन्तरिक नेत्र—सद्ज्ञान देने वाले, मार्ग-प्रदायक—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-पथ के उद्बोधक, शरणप्रद—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनप्रद—आध्यात्मिक जीवन के संबल, दीपक के सदृश समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा संसार-सागर में भटकते जनों के लिए द्वीप के समान आश्रयस्थान, प्राणियों के लिए आध्यात्मिक उद्बोधन के नाते शरण, गति एवं आधारभूत, चार अन्त-सीमा युक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, प्रतिघात—बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तञ्चदमा—अज्ञान आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—संसार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—संसार-सागर से पार उतारने वाले, मुक्त—बाहरी और भीतरी अन्धियों से छूटे हुए, मोक्षक—दूसरों को छुड़ाने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—औरों के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरूपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावतीन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार में आगमन नहीं होता, ऐसी सिद्ध-गति—सिद्धावस्था नामक स्थिति पाने के लिए संप्रवृत्त, अहंत—पूजनीय, रागादिविजेता, जिन, केवली—केवलज्ञानयुक्त, सात हाथ की देहिक ऊँचाई से युक्त, समचौरस संस्थान-संस्थित, वज्ज-क्रृषभ-नाराच-संहनन—अस्थिबन्ध युक्त, देह के अन्तर्वर्ती पवन के उचित वेग-गतिशीलता से युक्त, कंक पक्षी की तरह निर्दोष गुदाशय युक्त, कबूतर की तरह पाचन शक्ति युक्त, उनका अपान-स्थान उसी तरह निलेप था, जैसे पक्षी का, पीठ और पेट के नीचे के दोनों पाश्वं तथा जंघाएं सुपरिणित-सुन्दर-सुगठित थीं, उनका मुख पद्म—कमल अथवा पद्मनामक सुगन्धित द्रव्य तथा उत्पल—नील कमल या उत्पलकुण्ड नामक सुगन्धित द्रव्य जैसे सुरभिमय निःश्वास से युक्त था, छवि—उत्तम छविमान्—उत्तम त्वचा युक्त, नीरोग, उत्तम, प्रशस्त, अत्यन्त श्वेत मांस युक्त, जल्ल—कठिनाई से छूटने वाला मैल, मल्ल—आसानी से छूटने वाला मैल, कलंक—दाग, क्षब्दे, स्वेद—पसीना तथा रज-दोष—मिट्टी लगने से बिकृति—वजित शरीर युक्त, अतएव निरूपलेप—अत्यन्त स्वच्छ, दीप्ति से उद्योतित प्रत्येक अंगयुक्त, अत्यधिक सघन, सुबद्ध स्नायुबंध सहित, उत्तम लक्षणमय पर्वत के शिखर के समान उनका भस्तक था, बारीक रेशों से भरे सेमल के फल फटने से

निकलते हुए रेशों जैसे कोमल विशद, प्रशस्त, सूक्ष्म, इलक्षण—मुलायम, सुरभित, मुन्दर, भुजमोचक, नीलम, भींग, नील, कज्जल, प्रहृष्ट—सुपुष्ट अमरवृत्त जैसे चमकीले काले, घने, धुंधराले, छल्लेदार केश उनके मस्तक पर थे, जिस त्वचा पर उनके बाल उगे हुए थे, वह अनार के फूल तथा सोने के समान दीप्तिमय, लाल, निर्मल और चिकनी थी, उनका उत्तमांग मस्तक का ऊपरी भाग संधन, भरा हुआ और छत्राकार था, उनका ललाट निर्विण-फोड़े-फुन्सी आदि के घाव—चिह्न से रहित, समतल तथा सुन्दर एवं अर्द्ध चन्द्र के सदृश भव्य था, उनका मुख पूर्ण चन्द्र के समान सीम्य था, उनके कान मुख के साथ सुन्दर रूप में संयुक्त और प्रमाणोपेत—समुचित आकृति के थे, इससिए वे बड़े सुहावने लगते थे, उनके कपोल मांसल और परिपुष्ट थे, उनकी भींहें कुछ खींचे हुए धनुष के समान सुन्दर—टेढ़ी, काले बादल की रेखा के समान कृश—पतली, काली एवं स्तिरध थीं, उनके नयन खिले हुए पुंडरीक-सफेद कमल के समान थे, उनकी आँखें पद्म—कमल की तरह विकसित, धब्द समतल—बरीनी युक्त थीं, उनकी नासिका गरुड़ की तरह—गरुड़ की चोंच की तरह लम्बी, सीधी और उज्ज्वल थी, संस्कारित या सुवटित मूँगे की पट्टी-जैसे या बिम्ब फल के सदृश उनके होठ थे, उनके दाँतों की श्रेणी निष्कलंक चन्द्रमा के टुकड़े, निर्मल से भी निर्मल शंख, गाय के दूध, फेन, कुंद के फूल, जलकण और कमल-नाल के समान सफेद थी, दाँत अखंड, परिपूर्ण, अस्फुटित—सुदृढ़, दूट फूट रहित, अविरल—परस्पर सटे हुए सुस्तिर्ध—चिकने—आभामय, सुजात—सुन्दराकार थे, अनेक दीत एक दन्तश्रेणी की तरह प्रतीत होते थे, जिह्वा और तालु अम्बि में तपाये हुए और जल से धोये हुए स्वर्ण के समान लाल थे, उनकी दाढ़ी-मूँछ अवस्थित—कभी नहीं बहने वाली, सुविभक्त बहुत हल्की-सी तथा अद्भुत सुन्दरता लिए हुए थी, ठुड़डी मांसल—सुपुष्ट, सुगठित, प्रशस्त तथा चीते की तरह विपुल—विस्तीर्ण थी, ग्रीवा—गर्दन चार अंगुल प्रमाण चार अंगुल चीड़ी तथा उत्तम शंख के समान त्रिवलियुक्त एवं उज्ज्वल थी, उनके कन्धे प्रबल भैंसे, सूअर, सिंह, चीते, सांड तथा उत्तम हाथी के कन्धों जैसे परिपूर्ण एवं विस्तीर्ण थे, उनकी भुजाएं युग-गाड़ी के जुए अधवा धूप—यज्ञ स्तम्भ—यज्ञ के खुंटे की तरह गोल और लम्बी, सुदृढ़, देखने में आनन्दप्रद, सुपुष्ट कलाइयों से युक्त, सुशिलिष्ट—सुसंगत, विशिष्ट, घन—ठोस, स्थिर, स्नायुओं से यथावत् रूप में सुबद्ध तथा नगर की अर्गला—आगल के समान गोलाई लिए हुए थीं, इच्छित वस्तु प्राप्त करने के लिए नागराज के फैले हुए विशाल शरीर की तरह उनके दीर्घ बाहु थे, उनके पाणि—कलाई से नीचे के हाथ के भाग उन्नत, कोमल, मांसल तथा सुगठित थे, शुभ लक्षणों से युक्त थे, अंगुलियाँ मिलाने पर उनमें छिद्र दिखाई नहीं देते थे, उनके तल—हथेलियाँ ललाई लिए हुए, पतली, उजली, हचिर—देखने में रुचिकर, स्तिरध सुकोमल थीं, उनकी हथेली में चन्द्र, सूर्य, शंख, चक्र, दक्षिणावर्त स्वस्तिक की शुभ रेखाएं थीं, उनका वक्षस्थल—सीना स्वर्ण-शिला के तल के समान उज्ज्वल, प्रशस्त समतल, उपचित—मांसल, विस्तीर्ण चीड़ा, पृथुल—(विशाल) पा, उस पर श्रीवत्स—स्वस्तिक का चिह्न था, देह की मांसलता या परिपुष्टता के कारण रीढ़ की हड्डी नहीं दिखाई देती थी, उनका शरीर स्वर्ण के समान कान्तिमान्, निर्मल, सुन्दर, निरुपहृत—रोग-दोष-वजित था, उसमें उत्तम पुरुष के १००० लक्षण पूर्णतया विद्यमान थे, उनकी देह के पाश्व भाग—पसवाड़े नीचे की ओर क्रमशः संकड़े, देह के प्रभाण के अनुरूप, सुन्दर, सुनिष्पन्न, अत्यन्त समुचित परिभाण में मांसलता लिए हुए मनोहर थे, उनके वक्ष और उदर पर सीधे, समान, संहित—एक दूसरे से मिले हुए, उत्कृष्ट कोटि के, सूक्ष्म—हल्के, काले, चिकने उपादेय—उत्तम, लावण्यमय, रमणीय बालों की पंक्ति थी, उनके

कुक्षिप्रदेश—उदर के नीचे के दोनों पाँव्ह मत्स्य और पक्षी के समान सुजात—सुनिष्पन्न—सुन्दर रूप में अवस्थित तथा पीन—परिपुष्ट थे, उनका उदर मत्स्य जैसा था, उनके उदर का कारण—आनन्द समूह शुचि-स्वच्छ—निर्मल था, उनकी नाभि कमल की तरह विकट—गूढ़, गंगा के भंवर की तरह गोल, दाहिनी और चक्कर काटती हुई तरंगों की तरह घुमावदार, सुन्दर, चमकते हुए सूर्य की किरणों से विकसित होते रुमल के समान लिली हुई थी तथा उनकी देह का मध्यभाग त्रिकाण्डिका, मूसल बद्धण के हत्थे के मध्य-भाग के समान, तलवार की मूठ के समान तथा उत्तम बज्र के समान गोल और पतला था, प्रमुदित—रोग-शोकादि, रहित—स्वस्थ, उत्तम घोड़े तथा उत्तम सिंह की कमर के समान उनकी कमर गोल घेराव लिए थे, उत्तम घोड़े के सुनिष्पन्न गुप्तांग की तरह उनका गुह्य भाग था, उत्तम जाति के अश्व की तरह उनका शरीर 'मलमूत्र' विसर्जन की अपेक्षा से निलेप था, श्रेष्ठ हाथी के तुल्य पराक्रम और गम्भीरता लिए उनकी चाल थी, हाथी की सूँड की तरह उनकी जंघाएं सुगठित थीं, उनके घुटने डिढ़वे के ढक्कन की तरह निगूढ़ थे—मांसलता के कारण अनुन्नत—बाहर नहीं निकले हुए थे, उनकी पिण्डलियाँ हरिणी की पिण्डलियों, कुशविन्द घास तथा कते हुए सूत की गेंदी की तरह कमशः उतार सहित गोल थीं, उनके टखने सुन्दर, सुगठित और निगूढ़ थे, उनके चरण---पेर सुप्रतिष्ठित—सुन्दर रचनायुक्त तथा कल्पुए की तरह उठे हुए होने से मनोज्ञ प्रतीत होते थे, उनके पैरों की अंगुलियाँ कमशः आनुपातिक रूप में छोटी-बड़ी एवं सुसंहत—सुन्दर रूप में एक दूसरे से सटी हुई थीं, पैरों के नख उन्नत, पतले, तांबे की तरह लाल, स्तिर्घ—चिकने थे, उनकी पगधलियाँ लाल कमल के पत्ते के समान मृदुल, मुकुमार तथा कोमल थीं, उनके शरीर में उत्तम पुरुषों के १००० लक्षण प्रकट थे, उनके चरण पवंत, नगर, मगर, सागर तथा चक्र रूप उत्तम चिह्नों और स्वस्तिक आदि मंगल-चिह्नों से अंकित थे, उनका रूप विशिष्ट—असाधारण था, उनका तेज निर्वूम अग्नि को ज्वाला, विस्तीर्ण विद्युत् तथा अभिनव सूर्य की किरणों के समान था, वे प्राणातिपात आदि आस्तव-रहित, ममता-रहित थे, अकिञ्चन थे, भव-प्रवाह को उच्छ्वसन कर चुके थे—जन्म मरण से अतीत हो चुके थे, निरूपलेप—द्रव्य-दृष्टि से निर्मल देहधारी तथा भाव-दृष्टि से कर्मबन्ध के हेतु रूप उपलेप से रहित थे, प्रेम, राग, द्वेष और मोह का नाश कर चुके थे, तिर्गन्ध-प्रवचन के उपदेष्टा, धर्म-शासन के नायक—शास्ता, प्रतिष्ठापक तथा श्रमण-पति थे, श्रमण बृन्द से घिरे हुए थे, जिनेश्वरों के चौतीस बुद्ध-प्रतिशयों से तथा पंतीस सत्य-वचनातिशयों से युक्त थे, आकाशगत चक्र, छत्र, आकाशगत चंचर, आकाश के समान स्वच्छ स्फटिक से बने पाद-पीठ सहित सिंहासन, धर्मद्वज—ये उनके आगे चल रहे थे, चौदह हजार सातु तथा छतीस हजार सातिवयों से संगरिवृत—घिरे हुए थे, आगे से आगे चलते हुए, एक गाँव से दूसरे गाँव होते हुए सुखपूर्वक विहार करते हुए चम्पा के बाहरी उपनगर में पहुँचे, जहाँ से उन्हें चम्पा में पूर्णभद्र चंत्य में पद्धारना था ।

प्रवृति-व्यापूत द्वारा सूचना

१७—तद ए ए से पवित्रिवाज्ञ इमीसे कहाए लद्धद्धे सभाणे हद्वगुद्वचित्तमाणंदिए, पीड़िमणे, परमसोमणस्तिए, हरिसवत्तिविसप्तमाणहियए, प्हाए, कवद्वलिकम्मे, कयकोउय-मंगल-पायचिष्ठसे, बुद्धप्यावेसाईं मंगलाईं बत्थाईं पवरपरिहिए, अप्यमहग्याभरणालंकियसरोरे सयाओ गिहाओ यद्विणिक्खमह, पद्मिणिक्खमिता चंपाए जयहोए मञ्जश्चञ्जल्लेण जेणेव कोणियस्स रणो गिहे, जेणेव काहिरिया उबद्धाणसाला, जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छह, तेणेव उवागच्छत्ता करयलपरिगाहियं सिरसावत्तं भत्थए अंजलि कट्टु जाएण विजएण बद्धावेह, बद्धावित्ता एवं वयासी—

१७—प्रदृष्टि-निवेदक को जब यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात मालूम हुई, वह हर्षित एवं परितुष्ट हुआ। उसने अपने मन में आनन्द तथा प्रीति—प्रसन्नता का अनुभव किया। सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक से उसका हृदय खिल उठा। उसने स्नान किया, नित्यनैमित्तिक कृत्य किये, कौतुक—देहसज्जा की दृष्टि से नेत्रों में अंजन आंजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायश्चित्त—दुःखप्नादि दोषनिवारण हेतु चन्दन, कुकुम, दही, अक्षत, आदि से मंगल-विधान किया, शुद्ध, प्रवेश्य—राजसभा में प्रवेशोचित—उत्तम वस्त्र भलीभाँति पहने, थोड़े से—संछया में कम पर बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया। यों (सजकर) वह अपने घर से निकला। (घर से) निकलकर वह चम्पा नगरी के बीच जहाँ राजा कूणिक का महल था, जहाँ बहिर्बर्ती राजसभा-भवन था, जहाँ भंभसार का पुत्र राजा कूणिक था, वहाँ आया। (वहाँ) आकर उसने हाथ जोड़ते हुए, उन्हें सिर के चारों ओर घुमाते हुए, अंजलि बांधे “आपकी जय हो, विजय हो” इन शब्दों में वर्णापित किया। तत्पश्चात् इस प्रकार बोला—

१८—जस्स णं देवाणुपिया दंसणं कंखति, जस्स णं देवाणुपिया दंसणं पीहंति, जस्स णं देवाणुपिया दंसणं पत्थंति, जस्स णं देवाणुपिया दंसणं अभिलसति, जस्स णं देवाणुपिया णाभगोयस्स दि सवणयाए हट्टुतुट्टु जाव (चित्तमाणंदिया, पीइमणा, परम-सोमणस्सिया) हरिसवसविसप्पमाणहियया भवति, से णं समणे भगवं महावीरे पुद्धाणुपुविं चरमाणे, गामाणुग्रामं दूड्जजमाणे चंपाए णयरोए उवणगरमगामं उवागए, चंपं पर्णरि पुण्ड्रभद्रं चेइयं समोसरिजकामे। तं एवं देवाणुपियाणं पियट्टयाए पियं णिवेदेमि, पियं ते भवउ ॥

१९—देवानुप्रिय (सौम्यचेता राजन) ! जिनके दर्शन की आप कांक्षा करते हैं—प्राप्त होने पर छोड़ना नहीं चाहते, स्पूहा करते हैं—दर्शन न हुए हों तो करने की इच्छा लिये रहते हैं, प्रार्थना करते हैं—दर्शन हों, मुहुर्जनों से बैसे उपाय जानने की अपेक्षा रखते हैं, अभिलाषा करते हैं—जिनके दर्शन हेतु अभिमुख होने की कामना करते हैं, जिनके नाम (महावीर, ज्ञातपुत्र, सन्मति आदि) तथा गोत्र (कश्यप) के श्वरणमात्र से हर्षित एवं परितुष्ट होते हैं, मन में आनन्द तथा प्रसन्नता का अनुभव करते हैं, सौम्य मनोभाव व हर्षातिरेक से हृदय खिल उठता है, वे श्रमण भगवान् महावीर अनुक्रम से विहार करते हुए, एक गांव से दूसरे गांव होते हुए चम्पा नगरी के उगनगर में पधारे हैं। श्रव पूर्णभद्र चैत्य में पधारेंगे। देवानुप्रिय ! आपके प्रीत्यर्थ—प्रसन्नता हेतु यह प्रिय समाचार मैं आपको निवेदित कर रहा हूँ। यह आपके लिए प्रियकर हो।

२०—तए णं से कूणिए राथा भंभसारपुते तस्स पवित्तिवाउवस्स अंतिए एयमटु^१ सोच्चा णिसम्म हट्टुतुट्टु जाव^२ हियए, वियसियवरकमलण्यणवयणे, पयलियवरकडग-तुडिय-केऊर-मउड-कुडल-हार-विरायंतरइयवच्छे, पालंबपलंबमाणघोलंतभूसणधरे ससंभमं तुरियं, चबलं नरिदे सीहासणाओ अब्भुट्ठेइ, अब्भुट्टित्ता पायपीढाओ पच्चोषहइ, पद्धोषहित्ता, पाउयाओ ओमुयइ, ओमुइत्ता अवहट्टु पंच रायक-कुहाइ, तं जहा—१. खम्यं, २. छृत्तं, ३. उप्फेसं, ४. वाहणाओ, ५. वासवीयणं, एगसाडियं उत्तरासंग करेह, करेसा आयते, धोक्खे, परमसुहभूए, अंजलिभउलियहृत्ये तित्थगरामिमुहे ससद्वु, पयाइ अणुगच्छइ, सत्तदुपयाइ अणुगच्छत्ता वरमं जाणु^३ अंचेइ, वामं जाणु^४ अंचेत्ता दाहिणं

१. देखें सूत्र-संख्या १८

जाणुं धरणितलंसि साहृदटु तिक्खुत्तो मुद्वाणं धरणितलंसि निवेसेइ, निवेसित्ता ईसि पञ्चुणमइ, पञ्चुणमित्ता कडगतुङ्यथंभियाओ भुयाओ पडिसाहरइ, पडिसाहरित्ता करयल जाव (-परिभाहिथं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि) कटटु एवं बयासी ।

१९--भंभसार का पुत्र राजा कूणिक बातीनिवेदक से यह सुनकर, उसे हृदयंगम कर हृषित एवं परितुष्ट हुआ । उत्तम कमल के समान उसका मुख तथा नेत्र खिल उठे । हषातिरेकजनित संस्फूतिवश राजा के हाथों के उत्तम कडे, बाहुरक्षिका—भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखने वाली आभरणात्मक पट्टी, केशुर—भुजवन्ध, मुकुट, कुण्डल तथा बक्षःस्थल पर शोभित हार सहसा कम्पित हो उठे—हिल उठे ।

राजा के गले में लम्बी माला लटक रही थी, आभूषण भूल रहे थे । राजा आदरपूर्वक शीघ्र सिहासन से उठा । (सिहासन से) उठकर, पादपोठ (पैर रखने के पीछे) पर पैर रखकर नीचे उत्तरा । नीचे उत्तर कर पादुकाएँ उतारी । किर खड्ग, छव, मुकुट, बाहन, चंवर—इन पांच राजचिह्नों को अलग किया । जल से श्राचमन किया, स्वच्छ तथा परम शुचिभूत अति स्वच्छ व शुद्ध हुआ । कमल की फली को तरह हाथों को संपुष्टि किया—हाथ जोड़े । जिस और तीर्थकर भगवान् महावीर विराजित थे, उस ओर सात, आठ कदम सामने गया । बैसा कर अपने बायें घुटने को आकुचित—संकुचित किया—सिकोड़ा, दाहिने घुटने को भूमि पर टिकाया, तीन बार अपना मस्तक जमीन से लगाया । किर वह कुछ ऊपर उठा, कंकण तथा बाहुरक्षिका से सुस्थिर भुजाओं को उठाया, हाथ जोड़े, अंजलि (जुड़े हुए हाथों) को पहनके जारी दोन घुणाकर बोला ।

कूणिक द्वारा भगवान् का परोक्ष बन्दन

२०—जमोऽत्थु णं अरिहंताणं, भगवंताणं, आइगराणं, तित्यगराणं, सयंसंबुद्धाणं, पुरिसुत्त-भाणं, पुरिससीहाणं, पुरिसवरपुङ्गरीयाणं पुरिसवरगंधहस्थीणं, लोगुतमाणं लोगनाहाणं, लोगहियाणं लोगपईयाणं, लोगपञ्जोयगराणं, अभयदयाणं, चक्खुदयाणं, मगादयाणं, सरणदयाणं, औषदयाणं, बोहिदयाणं धम्मदयाणं, धम्मदेसयाणं, धम्मनायगाणं, धम्मसारहोणं धम्मवरचाउरंतचक्कवट्टीणं, दीवों, ताणं, सरणं, गई, पइट्टा, अप्पडिहयवरनाणदंसणधराणं, वियट्टुचउमाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिणाणं, तारयाणं, बुद्धाणं, बोहयाणं, मुत्ताणं, मोयगाणं, सब्बण्णूणं, सब्बवरिसीणं, सिवमयलमर्यमणंतमक्षय-मव्वावाहमपुणरावत्तगं, सिद्धिगइणमधेझें ठाणं संपत्ताणं ।

नमोऽत्थु णं समणस्स भगवओ महावीरस्स, आदिगरस्स, तित्यगरस्स जाव' संपादित्तकामस्स, मम धम्मायरियस्स धम्मोवदेसमस्स । बंदामि णं भगवंतं तत्थगयं इहगए, पासज मे भगवं तत्थगए इहगयं ति कटटु बंदह णमंसइ, चंदिता णमंसित्ता सीहासणवरगए, पुरत्थाभिमुहे निसीयइ, निसीहत्ता तस्स पवित्रिवाउयस्स अट्टुत्तरं सयसहस्सं पीडवाणं बलयह, दलइत्ता सक्कारेइ, सम्माणेइ, सक्कारित्ता, सम्माणित्ता एवं बयासी—

२०—अर्हत—इन्द्र आदि द्वारा पूजित ऋथवा कर्मशाकुओं के नाशक, भगवान्—आध्यात्मिक ऐश्वर्य सम्पन्न, आदिकर—अपने युग में धर्म के आद्य प्रवर्तक, तीर्थकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका

१. इस सूत्र में आये भगवान् के सभी विशेषण वर्ष्टी एकवचनात्त होकर यहाँ लगेंगे ।

रूप चक्रुचिद्धर्मसीर्थ—धर्मसंबुद्ध—स्वयं बोधप्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुषसिंह—आत्मशीर्ष में पुरुषों में सिंहसदृश, पुरुषवरपुण्डरीक—सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने के कारण पुरुषों में श्रेष्ठ श्वेत कमल के समान अथवा मनुष्यों में रहते हुए कमल की तरह निर्लेप, पुरुषवर-गन्धहस्ती—उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्धहस्ती के पहुँचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उस प्रकार किसी क्षेत्र में जिनके प्रवेश करते ही दुर्भिक्ष, महामारी आदि अनिष्ट दूर हो जाते थे, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी, लोकोत्तम—लोक के सभी प्राणियों में उत्तम, लोकताथ—लोक के सभी भव्य प्राणियों के स्वामी—उन्हें सम्यक्दर्शन एवं सन्मार्ग प्राप्त कराकर उनका योग-क्षेम^१ साधने वाले, लोकहितकर—लोक का कल्याण करने वाले, लोकप्रदीप—जान रूपी दीपक द्वारा लोक का अज्ञान दूर करने वाले अथवा लोकप्रतीप—लोकप्रवाह के प्रतिकूलगामी—अष्टात्मपथ पर गतिशील, लोकप्रद्योतकर—लोक, अलोक, जीव, अजीव आदि का स्वरूप प्रकाशित करने वाले अथवा लोक में धर्म का उद्योत केलाने वाले, अभयदायक—सभी प्राणियों के लिए अभयप्रद—सम्पूर्णतः अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नहीं करने वाले, चक्षुदायक—आन्तरिक नेत्र—सद्ज्ञान देने वाले, मार्गदायक—सम्यक् ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधनापथ के उद्बोधक, शरणदायक—जिज्ञासु तथा मुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनदायक—आध्यात्मिक जीवन के संबल, बोधिदायक—सम्यक् बोध देने वाले, धर्मदायक—सम्यक् चारित्र रूप धर्म के दाता, धर्मदेशक—धर्मदेशना देने वाले, धर्मनायक, धर्मसारथि—धर्मरूपी रथ के चालक, धर्मवरचातुरत्त-चक्रवर्ती—चार अन्त—सीमायुक्त पृथ्वी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, दीप—दीपक सदृश समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा दीप—संसार समुद्र में दूखते हुए जीवों के लिए दीप के समान बचाव के आधार, त्राण—कर्मकदर्थित भव्य प्राणियों के रक्षक, शरण—आथय, गति एवं प्रतिष्ठास्वरूप, प्रतिधात, बाधा या आवरणरहित उत्तम ज्ञान, दर्शन के धारक, व्याख्याताञ्जका—ज्ञान आदि आवरण रूप छ्यप से अतीत, जिन—राग आदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों के जाता अथवा ज्ञापक—राग आदि जीसने का पथ बताने वाले, तीर्ण—संसार-सागर को पार कर जाने वाले, तारक—दूसरों को संसार-सागर से पार उतारने वाले, बुद्ध—बोद्धव्य—जानने योग्य का बोध प्राप्त किये हुए, बोधक—ओरों के लिए बोधप्रद, सर्वश, सर्वदर्शी, शिव—कल्याणमय, अचल—स्थिर, निरुपद्रव, अन्तरहित, क्षयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार में आभमन नहीं होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्था को प्राप्त किये हुए—सिद्धों को नमस्कार हो ।

आदिकर, तीर्थकर, सिद्धावस्था पाने के इच्छुक (तदर्थ समुद्धत), मेरे धर्मचार्य, धर्मोपदेशक श्रमण भगवान् महाबीर को मेरा नमस्कार हो । यहाँ स्थित मैं, वहाँ स्थित भगवान् को बन्दन करता हूँ । वहाँ स्थित भगवान् यहाँ स्थित मुझको देखते हैं ।

इस प्रकार राजा कूणिक भगवान् को बन्दन करता है, नमस्कार करता है । बन्दन-नमस्कार कर पूर्व की ओर मुँह किये अपने उत्तम सिंहासन पर बैठा । (बैठकर) एक लाख आठ हजार मुद्राएँ बातीनिवेदक को प्रीतिवान—तुष्टिदान या पारितोषिक के रूप से दीं । उत्तम वस्त्र आदि द्वारा

१. अप्राप्तस्य प्राप्तयं योगः—जो प्राप्त नहीं है, उसका प्राप्त होना योग कहा जाता है । प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः—प्राप्त की रक्षा करना क्षेम है ।

उसका सत्कार किया, आदरपूर्ण बच्चों से सम्मान किया। यों सत्कार तथा सम्मान कर उसने कहा—

२१—जया एं देवाणुपिया ! समणे भगवं महाबीरे इहमागच्छेज्ञा, इह समोसरिज्ञा, इहेव चंपाए जयरोए बहिया पुणभद्रे चेहए अहापडिलवं ओगाहं ओगिणिहता संजमेण तबला अप्याहं भावेमाणे विहरेज्ञा, तया एं मम एयमट्ठं निवेदिज्ञासिति कट्टु दिसिज्ञए ।

२१—देवानुप्रिय ! जब श्रमण भगवान् महाबीर यहाँ पधारें, समवसृत हों, यहाँ चम्पानगरी के बाहर पूर्णभद्र चैत्य में यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विराजित हों, मुझे यह समाचार निवेदित करना । यों कहकर राजा ने वार्तानिवेदक को वहाँ से विदा किया ।

भगवान् का चम्पा में आगमन

२२—तए एं समणे भगवं महाबीरे कल्खं पाडप्यभायाए रथणीए, कुल्लुप्पलकमलकोमलुम्मि-लियंगि अहुपंडुरे पहाए, रत्तासोगप्यगास-किसुय-सुयमुह-गुञ्जद्वरागसरिसे, कमलागरसंबोहुए बट्टियम्मि, सूरे सहसरार्लसम दिणयरे तेयसा जालंते, जेणेव चंपा जयरी, जेणेव पुणभद्रे चेहए, तेजेव उचानच्छइ, उवागच्छिता अहापडिलवं ओगाहं ओगिणिहता संजमेण तबला अप्याहं भावेमाणे विहरइ ।

२२—तत्पश्चात् अगले दिन रात बीत जाने पर, प्रभात हो जाने पर, नीले तथा अन्य कमसों के सुहाबने रूप में खिल जाने पर, उज्ज्वल प्रभायुक्त एवं लाल अशोक, किशुक—पलाश, तोते की चौंच, घुंघची के आधे भाग के सदूष लालिमा लिये हुए, कमलबन को उद्धोधित—विकसित करने वाले, सहन्त्रकिरणयुक्त, दिन के प्रादुर्भावक सूर्य के उदित होने पर, अपने तेज से उद्धीप्त होने पर श्रमण भगवान् महाबीर, जहाँ चम्पा नगरी थी, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ पधारे । पधार कर यथाप्रतिरूप—समुचित—साधुचर्या के अनुरूप आवास-स्थान ग्रहण कर संयम एवं तप से आत्मा को भावित करते हुए विराजे ।

भगवान् के अन्तेवासी

२३—सेषं कालेण लेणं समएणं समणस्स भगवतो अहुवे समना भवेवांतो अप्येगहया उरगपवचहया, भोगपठवहया, राहण-णायकोरव्वखत्तियपव्वहया, भडा, झोहा, सेणावई पस-त्यारो, सेहुी, इवभा, अप्णे य बहुवे एकमाइणो उत्तमजाहुकुलरुद्धविणयविणाज्ञव्वणाव्वणविळम-पहाणसोभग्यकंतिजुत्ता, अद्विष्टव्वणाणिच्चयपरियस्तफिडिया, णरव्वगुणाहरेणा, इच्छिमभोगा, सुहर्षप-ललिया किपागफलोवमं अ मुणिय विसयसोक्षं जलव्वधुयसमाणं, कुसम्भजसविन्वुच्चलं जीविष्य व्य-णाऊण अद्विष्टमिणं रथमिक्त पडगगलरगं संविधुणिताणं वहस्ता हिरण्णं जाव (विल्वा सुवर्णं, विल्वा वर्णं—एवं धर्णं बलं वाहुणं कोसं कोट्टागारं रुज्जं रट्ठं पुरं अस्तेऽरं चित्तवा, विचलयण-कणग-नव्यम-मणि-मोस्तिय-संख-सिल-पवाल-रत्तरथणमाहयं संतसारसावसेज्ञं विच्छिन्नहस्ता, विगोवहस्ता, वाणं व्य-वाहयाणं परिभाष्यता, नुँडा भविता अगाराओ अणगारियं) पव्वहया, अप्येगहया अद्वमासपरिद्वाया, अप्येगहया मासपरिवाया—एवं कुमास-लिमास जाव (जच्चभास-वंचमास-द्वमास-ससमास-वाहुभास-

नवमास-दसमास-) एकारस-मास परियाया, अप्येगहया वासपरियाया, दुवासपरियाया तिवास परियाया अप्येगहया अणेगवासपरियाया संज्ञेण तथा सामान्य भावेमाणा विहृति ॥

२३—तब श्रमण भगवान् महाबीर के अन्तेवासी—शिष्य बहुत से श्रमण संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए बिचरते थे । उनमें अनेक ऐसे थे, जो उग्र—आरक्षक अधिकारी, भोग—राजा के मंत्रीमंडल के सदस्य, राजन्य—राजा के परामर्शमंडल के सदस्य, जात—ज्ञातवंशीय या नागवंशीय, कुरुवंशीय, क्षत्रिय—क्षत्रिय वंश के राजकर्मचारी, सुभट, योद्धा—युद्धोगजीवी—सैनिक, मेनापति, प्रशास्ता—प्रशासन-अधिकारी, मेन, हथ्य—हाथी ढक जाय एतत्प्रमाण धनराशि युक्त—अत्यन्त धनिक—इन इन वर्गों में से दीक्षित हुए थे । और भी बहुत से उत्तम जाति—उत्तम मातृपक्ष, उत्तम कुल—पितृपक्ष, सुन्दररूप, विनय, विज्ञान—विशिष्ट ज्ञान, वर्ण—दैहिक आभा, लावण्य-आकार की सृष्टियता, विश्रम—पराक्रम, सौभाग्य तथा कान्ति से सुशोभित, विपुल धन-धान्य के संग्रह और पारिवारिक सुख-समृद्धि से युक्त, राजा से प्राप्त अतिशय वैभव सुख आदि से युक्त इच्छित भोगप्राप्त तथा सुख से लालित-पालित थे, जिन्होंने सांसारिक भोगों के सुख को किषाक फल के सदृश असार, जीवन को जल में बुलबुले तथा कुश के सिरे पर स्थित जल की बूँद की तरह चंचल जानकर सांसारिक अध्युब—अस्थिर पदार्थों को वस्त्र पर लगी हुई रज के समान झाड़ कर,—हिरण्य—रौप्य या रूपा, सुवर्ण—घड़े हुए सोने के आभूषण, धन—गायें आदि, धान्य, बल—चतुरंगिणी सेना, वाहन, कोश—खजाना, कोष्ठागार—धान्य-भण्डार, राष्ट्र, पुर—नगर, अन्तःपुर, प्रचुर धन, कनक—बिना घड़ा हुआ सुवर्ण, रत्न, मणि, मुक्ता, शंख, मूँगे, लाल रत्न—मानिक आदि बहुमूल्य सम्पत्ति का परित्याग कर, वितरण द्वारा सुप्रकाशित कर, दान योग्य क्यस्तियों को प्रदान कर, मुँडित होकर अगार—गृह जीवन से, अनगार—श्रमण जीवन में दीक्षित हुए । कद्यों को दीक्षित हुए आधा महीना, कद्यों को एक महीना, दो महीने (तीन महीने, चार महीने, पाँच महीने, छह महीने, सात महीने, आठ महीने, नी महीने, दश महीने) और ग्यारह महीने हुए थे, कद्यों को एक वर्ष, कद्यों को दो वर्ष, कद्यों को तीन वर्ष तथा कद्यों को अनेक वर्ष हुए थे ।

ज्ञानी, शक्तिधर, तपस्वी

२४—तेण कालेण तेण समेण समणस्त भगवन्नो महाबीरस्त अंतेवासी बहुवे निमांथा भगवत्तो अप्येगहया आभिणिबोहियणाणी जाव (सुयणाणी, ओहिणाणी, मणपञ्जवणाणी,) केवल-णाणी । अप्येगहया मणबलिया, वयवलिया कायबलिया । अप्येगहया मणेण सावाणुग्रहसमत्था एवं—वर्णेण काएण । अप्येगहया खेलोसहिपत्ता, एवं जहलोसहिपत्ता, विष्णोसहिपत्ता, आमोसहिपत्ता, सद्बो-सहिपत्ता । अप्येगहया कोदुबुढ़ी एवं बीयबुढ़ी, पडबुढ़ी । अप्येगहया पवाणुसारी, अप्येगहया संभिन्न-सोया अप्येगहया खोरासवा, महुआसवा अप्येगहया सम्पिभासवा अप्येगहया अक्षोणमहाणसिथा एवं उज्जुमई अप्येगहया विजलमई, विजलवणिडिहपसा, चारणा, विजाहरा, आगासाहवाईनो । अप्येगहया कणगावलितबोकम्मे पडिवणा, एवं एगावलि खुडागसीहनिकीलियं तबोकम्मे पडिवणा, अप्येगहया महालयं सीहनिकीलियं तबोकम्मे पडिवणा, भद्रपडिमं, महाभद्रपडिमं सद्वश्वभद्रपडिमं, आयंविल-बद्रमाणं तबोकम्मे पडिवणा, मासियं भिक्खुपडिमं एवं दोमासियं पडिमं, तिमासियं पडिमं जाव (चतुरासियं पडिमं, पञ्चमासियं पडिमं, छमासियं पडिमं,) सत्तमासियं भिक्खुपडिमं पडिवणा, पठमं सत्तराहंदियं भिक्खुपडिमं पडिवणा जाव (बीयं सत्तराहंदियं भिक्खुपडिमं पडिवणा,) तच्चं

सत्तराइंदियमिक्खुपडिमं पडिवण्णा, अहोराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, एषकराइंदियं भिक्खुपडिमं पडिवण्णा, सत्तसत्समियं भिक्खुपडिमं, अटुअटुमियं भिक्खुपडिमं, जवणवमियं भिक्खुपडिमं, दसवसमियं भिक्खुपडिमं, खुडिडयं भोयपडिमं पडिवण्णा, महलिलयं भोयपडिमं पडिवण्णा, जवमजङ्गं चंदपडिमं पडिवण्णा, बइरमजङ्गं चंदपडिमं पडिवण्णा संजमेच, तदसा अप्पाणं भावेमाणा विहरंति ॥

२४—उस समय श्रमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से निर्गन्ध संघम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरण करते थे ।

उनमें कई मतिज्ञानी (श्रुतज्ञानी, अवधिज्ञानी, मनःपर्यबज्ञानी) तथा केवलज्ञानी थे । अर्थात् कई मति तथा श्रुत, कई मति, श्रुत तथा अवधि, या मति, श्रुत एवं मनःपर्यव, कई मति, श्रुत, अवधि तथा मनःपर्यव—यों दो, तीन, चार ज्ञानों के धारक एवं कई केवलज्ञान के धारक थे ।

कई मनोबली—मनोबल या मनः-स्थिरता के धारक, वचनबली—प्रतिज्ञात आशय के निर्वाहिक या परपक्ष को अुभित करने में सक्षम वचन-शक्ति के धारक तथा कायबली—भूख, प्यास, सर्दी, गर्मी आदि प्रतिकूल शारीरिक स्थितियों को अग्रलान भाव से सहने में समर्थ थे । अर्थात् कइयों में मनोबल, वचनबल तथा कायबल—तीनों का वैशिष्ट्य था, कइयों में वचनबल तथा कायबल—दो का वैशिष्ट्य था और कइयों में कायबल का वैशिष्ट्य था ।

कई मन से शाप—अपकार तथा अनुग्रह—उपकार करने का सामर्थ्य रखते थे, कई वचन द्वारा अपकार एवं उपकार करने में सक्षम थे तथा कई शरीर द्वारा अपकार व उपकार करने में समर्थ थे ।

कई खेलौषधिप्राप्त—खंखार से रोग मिटाने की शक्ति से युक्त थे । कई शरीर के मैल, मूत्रबिन्दु, विष्ठा तथा हाथ आदि के स्पर्श से रोग मिटा देने की विशेष शक्ति प्राप्त किये हुए थे । कई ऐसे थे, जिनके बाल, नाखून, रोम, मल आदि सभी औषधिरूप थे—वे इन से रोग मिटा देने की क्षमता लिये हुए थे । (ये लब्धिजन्य विशेषताएँ थीं) ।

कई कोष्ठबुद्धि—कुशूल या कोठार में भरे हुए सुरक्षित अन्न की तरह प्राप्त सूत्रार्थ को अपने में ऊंचों का ऊंचों धारण किये रहने की बुद्धिवाले थे । कई बोजबुद्धि—विशाल बक्ष को उत्पन्न करने वाले बोज की तरह विस्तीर्ण, विविध ग्रथ प्रस्तुत करनेवाली बुद्धि से युक्त थे । कई पटबुद्धि—विशिष्ट वक्तृत्व रूपी वनस्पति से प्रस्फुटित विविध, प्रचुर मूत्रार्थ रूपी पुष्पों और फलों को संगृहीत करने में समर्थ बुद्धि लिये हुए थे । कई पदानुसारी—सूत्र के एक अवयव या पद के जात होने पर उसके अनुरूप सैकड़ों पदों का अनुसरण करने की बुद्धि—लिये हुए थे ।

कई संभिन्नश्रोता—बहुत प्रकार के भिन्न-भिन्न शब्दों को, जो अलग-अलग बोले जा रहे हों, एक साथ सुनकर स्वायत्त करने की क्षमता लिये हुए थे । अथवा जिनकी सभी इन्द्रियाँ शब्द ग्रहण में सक्षम थीं—कानों के अतिरिक्त जिनकी दूसरी इन्द्रियों में भी शब्दग्राहिता की विशेषता थी ।

कई क्षीरास्त्रव—दूध के समान मधुर, श्रोताओं के श्वरेन्द्रिय और मन को सुहावने लगने वाले वचन बोलते थे । कई मध्वास्त्रव ऐसे थे, जिनके वचन मधु—शहद के समान सर्वदोषोपशामक तथा आह्लादजनक थे । कई सर्पि-आस्त्रव थे, जो अपने वचनों द्वारा वृत की तरह स्तिरधता उत्पन्न करने वाले थे ।

कई शक्षीणमहानसिक—ऐसे थे, जो जिस घर से भिक्षा ले आएं, उस घर की बची हुई भोज्य सामग्री जब तक भिक्षा देनेवाला स्वयं भोजन न कर ले, तब तक लाख मनुष्यों को भोजन करा देने पर भी समाप्त नहीं होती ।

कई ऋजुमति^१ तथा कई विपुलमति^२ मनःपर्यवशान के धारक थे ।

कई विकुर्वणा—भिन्न-भिन्न रूप बना-लेने की शक्ति से युक्त थे । कई चारण—गति-सम्बन्धों विशिष्ट क्षमता लिये हुए थे । कई विद्याधरप्रज्ञप्ति आदि विद्याओं के धारक थे । कई आकाशातिपाती—आकाशगामिनी शक्ति-सम्बन्ध से अथवा आकाश से हिरण्य आदि इष्ट तथा अनिष्ट पदार्थों की वर्षा कराने का जिनमें सामर्थ्य या अथवा आकाशातिवादी-आकाश आदि अमूर्त पदार्थों को सिद्ध करने में जो समर्थ थे ।

कई कनकावली तप करते थे । कई एकावली तप करने वाले थे । कई लघुसिंहनिष्ठकीडित तप करने वाले थे तथा कई महासिंहनिष्ठकीडित तप करने में संलग्न थे । कई भद्रप्रतिमा, महाभद्रप्रतिमा, सर्वतोभद्रप्रतिमा तथा आयंदिल वर्द्धमान तप करते थे ।

कई एकमासिक भिक्षुप्रतिमा, इसी प्रकार (द्वैमासिक भिक्षुप्रतिमा, त्रैमासिक भिक्षुप्रतिमा, चातुर्मासिक भिक्षुप्रतिमा, पाञ्चमासिक भिक्षुप्रतिमा, षाण्मासिक भिक्षुप्रतिमा, तथा) साप्तमासिक भिक्षुप्रतिमा ग्रहण किये हुए थे । कई प्रथम सप्तरात्रिनिद्वा—सात रात दिन की भिक्षुप्रतिमा, (कई हितीय सप्तरात्रिनिद्वा भिक्षुप्रतिमा) तथा कई तृतीय सप्तरात्रिनिद्वा भिक्षुप्रतिमा के धारक थे । कई एक रातदिन की भिक्षुप्रतिमा ग्रहण किये हुए थे । कई सप्तसप्तमिका—सात-सात दिनों की सात इकाइयों या सप्ताहों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे । कई अष्टअष्टमिका—आठ-आठ दिनों की आठ इकाइयों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे । कई नवनवमिका—तीन-तीन दिनों की तीन इकाइयों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे । कई दशदशमिका—दश-दश दिनों की दश इकाइयों की भिक्षुप्रतिमा के धारक थे । कई लघुमोक्षप्रतिमा, कई यवमध्यचन्द्रप्रतिमा तथा कई वज्रमध्यचन्द्रप्रतिमा के धारक थे ।

विवेचन—तपश्चर्या के बारह भेदों^३ में पहला अनशन है । अनशन का अर्थ तीन^४ या चार^५ आहारों का त्याग करना है । चारों आहारों का त्याग कर देने पर कुछ नहीं लिया जा सकता । तीन आहारों के त्याग में केवल प्राप्तुक पानी लिया जा सकता है । इसकी अवधि कम से कम एक दिन (दिन-रात) है, अधिक से अधिक छह मास है । समाधिमरणकालीन अनशन जीवनपर्यन्त होता है ।

तपश्चर्या से संचित कर्म निर्जीण होते हैं—कटते हैं । ज्यों-ज्यों कर्मों का निर्जरण होता जाता

१. समनस्क जीवों के मन को अर्थात् मन की चिन्तन के अनुरूप होने वाली पर्यायों को सामान्य रूप से जिसके द्वारा जाना जाता है, वर ऋजुमति मनःपर्यवशान कहा जाता है ।
२. समनस्क जीवों के द्रव्य, क्षेत्र, काल, भाव आदि अणेकाओं से सत्रिष्ठेष रूप में मन अर्थात् मानसिक चिन्तन के अनुरूप होने वाली पर्यायों को जिसके द्वारा जाना जाता है, उसे विपुलमति मनःपर्यवशान कहा जाता है ।
३. अनशन, अवसीद्य ऊनोदरी, वृत्तिपरिसंख्यान, रसपरित्याग, विविक्षशश्यासन, कायवलेश, प्रायशिच्छत, विनय, दैयावृत्य, स्वाध्याय, व्युत्सर्ग तथा ध्यान ।
४. अशन, खाद्य, स्वाद्य ।
५. अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य ।

है, ज्यों-ज्यों आत्मा उज्जवल होती जाती है। अनशनमूलक तपस्या करने वाला साधक, आहार के अभाव में जो शारीरिक कष्ट होता है, उसे आत्मबल तथा दृढ़तापूर्वक सहन करता है। वह पादार्थिक जीवन से हटता हुआ आध्यात्मिक जीवन का सक्षात्कार करने की प्रयत्नशील रहता है।

अनशन के लिए उपवास शब्द का प्रथोग बड़ा महस्त्वपूर्ण है। 'उप' उपसर्ग 'समीप' के अर्थ में है तथा वास का अर्थ निवास है। यों उपवास का अर्थ आत्मा के समीप निवास करना होता है। कहने का अभिप्राय यह है कि साधक अशन-भोजन से, जो जीवन की दैनन्दिन आवश्यकताओं में सबसे अधिक महस्त्वपूर्ण है, विरत होने का अभ्यास इसलिए करता है कि वह देहिकता से आत्मिकता या बहिमुखता से अन्तमुखता की ओर गतिशील हो सके, आत्मा का शुद्ध स्वरूप, जिसे अधिगत करना, जीवन का परम साध्य है, साधने में स्फूर्ति अंजित कर सके। अतएव उपवास का जहाँ निषेध-मूलक अर्थ भोजन का त्याग है, वहाँ विधिमूलक तात्पर्य आत्मा के—अपने ग्राणके समीप ऊतस्थित होने या आत्मानुभूति करने से जुड़ा है।

जैनधर्म में अनशनमूलक तपश्चरण का बड़ा क्रमबद्ध विकास हुआ। तितिक्षु एवं मुमुक्षु साधकों का उस और सदा से भुकाव रहा। प्रस्तुत सूत्र में भगवान् महाबीर के अन्तेवासी उन श्रमणों की चर्चा है, जो विविध प्रकार से इस तपःकर्म में अभिरत थे। यहाँ संकेतित कनकावली, एकावली, लघुसिहनिष्कोटि, महासिहनिष्कोटि आदि तपोभेदों का विश्लेषण पाठकों के लिए ज्ञानवर्धक सिद्ध होगा।

रत्नावली

अन्तकृदेशांग सूत्र के अष्टम वर्ग में विभिन्न तपों का वर्णन है। अष्टम वर्ग के प्रथम ग्रहयन्त में राजा कूणिक की छोटी माता, महाराज श्रेणिक की पत्नी काली की चर्चा है। काली ने भगवान् महाबीर से श्रमण-दीक्षा ग्रहण की। उसने आयत्रिमुखा श्रीचन्दनबाला की आज्ञा से रत्नावली तप करना स्वीकार किया। रत्नावली का अर्थ रत्नों का हार है। एक हार की तरह तपश्चरण की यह एक विशेष परिकल्पना है, जो बड़ी मनोज्ञ है। वहाँ रत्नावली तप के अन्तर्गत सम्पन्न किये जाने वाले उपवास-क्रम आदि का विशद वर्णन है।^१

१. तए ण सा काली अज्जा अण्णा क्याइ जेणेव अज्जचंदणा अज्जा, तेणेव उवाग्या, उवाग्निष्टता एवं वयासी इच्छामि णं अज्जाओ ! तुब्मेहि अवभण्णाया समाणी रयणावलि तवं उवसंपज्जिता णं विहरिताए।
अ हासुहं देवाणुप्तिए ! मा पदिबंधं करेहि ।

तए ण सा काली अज्जा अज्जचंदणाए अवभण्णाया समाणी रयणावलि तवं उवसंपज्जिता णं विहरइ,

तं जहा—

चउत्थं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।	अद्वमं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।
छद्धं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।	दसमं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।
अहमं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।	दुवालसमं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।
अद्वच्छाइ	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।	चोद्दसम	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।
चउत्थं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।	सोलसमं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।
छद्धं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।	प्रद्वारसमं	करेइ, करेता सब्बकामगुणियं पारेइ ।

अष्टम वर्ग के द्वितीय अध्ययन में महाराज श्रेणिक की एक दूसरी रानी सुकाली का वर्णन है। उसने भी अमण भगवान् महावीर से दीक्षा प्रहण की। उसने आर्यप्रिमुखा चन्दनबाला की आज्ञा से कनकावली तप करना स्वीकार किया। रत्नावली और कनकावली तप में थोड़ा सा अन्तर है। अतः वहाँ रत्नावली तप से कनकावली तप में जो विशेषता है, उसकी चर्चा कर दी गई है।

कनकावली का अर्थ सोने का हार है। रत्नों के हार से सोने का हार कुछ अधिक भारी होता है। इसी आधार पर रत्नावली की अपेक्षा कनकावली कुछ भारी तप है।

कनकावली

बीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	मोलसमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
बावीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चोद्दसमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
चउबीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	बारसमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
छब्बीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	दसमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
अद्वाबीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	अद्धुमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
तीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चट्ठं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
बत्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
चोत्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	अद्वुद्वृढाइं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
चोत्तीसं छ्डाइं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	अद्धुमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
चोत्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चट्टं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
बस्तीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
तीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	अद्धुमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
अद्वाबीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	छट्ठं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
छब्बीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
चउबीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	अद्वुद्वृढाइं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
बावीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	अद्धुमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
बीसइमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चट्टं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।
अद्वारसमं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।	चउत्थं	करेइ, करेत्ता सब्बकामगुणियं पारेइ।

एवं खलु एसा रथणावलीए तदोकम्मस्स पठमा परिवाढी एणेण संबच्छरेण तिहि मासेहि बावीसाए य अहोरत्तेहि अहामुत्तं जाव (अहामत्वं, अहातत्त्वं, अहामग्नं, अहाकण्यं, भम्मं काएणं फासिया, पालिया, सोहिया, तीरिया, किट्टिया) आराहिया भवेत् ।

— अन्तकृद्वशासूत्र १४७, १४८

१. तए णं सुकाली अज्जा अगणया कणाड जेणेव अज्जन्दणा अज्जा जाय (तेणेव उवागया, उवागच्छता एवं दयासी) इच्छामि णं अज्जाश्रो ! तुम्हेहि अवध्युण्णावा समाणी कणगावली-तदोकम्मं उवसंपज्जिता णं विहरित्तत् । एवं जहा रथणावली तहा कणगावली वि, नदर—तिसु छाणेसु अद्वाइं करेइ, जहि रथणावलीए छट्ठाइं ।

एकाए परिवाढीए संबच्छरो पञ्च मासा बारस य अहोरत्ता । चउप्हं पञ्च वरिसा नव मासा अट्ठारस दिवसा । सेसं तहेव ।

— अन्तकृद्वशासूत्र

पृष्ठ १५४

अन्तकृदाणंग सूत्र के अनुसार कंतकावली तप का स्वरूप इस प्रकार है—

साधक सबसे पहले एक (दिन का) उपवास, तत्पश्चात् क्रमशः दो दिन का उपवास—एक बेला, तीन दिन का उपवास—एक तेला, फिर एक साथ आठ तेले, फिर उपवास, बेला, तेला, चार दिन, पांच दिन, छह दिन, सात दिन, आठ दिन, नौ दिन, दश दिन, थारह दिन, बारह दिन, तेरह दिन, चबदह दिन, पन्द्रह दिन, तथा सोलह दिन का उपवास करे। तदनन्तर एक साथ चौतीस तेले करे। फिर सोलह दिन, पन्द्रह दिन, चबदह दिन, तेरह दिन, बारह दिन, थारह दिन, दश दिन, नौ दिन, आठ दिन, सात दिन, छह दिन, पांच दिन, चार दिन का उपवास, तेला, बेला तथा उपवास करे। चौतीस तेलों से पहले किये गये तपश्चरण के समक्ष तपःक्रम यह है। तत्पश्चात् आठ तेले करे। ये भी इनसे पूर्व किये गये आठ तेलों के समक्ष हो जाते हैं। उसके बाद एक तेला, एक बेला और एक उपवास करे। आठ-आठ तेलों का युगल हार के दो फूलों जैसा तथा मध्यवर्ती चौतीस तेलों का क्रम बीच के पान जैसा है।

इस प्रकार कनकावली तप के एक क्रम या परिपाठी में—

पूरे तप में चार परिपाठियाँ सम्पन्न की जाती हैं। पहली परिपाठी के अन्तर्गत पारण में विग्रह—दूध, दही, घृत आदि लिये जा सकते हैं। दूसरी परिपाठी के अन्तर्गत पारणों में दूध, दही, घृत आदि विग्रह नहीं लिये जा सकते। तीसरी परिपाठी के अन्तर्गत, जिनका लेप न लगे, वैसे निलंप पदार्थ—स्निग्धता आदि से सर्वथा बंजित खाद्य वस्तुएँ पारणों में ली जा सकती हैं। चौथी परिपाठी के अन्तर्गत पारण में आर्यविल—किसी एक प्रकार का शब्द—भूजा हुआ या रोटी आदि के रूप में पकाया हुआ पानी में भिगोकर लिया जाता है।

कनकावली तप की चारों परिपादियों में $५२२ + ५२२ + ५२२ + ५२२ = २०८८$ दिन— पांच वर्ष नौ महीने व अठारह दिन लगते हैं।

एकादशी

मोतियों या दूसरे मनकों की लड़ एकावली कही जाती है। इसे प्रतीक रूप में मानकर एकावली तप की परिकल्पना है। वह इस प्रकार है—

साधक एकावली तप के अन्तर्गत क्रमशः उपवास, बेला, तेला, तदमन्तर आठ उपवास, फिर उपवास, बेला, तेला, चार, पाँच, छह, सात, आठ, नौ, दश, ग्यारह, बारह, तेरह, चबदह, पन्द्रह तथा सोलह दिन के उपवास करे। वैसा कर निरन्तर चौतीस उपवास करे। फिर सोलह, पन्द्रह, चबदह, तेरह, बारह, ग्यारह, दश, नौ, आठ, सात, छह, पाँच, चार दिन के उपवास, तेला, बेला, उपवास, आठ उपवास, तेला, बेला तथा उपवास करे।

कनकावली की ज्यों इसमें दो फूलों के स्थान पर आठ-आठ तेलों के बदले आठ-आठ उपवास हैं तथा मध्यवर्ती पान के स्थान पर चौंतीस तेलों के बदले चौंतीस उपवास हैं। यों एक लड़े हार के रूप में यह तप है।

पूरा तप चार परिपाठियों में निष्पन्न होता है। चारों परिपाठियों में पारणे का रूप कनकावली जैसा ही है।

एकावली लप की चारों परिपाटियों में $422 + 422 + 422 + 422 = 1688$ दिन = चार वर्ष आठ महीने तथा आठ दिन लगते हैं।

लघुसिहनिष्कीडित

सिंह की गति या श्रीड़ा के प्राधार पर इस तप की परिकल्पना है। सिंह जब चलता है तो एक कदम पीछे देखता जाता है। उसका यह स्वभाव है, अपनी जागरूकता है। इसे प्रतीक मानकर इस तप के अन्तर्गत साधक जब उपवासक्रम में आगे बढ़ता है तो एक-एक बढ़ाव में वह पीछे भी मुहूर्त जाता है अर्थात् अपने बढ़ाव के पिछले एक क्रम की आवृत्ति कर जाता है।

यह तप दो प्रकार का है—लघुसिंहनिष्ठकीडित तप तथा महासिंहनिष्ठकीडित तप। छोटे सिंह की गति कुछ कम होती है, बड़े सिंह की अधिक। इसी आधार पर लघुसिंहनिष्ठकीडित तप में उपवास-सोना नौ दिन तक की है तथा महासिंहनिष्ठकीडित तप में सोलह दिन तक की।

अन्तकृद्दशांग सूत्र के अष्टम वर्ग के तृतीय श्रद्ध्ययन में (महाराज श्रेणिक की पत्नी, राजा कणिक की छोटी माता) आर्या महाकाली द्वारा लघुसिंहनिष्ठकीडित तप किये जाने का वर्णन है।¹

- | | |
|--|---|
| १. एवं—महाकाली वि, नवरं—खुड़ाग सीहनिकीलियं तबोकम्मं उवसंपज्जिता र्ण द्विहरइ, तं जहा— | |
| चउत्थं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | बोहसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| छट्ठं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | दुबालसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| चउत्थं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | सोलसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| भट्टमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | बोहसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| छट्ठं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | भट्टारसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| दसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | सोलसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| भट्टमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | बीसइयं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| दुबालसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | भट्टारसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |
| दसमं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । | बीसइयं करेह, करेता सब्बकामगुणियं पारेह । |

इसमें साधक क्रमशः उपवास, बेला, उपवास, तेला, बेला, चार दिन का उपवास, तेला, पाँच दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास तथा आठ दिन का उपवास करे। तदनन्तर वापिस नौ दिन के उपवास तक का क्रम अपनाए।

नौ दिन से उपवास तक का क्रम इस प्रकार रहेगा—

नौ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, दो दिन का उपवास, तीन दिन का उपवास—तेला, एक दिन का उपवास, बेला तथा उपवास करे।

यों उत्तार, चढ़ाव के दो क्रम बनते हैं—

लघुसिंहनिष्ठकीडित की एक परिपाटी में $1+2+1+3+2+4+3+5+4+6+5+7+6+8+9+10+11+12+7+8+9+6+1+7+4+6+4+5+3+4+2+3+1+2+1 = 154$ दिन अनशन या उपवास तथा ३३ दिन गारण—यों कुल १८३ दिन = छह महीने तथा सात दिन होते हैं।

चार परिपाटियों में $157+157+157+157=$ कुल दिन ७४८ = दो बर्ष अट्ठाईस दिन लगते हैं।

महासिंहनिष्ठकीडित

अन्तकृदशांग सूत्र ग्रन्थमवर्ग के चतुर्थ अध्ययन में (महाराज श्रेणिक की पत्नी) आर्य कृष्णा द्वारा महासिंहनिष्ठकीडित तप करने का वर्णन है, जहाँ लघुसिंहनिष्ठकीडित तथा महासिंहनिष्ठकीडित के भेद का उल्लेख^१ है।

सोलसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
ग्रट्टारसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
चोद्दसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
सोलसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
बारसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
चोद्दसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
दसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
बारसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।

अद्वृमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
दसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
छट्ठं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
ग्रट्टमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
चउत्थं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
छट्ठं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
चउत्थं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।

तहेव चत्तारि परिवाडीबो । एककाए परिवाडीए छम्मासा सत्त य दिवसा । चउत्थं दो वरिसा अट्ठावीसा या दिवसा जाव सिद्धा ।

अद्वृमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
दसमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
छट्ठं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
ग्रट्टमं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
चउत्थं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
छट्ठं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।
चउत्थं	करेह, करेता सब्वकामगुणियं पारेह ।

—अन्तकृदशासूत्र गृष्ठ १५६

१. एवं—कण्ठा वि, नवरं महालयं सीहणिकीलियं तवोकम्मं जहेव खुद्धानं, नवरं—चोत्तीसइमं जाव नेयवर्दं । तहेव भोसारियव्वं । एककाए वरिसं, छम्मासा अट्ठारम य दिवसा । चउत्थं छत्वरिसा दो मासा बारस य अहोरत्ता । मेसं जहा कालीए जाव सिद्धा ।

—अन्तकृदशासूत्र, गृष्ठ १५९

महासिंहनिष्ठीडित तप. कम इस प्रकार है—

साधक क्रमशः उपवास, बेला, उपवास, तेला, बेला, चार दिन का उपवास, तेला, पाँच दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, चबदह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास, चबदह दिन का उपवास, सोलह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास करे।

तस्पश्चात् इसी क्रम को उलटा करे अथवा सोलह दिन के उपवास से प्रारम्भ कर एक दिन के उपवास पर समाप्त करे। यह क्रम इस प्रकार होगा—

सोलह दिन का उपवास, चबदह दिन का उपवास, पन्द्रह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, चबदह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, तेरह दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, बारह दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, ग्यारह दिन का उपवास, नौ दिन का उपवास, दश दिन का उपवास, आठ दिन का उपवास, छह दिन का उपवास, सात दिन का उपवास, पाँच दिन का उपवास, बेला, उपवास, बेला तथा उपवास करे।

इस तप की एक परिपाटी में $1+2+1+3+2+1+4+3+5+4+6+5+7+6+6+7+8+5+10+9+11+10+12+11+13+12+14+13+15+14+16+15+16+14+15+13+14+12+13+11+12+10+11+9+10+6+9+7+5+6+4+5+3+4+2+3+1+2+1=497$ दिन उपवास + ६१ दिन पारणा = कुल ५५८ दिन = एक वर्ष छह महीने तथा बारह दिन लगते हैं।

महासिंहनिष्ठीडित तप की चारों परिपाटियों में $45d+45d+45d+45d=2232$ दिन = छह वर्ष दो महीने और बारह दिन लगते हैं।

भद्र प्रतिमा

यह प्रतिमा कायोत्सर्ग से सम्बद्ध है। कायोत्सर्ग निजंरा के बारह भेदों में अंतिम है। यह काय तथा उत्सर्ग—इन दो शब्दों से बना है। काय का अर्थ शरीर तथा उत्सर्ग का अर्थ त्याग है। शरीर को सर्वथा छोड़ा जा सके, यह तो संभव नहीं है पर भावात्मक दृष्टि से शरीर से अपने को पृथक् मानना, शरीर की प्रवृत्ति, हलन-चलन आदि क्रियाएं छोड़ देना, यों निःस्पन्द, असंसक्त, आत्मोन्मुख स्थिति पाने हेतु यत्नशील होना कायोत्सर्ग है। कायोत्सर्ग में साधक अपने आपको देह से एक प्रकार से पृथक् कर लेता है, देह को शियिल कर देता है, तत्त्वमुक्त होता है, आत्मरमण में संस्थित होने का प्रयत्न करता है।

इस प्रतिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, तथा उत्तर दिशा में मुख कर क्रमशः प्रत्येक दिशा में चार पहर तक कायोत्सर्ग करने का विवाह है। यों इस प्रतिमा का सोलह पहर या दो दिन-रात का कालमान है।

महाभारत प्रतिमा

इस प्रतिमा में पूर्व, दक्षिण, पश्चिम तथा उत्तर दिशा में मुख कर क्रमशः प्रत्येक दिशा में एक एक शहोरात्र-दिन-रात तक काथोत्सर्ग करने का विधान है। यों इस प्रतिमा का चार दिन-रात का कालमान है।

सर्वतोभद्र प्रतिमा

पूर्व, दक्षिण, पश्चिम, उत्तर, आग्नेय, नैऋत्य, वायव्य, ईशान, ऊर्ध्व एवं अधः—क्रमशः इन दश दिशाओं की ओर मुख कर प्रत्येक दिशा में एक एक दिन-रात काथोत्सर्ग करने का इस प्रतिमा में विधान है। यों इसे साधने में दश दिन-रात का समय लगता है।

इस प्रतिमा के अन्तर्गत एक दूसरी विधि भी बतलाई गई है। तदनुसार इसके लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा तथा महासर्वतोभद्र प्रतिमा—ये दो भेद किये गये हैं।

लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा

अन्तकृदशांग सूत्र छठम वर्ग के छठे अध्ययन में महाराज श्रेणिक की पत्नी, राजा कूणिक की छोटी माता महाकृष्णा द्वारा, जो भगवान् महावीर के श्रमण-संघ में दीक्षित थीं, लघुसर्वतोभद्र तप किये जाने का उल्लेख^१ है।

१. एवं महाकृष्ण वि नवरं खुद्वागं सब्बजोभद्रं पद्मं उवसंपज्जिता यं विहृद—

चउत्त्वं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	अद्वृमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
छट्ठं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	दसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
अट्ठं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	छट्ठं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
दसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	अद्वृमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
दुवालसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	दसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
अद्वृमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	दुवालसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
दसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	चउत्त्वं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
दुवालसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	दसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
चउत्त्वं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	दुवालसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
छट्ठं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	चउत्त्वं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
दुवालसमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	छट्ठं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
चउत्त्वं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।	अद्वृमं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।
छट्ठं	करेद, करेता सब्बकामगुणियं पारेद।		

एवं खलु एवं खुद्वागसब्बजोभद्रस्य तत्त्वोक्तमस्य पद्मे परिवाडि तिर्हि मासेहि दमहि य दिवसेहि अहामुत्तं जाव आराहेता दोच्चाग परिवाडीए चउत्त्वं करेद, करेता विगद्वज्जं पारेद, पारेता जहा रणावलीए तहा एत्य वि चत्तारि परिवाडीओ। पारणा तहेव। चउत्त्वं कालो संवच्छर्य मासो दस य दिवसा। सेसं तहेव जाव सिढा।

इस प्रतिमा में पहले उपवास फिर क्रमशः बेला, तेला, चार दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, तेला, चार दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, बेला, तेला, चार दिन का उपवास, बेला, तेला, चार दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास, चार दिन का उपवास, पांच दिन का उपवास, एक दिन का उपवास बेला तथा तेला—यह इस प्रतिमा का तपःक्रम है।

इस तपस्या की प्रक्रिया समझने हेतु पच्चीस कोष्ठकों का एक यन्त्र बनाया जाता है।

पहली पंक्ति के कोष्ठक के आदि में १ तथा अन्त में पांच को स्थापित किया जाता है। शेष कोष्ठकों को २, ३, ४ से भर दिया जाता है। दूसरी पंक्ति में प्रथम पंक्ति के मध्य के अंक ३ को लेकर कोष्ठक भरे जाते हैं। ५ अंतिम अंक है। उसके बाद आदिम अंक १ से कोष्ठक भरे जाने प्रारम्भ किये जाते हैं अर्थात् १ व २ से भर दिये जाते हैं। तीसरी पंक्ति के कोष्ठक दूसरी पंक्ति के बीच के अंक ५ से भरने शुरू किये जाते हैं। बाकी के कोष्ठक आदिम अंक १, २, ३ तथा ४ से भरे जाते हैं। चौथी पंक्ति का प्रथम कोष्ठक तीसरी पंक्ति के बीच के अंक २ से भरा जाना शुरू किया जाता है। ५ तक पहुँचने के बाद फिर १ से भरती होती है। पांचवीं पंक्ति का प्रथम कोष्ठक चौथी पंक्ति के बीच के अंक ४ से भरा जाना प्रारम्भ किया जाता है। पांच तक पहुँचने के बाद फिर बाकी अंक १ से शुरू कर भरे जाते हैं।

इस यन्त्र के भरने में विशेषतः यह बात ध्यान में रखने की है—प्रत्येक पंक्ति के प्रथम कोष्ठक का भराव पिछली पंक्ति के मध्य के कोष्ठक के अंक से शुरू किया जाना चाहिए।

इस यन्त्र की प्रत्येक पंक्ति का योग एक समान—पञ्चह होता है।

यन्त्र—

१	२	३	४	५
—	—	—	—	—
२	५	३	१	४
—	—	—	—	—
५	१	२	३	४
—	—	—	—	—
२	३	४	५	१
—	—	—	—	—
४	५	१	२	३

यह यन्त्र ऊपर उल्लिखित लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा के तपःक्रम का सूचक है।

इस तपस्या में $1+2+3+4+5+3+4+5+1+2+5+1+2+3+4+2+$
 $3+4+5+1+4+5+1+2+3$ = तप ७५ दिन + पारणा २५ दिन = १०० दिन = तीन महीने और दश दिन लगते हैं।

विग्रहसहित, विग्रहवजित, लेपवजित तथा आयम्बिल पूर्वक पारणे के आधार पर कम्कावली की तरह इस तप को चार परिपाटियाँ हैं। चारों परिपाटियों में $100 + 100 + 100 + 100 = 400$ दिन = एक वर्ष एक महीना और दश दिन लगते हैं।

महासर्वतोमद्भु प्रतिमा

अन्तकृतिग्रन्थ अष्टम वर्ग के सातवें अध्ययन में आर्या वीरकृष्ण द्वारा महासर्वतोभद्र प्रतिभा तप किये जाने का उल्लेख है।

एकाए काली अट्ठ मासा पंच य दिवसा । चउण्ह दो बासा अट्ठ मासा बीस य दिवसा । सेस तहेव जाव सिद्धा । —अन्तर्कृदाशामूल, पृष्ठ १६७

जहाँ लघुसर्वतोभद्र प्रतिमा में एक उपवास से लेकर पाँच दिन तक उपवास किये जाते हैं, वहाँ महासर्वतोभद्र प्रतिमा में एक उपवास से लेकर सात दिन तक के उपवास किये जाते हैं।

इस तपस्या की विधि या प्रक्रिया शूचक यन्त्र निर्मांकित है, जो लघुसर्वतोभद्रप्रतिमा तप से सम्बद्ध यन्त्र की सरणि पर स्थापित है-

१	२	३	४	५	६	७
४	५	६	७	८	९	३
७	१	२	३	४	५	६
३	४	५	६	७	१	२
६	७	८	९	३	४	५
२	३	४	५	६	७	१
१	६	५	४	३	२	९

इस यन्त्र की प्रत्येक पंक्ति का योग अट्ठाईस है।

इस तपस्या में $1+2+3+4+5+6+7+8+9+1+2+3+4+5+6+7+8+9+1+2+3+4+5+6+7+8+9+1+2+3+4+5+6+7+8+9+1+2+3+4+5+6+7+8+9=196$ = पारणा दिन $49=$ कुल दिन $245=$ आठ महीने तथा पाँच दिन लगते हैं।

इसकी चारों परिपाठियों में $245+245=490$ दिन = दो वर्ष आठ महीने तथा बीस दिन लगते हैं।

आयम्बिल वद्धमान

अन्तकृदशांग सूत्र के अष्टम वर्ग के दशवें अध्ययन में शार्य महासेनकृष्ण द्वारा आयम्बिल

वद्धमान तप किये जाने का वर्णन है । १

इस तप में आयम्बिल (जिसमें एक दिन में एक बार भुना हुआ या पकाया हुआ एक अश पानी के साथ—पानी में भिगोकर खाया जाए) के साथ उपवास का एक विशेष क्रम रहता है । आयम्बिलों की क्रमशः बढ़ती-हुई संख्या के साथ उपवास चलता रहता है । एक आयम्बिल, एक उपवास, दो आयम्बिल, एक उपवास, तीन आयम्बिल, एक उपवास, चार आयम्बिल एक उपवास—ये उत्तरोत्तर बढ़ते-बढ़ते सौ आयम्बिलों तक यह क्रम चलता है ।

इस तप में १+२+३+४+५+६+७+८+९+१०+११+१२+१३+१४+१५+१६+१७+१८+१९+२०+२१+२२+२३+२४+२५+२६+२७+२८+२९+३०+३१+३२+३३+३४+३५+३६+३७+३८+३९+४०+४१+४२+४३+४४+४५+४६+४७+४८+४९+५०+५१+५२+५३+५४+५५+५६+५७+५८+५९+६०+६१+६२+६३+६४+६५+६६+६७+६८+६९+७०+७१+७२+७३+७४+७५+७६+७७+७८+७९+८०+८१+८२+८३+८४+८५+८६+८७+८८+८९+९०+९१+९२+९३+९४+९५+९६+९७+९८+९९+१०० = ५०५० आयम्बिल + १०० उपवास = ५१५० दिन = चवदह वर्ष तीन महीने बीस दिन लगते हैं ।

वृत्तिकार आचार्य श्रभयदेवसूरि ने प्रस्तुत आगम की वृत्ति में इस तप का जो क्रम दिया है, उसके अनुसार पहले एक उपवास, फिर एक आयम्बिल, फिर उपवास, दो आयम्बिल, उपवास, तीन आयम्बिल, उपवास, चार आयम्बिल—ये सौ तक क्रम चलता है । अर्थात् उन्होंने इस तप का प्रारंभ उपवास से माना है पर जैसा ऊपर उल्लेख किया गया है, अन्तकृदशांग सूत्र में आयम्बिल पूर्वक उपवास का क्रम है । वही प्रचलित है तथा आगमोक्त होने से मान्य भी ।

१. एवं महासेणकथा चि, नवर—आयंविल-वद्धमाणं तवोकम्मं उवर्सपजित्ता णं विहृरइ, तं जहा—

आयंविलं करेइ, करेता चउत्थं करेइ ।
वे आयंविलाइं करेइ, करेता चउत्थं करेइ ।
तिण्ण आयंविलाइं करेइ, करेता चउत्थं करेइ ।
चत्तारि आयंविलाइं करेइ, करेता चउत्थं करेइ ।
पंच आयंविलाइं करेइ, करेता चउत्थं करेइ ।
छ आयंविलाइं करेइ, करेता चउत्थं करेइ ।

एवं एकुत्तरियाइ वद्धीए आयंविलाइं वद्धति चउत्थंतरियाइ जाव आयंविलसप करेइ, करेता चउत्थं करेइ ।

तए ण सा महासेणकथा अज्जा आयंविलवद्धमाणं तवोकम्मं चोद्यसहि वासेहि तिहि य मासेहि वीसहि य अहोरत्तेहि 'प्रहामुत्तं जाव आराहेता' जेणेव अज्जचंदणा अज्जा, तेणेव उवागया, उवागच्छता अंदद, नमसद, वंदिता, नमसिता बहुहि चउत्थं-छट्ठद्धृष्टम-दसम-दुवालसेहि मास-द्धमासखमणेहि विविहेहि तवोकम्मेहि अप्पाणं भावेमाजी विहृरइ । —अन्तकृदशासूत्र, पृष्ठ १७५

२. 'आयंविल वद्धमाणं' सि यत्र चतुर्थं कृत्वा आयामाम्लं क्रियते, पुनश्चतुर्थं, पुनर्द्वे आयामाम्ले, पुनश्चतुर्थं, पुनस्त्रीणि आयामाम्लानि, एवं यावच्चतुर्थं शतं चायामाम्लानां क्रियत इति ।

भिक्षु प्रतिमा

भिक्षुओं की तितिक्षा, त्याग तथा उत्कृष्ट साधना का एक विशेष क्रम प्रतिमाओं के रूप में व्याख्यात हुआ है। वृत्तिकार आचार्य अभ्यदेवसूरि ने स्थानांग^१ सूत्र की वृत्ति में प्रतिमा का अर्थ प्रतिपत्ति, प्रतिज्ञा तथा अभिग्रह किया है। भिक्षु एक विशेष प्रतिज्ञा, संकल्प या निश्चय लेकर साधना की एक विशेष पद्धति स्वीकार करता है।

प्रतिमा शब्द प्रतीक या प्रतिबिम्ब का भी बाचक है। वह क्रम एक विशेष साधन का प्रतीक होता है या उसमें एक विशेष साधना प्रतिबिम्बित होती है, इसी अभिप्राय से वहाँ अर्थ-संगति है।

प्रतिमा का अर्थ मापदण्ड भी है। साधक जहाँ किसी एक अनुष्ठान के उत्कृष्ट परिपालन में लग जाता है, वहाँ वह अनुष्ठान या आचार उसका मुख्य ध्येय हो जाता है। उसका परिपालन एक शाहर्ण, उदाहरण या आदरण का रूप ले लेता है, अर्थात् वह अपनी साधना द्वारा एक ऐसी स्थिति उत्पन्न करता है, जिसे अन्य लोग उस आचार का प्रतिमान स्वीकार करते हैं।

समवायांग^२ सूत्र में साधु के लिए १२ प्रतिमाओं का निर्देश है। भगवती^३ सूत्र में १२ प्रतिमाओं की चर्चा है। स्कन्दक अनगार ने भगवान् की अनुज्ञा से उनकी आराधना की।

दशाश्रूतस्कन्ध की सातवीं दशा में १२ भिक्षु-प्रतिमाओं का विस्तार से वर्णन है। तितिक्षा, वैराग्य, आत्मनिष्ठा, अनासक्ति आदि की दृष्टि से वह वर्णन बड़ा उपादेय एवं महत्वपूर्ण है, उसका सारांश इस प्रकार है—

पहली प्रतिमा (एकमासिक प्रतिमा) में प्रतिपन्न साधु शरीर की शुश्रूषा तथा ममता का त्यागकर विचरण करता है। व्यन्तर-देव, अनार्य-जन, सिंह, सर्प आदि के उपसर्ग—कष्ट उत्पन्न होने पर वह शरीर के ममत्व का त्याग किए स्थिरतापूर्वक उन्हें सहन करता है। कोई दुर्बचन कहे तो उन्हें क्षमा-भाव से वह सहता है। वह एक दत्ति आहार ग्रहण करता है। दत्ति का तात्पर्य यह है कि दाता द्वारा भिक्षा देते समय एक बार में साधु के पात्र में जितना आहार पड़ जाय, वह एक दत्ति कहा जाता है। पानी आदि तरल पदार्थों के लिये ऐसा है, देते समय जितने तक उनकी धार खण्डित न हो, वह एक दत्ति है। कइयों ने दत्ति का अर्थ कबल भी किया है।

प्रतिमाप्रतिपन्न भिक्षु, भगवान् ने जिन जिन कुलों में से आहार-पानी लेने को आज्ञा दी है, उनसे ब्यालीस दोषवर्जित आहार लेता है। वह आहार लेते समय ध्यान रखता है कि कुटुम्ब के सभी व्यक्ति भोजन कर चुके हों, श्रमण, ब्राह्मण, अतिथि, कृपण—भूखे, प्यासे को दे दिया गया हो, गृहस्थ अकेला भोजन करने बैठा हो। ऐसी स्थितियों में वह भोजन स्वीकार करता है। दो, तीन, चार, पांच आदमी भोजन करने बैठे हों, तो वहाँ वह भिक्षा नहीं ले सकता। गर्भवती स्त्री के खाने के लिए जो भोजन बना हो, उसके खाये बिना वह आहार नहीं ले सकता। बालक के लिए जो भोजन हो,

१. स्थानांगसूत्र वृत्ति, ६१/१८४
२. समवायांगसूत्र, स्थान १२/१
३. भगवतीसूत्र, २/१/५८-६१

उसके बाये बिना उसमें से भिक्षा लेना उसके लिए कल्पनीय—स्वीकरणीय नहीं है। शिशु को स्तन-पान कराती माता शिशु को छोड़कर यदि भिक्षा दे तो वह नहीं लेता। वह दोनों पौव घर के अन्दर रख कर दे या घर के बाहर रख कर दे तो वह आहार ग्रहण नहीं करता। देने वाले का एक पौव घर की देहली के अन्दर तथा एक पौव घर की देहली के बाहर ही, तो प्रतिमाधारी साधु के लिए वह आहार कल्पनीय है। प्रतिमाधारी साधु के भिक्षा ग्रहण करने के तीन काल हैं—आदिकाल, मध्यकाल तथा अन्तिमकाल। इनमें से मध्यम काल में भिक्षार्थी जाने वाला प्रथम तथा अन्तिम काल में नहीं जाता है।

एकमासिक प्रतिमा-प्रतिपक्ष साधु छह प्रकार से भिक्षा ग्रहण करता है, यथा—परिपूर्ण पेटी या सन्दूक के आकार के चार कोनों के चार घरों से, आधी पेटी या सन्दूक के आकार के दो कोनों के घरों से, गोमूत्रिका के आकार के घरों से—एक घर एक तरफ का, एक घर सामने का, फिर एक घर दूसरी तरफ का—यों स्थित घरों से, पतंग-बीचिका—पतिंगे के आकार के फुटकर घरों से, शंखावर्ती—शंख के आकार के घरों से—एक घर ऊपर का, एक घर नीचे का, फिर एक घर ऊपर का, फिर एक घर नीचे का—ऐसे घरों से गत-प्रत्यागत—सीधे पंक्तिबद्ध घरों से भिक्षा ग्रहण करता है।

प्रतिमाप्रतिपक्ष भिक्षु उस स्थान के एक ही रात्रि प्रवास कर विहार कर जाए, जहाँ उसे कोई पहचानने वाला हो। जहाँ कोई पहचानता नहीं हो, वहाँ वह एक रात, दो रात प्रवास कर विहार कर जाए। एक, दो रात से वह श्रद्धिक रहता है तो उसे दीक्षा-क्षेप या परिहार का प्रायशिच्छत लेना होता है।

प्रतिमाप्रतिपक्ष साधु के लिए चार प्रयोजनों से भाषा बोलना काल्पनीय है—१—आहार आदि लेने के लिए, २—शास्त्र तथा मार्ग पूछने के लिए, ३—स्थान आदि की आशा लेने के लिए, ४—प्रश्नों का उत्तर देने के लिए।

प्रतिमाधारी साधु जिस स्थान में रहता हो, वहाँ कोई आग लगा दे तो उसे अपना शरीर बचाने हेतु उस स्थान से निकलना, अन्य स्थान में प्रवेश करना नहीं कल्पता। यदि कोई मनुष्य उस मुनि को आग से निकालने आए, बांह पकड़ कर खीचे तो उस प्रतिमाधारी मुनि को उस गृहस्थ को पकड़कर रखना, उसको रोके रखना नहीं कल्पता किन्तु ईर्यसिमिति पूर्वक बाहर जाना कल्पता है। प्रतिमाधारी साधु की पगड़ली में कीला, कॉटा, तृण, कंकड़ आदि धांस जाय तो उसे उनको अपने पैर से निकालना नहीं कल्पता, ईर्यसिमिति-जागरूकता पूर्वक विहार करना कल्पता है। उसकी आँख में मच्छर आदि पड़ जाएं, बोज, रज, धूल आदि के कण पड़ जाएं तो उन्हें निकालना, आँखों को साफ करना उसे नहीं कल्पता।

प्रतिमाधारी साधु बाहर जाकर आया हो या विहार करके आया हो, उसके पैर सचित्त धूल से भरे हों तो उसे उन पैरों से गृहस्थ से घर में आहार-पानी ग्रहण करने प्रवेश करना नहीं कल्पता।

प्रतिमाधारी साधु को घोड़ा, हाथी, बैल, भैंस, सूअर, कुत्ता, बाघ आदि कूर प्राणी अथवा दुष्ट स्वभाव के मनुष्य, जो सामने आ रहे हों, देखकर बापिश लौटना या पौव भी इधर उधर करना नहीं कल्पता।

यदि सामने आता जीव अदुष्ट हो, कदाचित् वह साधु को देख कर भयभीत होता हो, भागता हो तो साधु को अपने स्थान से मात्र चार हाथ जमीन पीछे सरक जाना कल्पनीय है।

प्रतिमाधारो साधु को छाया से धूप में, धूप से छाया में जाना नहीं कर्यता किन्तु जिस स्थान में जहाँ वह स्थित है, शीत, ताप आदि जो भी परिषह उत्पन्न हों, उन्हें वह समझाव से सहन करे।

एकमासिक भिक्षु प्रतिमा का यह विधिक्रम है। जैसा सूचित किया गया है, एक महीने तक प्रतिमाधारी भिक्षु को एक दिन में एक दत्ति आहार तथा एक दत्ति पानी पर रहना होता है।

दूसरी प्रतिमा में प्रथम प्रतिमा के सब नियमों का पालन किया जाता है। जहाँ पहली प्रतिमा में एक दत्ति अथ तथा एक दत्ति पानी का विधान है, दूसरी प्रतिमा में दो दत्ति अथ तथा दो दत्ति पानी का नियम है। पहली प्रतिमा को सम्पूर्ण कर माध्यक दूसरी प्रतिमा में आता है। एक मास पहली प्रतिमा का तथा एक मास दूसरी प्रतिमा का यों—दूसरी प्रतिमा के सम्पन्न होने तक दो मास हो जाते हैं। आगे सातवों प्रतिमा तक यही क्रम रहता है। पहली प्रतिमा में बताये सब नियमों का पालन करना होता है। केवल अथ तथा पानी की दत्तियों की सात तक वृद्धि होती जाती है।

आठवीं प्रतिमा का समय सात दिन-रात का है। इसमें प्रतिमाधारी एकान्तर चौविहार उपवास करता है। गाँव नगर या राजधानी से बाहर निवास करता है। उत्तानक—चित लेटता है। पाष्ठवंशायी—एक पाष्ठ या एक पासू से लेटता है या निषद्योपगत—पालथी लगाकर कायोत्सर्ग में बैठा रहता है।

इसे प्रथम सप्त-रात्रिदिवा-भिक्षु-प्रतिमा भी कहा जाता है।

नौवीं प्रतिमा या द्वितीय सप्त-रात्रिदिवा भिक्षुप्रतिमा में भी सात दिन-रात तक पूर्ववत् तप करना होता है। साधक उत्कटुक—घुटने खड़े किए हुए हों, मस्तक दोनों घुटनों के बीच में हो, ऐसी स्थिति लिए हुए पंजों के बल बैठे।

लगंडशायी—बांकी लकड़ी को लगंड कहा जाता है। लगंड को तरह कुब्ज होकर या भुक्कर मस्तक व पंरों की एड़ी को जमीन से लगाकर पीठ से जमीन को स्पर्श न करते हुए अथवा मस्तक एवं पंरों को ऊपर रख कर तथा पीठ को जमीन पर टेक कर सोए।

दण्डायतिका—डण्डे की तरह लंबा होकर अथवा पंर फैलाकर बैठे या लेटे, गाँव आदि से बाहर रहे।

दशवीं भिक्षु-प्रतिमा या तृतीय सप्त-रात्रिदिवा भिक्षु-प्रतिमा का समय भी पहले की तरह सात दिन-रात का है। माध्यक पूर्ववत् गाँव, नगर आदि से बाहर रहे। गोदुहासन—गाय दुहने की स्थिति में बैठे या बोरासन—कुर्सी के ऊपर बैठे हुए मनुष्य के नीचे से कुर्सी निकाल लेने पर जैसी स्थिति होती है, साधक उस आसन से बैठे या आम्रकुब्जासन—आम के फल की तरह किसी खूंटी आदि का सहारा लेकर सारे शरीर की अधर रख कर रहे।

अहोरात्रि भिक्षु-प्रतिमा

इस प्रतिमा में जौविहार बैला करे, गाँव से बाहर रहे। प्रलम्बभूज हो—दोनों हाथों को लटकाते हुए स्थिर रखे।

एकरात्रिक भिक्षु-प्रतिमा

इस प्रतिमा में चौबिहार तेला करे। साधक जिन भुद्रा में—दोनों पैरों के बीच चार अंगुल का अन्तर रखते हुए, सम-श्रवस्था में खड़ा रहे। प्रलम्बभुज हो—हाथ लटकते हुए स्थिर हों। नैऋ निनिमेष हों—भयके नहीं। किसी एक पुद्गल पर दृष्टि लगाये, कुछ भुके हुए शरीर से श्रवस्थित हो आराधना करे।

सप्तसप्तमिका भिक्षु-प्रतिमा

इसका कालमान ४९ दिन का है, जो सात-सात दिन के सात वाहनों या वर्णों में है। पहले सप्तक में पहले दिन एक दत्ति अश्व, एक दत्ति पानी, दूसरे दिन दो दत्ति अश्व, दो दत्ति पानी, यों बढ़ाते हुए सातवें दिन सात दत्ति अश्व, सात दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है। शेष छह सप्तकों में इसी की पुनरावृत्ति करनी होती है।

इसका एक दूसरे प्रकार का भी विधान है। पहले सप्तक में प्रतिदिन एक दत्ति अश्व, एक दत्ति पानी, दूसरे सप्तक में प्रतिदिन दो दत्ति अश्व, दो दत्ति पानी। यों क्रमशः बढ़ाते हुए सातवें सप्तक में सात दत्ति अश्व तथा सात दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है।

अष्टम-अष्टमिका, नवमनवमिका, दशमदशमिका प्रतिमाएँ भी इसी प्रकार हैं। अष्टम-अष्टमिका में आठ-आठ दिन के आठ अष्टक या वर्ग करने होते हैं, नवमनवमिका में नौ-नौ दिन के नौ नवक या वर्ग करने होते हैं, दशमदशमिका में दश-दश दिन के दश दशक या वर्ग करने होते हैं, अश्व तथा पानी की दत्तियों में पूर्वोक्त रीति से आठ तक, नौ तक तथा दश तक वृद्धि की जाती है। इनका क्रमशः ६४ दिन, ८१ दिन तथा १०० दिन का कालमान है।

लघुमोक-प्रतिमा

यह प्रस्तवण सम्बन्धी अभिग्रह है। द्रव्यतः नियमानुकूल हो तो प्रस्तवण की दिन में अप्रतिष्ठापना, क्षेत्रतः गाँव आदि से बाहर, कालतः दिन में या रात में, शीतकाल में या ग्रीष्मकाल में। यदि भोजन करके यह प्रतिमा साधी जाती है तो छह दिन के उपवास से शमाप्त होती है। बिना खाये साधी जाती है तो सात दिन से पूर्ण होती है।

महामोक-प्रतिमा की भी यही विधि है। केवल इतना सा अन्तर है, यदि वह भोजन करके स्वीकार की जाती है तो सात दिन के उपवास से सम्पन्न होती है। यदि बिना भोजन किए स्वीकार की जाती है तो आठ दिन के उपवास से पूर्ण होती है।

यवमध्यचन्द्र-प्रतिमा

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा से शुरू होकर चन्द्रमा की कला की वृद्धि-हानि के आधार पर दत्तियों की वृद्धि-हानि करते हुए इसकी आराधना की जाती है। दोनों पक्षों के पन्द्रह पन्द्रह दिन मिलाकर इसकी आराधना में एक महोना लगता है। शुक्लपक्ष में बढ़ती हुई दत्तियों की संख्या तथा कृष्णपक्ष में घटती हुई दत्तियों की संख्या, मध्य में दोनों ओर से भारी व मोटी होती है। इसलिए इसके मध्य भाग को जी से उपमित किया गया। जो का दाना बीच में मोटा होता है।

इसका विश्लेषण यों है—

शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी, द्वितीया को दो दत्ति अन्न तथा दो दत्ति पानी, इस प्रकार उत्तरोत्तर बढ़ाते हुए पूर्णिमा को पन्द्रह दत्ति अन्न, पन्द्रह दत्ति पानी, कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को चबदह दत्ति अन्न तथा चबदह दत्ति पानी, फिर क्रमशः एक एक घटाते हुए कृष्णपक्ष की चतुर्दशी को एक दत्ति अन्न, एक दत्ति पानी तथा अमावस्या को उपवास—यह साधनाक्रम है।

वच्चमध्यवच्चन्न-प्रतिमा

कृष्णपक्ष की प्रतिपदा के दिन इसे प्रारम्भ किया जाता है। चन्द्रमा की कला की हानि-वृद्धि के आधार पर दत्तियों की हानि-वृद्धि से यह प्रतिमा सम्पन्न होती है। प्रारम्भ में कृष्णपक्ष की प्रतिपदा को १५ दत्ति अन्न और १५ दत्ति पानी ग्रहण करने का विधान है, जो आगे उत्तरोत्तर घटता जाता है, अमावस्या को एक दत्ति रह जाता है। शुक्लपक्ष की प्रतिपदा को दो दत्ति अन्न, दो दत्ति पानी लिया जाता है। उत्तरोत्तर बढ़ते हुए शुक्लपक्ष की चतुर्दशी को पन्द्रह पन्द्रह दत्ति हो जाता है और पूर्णिमासी की पूर्ण उपवास रहता है। यों इसका बीच का भाग दत्तियों की संख्या की अपेक्षा से पतलाय (हूँसका रहता) है। वच्च का भाग भी पतला होता है इसलिए इसे वच्च के मध्यभाग से उपमित किया गया है।

स्थविरों के गुण

२५—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवान् महाबीरस्स अंतेवासी बहुवे थेरा भगवंतो जाहसंपणा कुलसंपणा बलसंपणा रुद्रसंपणा विषयसंपणा जागरसंपणा दंसणसंपणा चरितसंपणा लज्जासंपणा लाघवसंपणा ग्रोयंसी तेयंसी बद्धचंसी जसंसी, जियकोहा जियमाणा जियमाणा जियलोभा जिझंदिया जियणिहा जियपरीसहा जीवियास-मरणभयविष्पमुक्ता, वयप्पहाणा गुणप्पहाणा करणप्पहाणा चरणप्पहाणा णिगगहुप्पहाणा निच्छयप्पहाणा अज्जवप्पहाणा भद्रप्पहाणा लध्वप्पहाणा खंतिप्पहाणा भुत्तिप्पहाणा विज्ञाप्पहाणा मंतप्पहाणा वेषप्पहाणा बंभप्पहाणा नयप्पहाणा नियमप्पहाणा सक्तप्पहाणा सोयप्पहाणा चारुप्पणा लज्जातवस्सीजिझंदिया सोही अणियाणा अप्पोसुथा अवहुल्लेसा अप्पडिलेस्सा सुसामण्णरथा दंता इणभेव णिमंथं पावयणं पुरओकाऊं विहरंति।

२५—तब श्रमण भगवान् महाबीर के अन्तेवासी बहुत से स्थविर—ज्ञान तथा चारित्र में बहु—वृद्धि-प्राप्त, भगवान्, जाति-सम्पन्न उत्तम, निर्मल मातृपक्षयुक्त, कुलसम्पन्न—उत्तम, निर्मल पितृपक्षयुक्त, बल-सम्पन्न—उत्तम देहिक शक्तियुक्त, रूप-सम्पन्न—रूपवान् सर्वाग्निदर, विनय-सम्पन्न, ज्ञान-सम्पन्न, दर्शन-सम्पन्न, चारित्र-सम्पन्न, लज्जा-सम्पन्न, लाघव-सम्पन्न—हूलके—भौतिक पदार्थों तथा कषाय आदि के भार से रहित, श्रोजस्वी तेजस्वी, वचस्वी—प्रशस्तभाषी अथवा वर्चस्वी—वर्चस् या प्रभावयुक्त, यशस्वी, क्रोधजयी, मानजयी, मायाजयी, लोभजयी, इन्द्रियजयी, निद्राजयी, परिषहजयी—कष्टविजेता, जीवन की इच्छा और मृत्यु के भय से रहित, व्रतप्रधान, गुणप्रधान—संयम आदि गुणों की विशेषता से युक्त, करणप्रधान—आहार-विशुद्धि आदि की विशेषता सहित, चारित्रप्रधान—उत्तमचारित्र सम्पन्न—दृष्टविध यतिधर्म से युक्त, निग्रहप्रधान—राग आदि शत्रुओं के निरोधक, विश्वयप्रधान—सत्य तत्त्व के निश्चित विश्वासी या

कर्म-फल की निश्चिह्नता में आश्वस्त, आज्ञाप्रधान—सरलतायुक्त, मार्दवप्रधान—सुदुतायुक्त, लाष्टप्रधान—आत्मलीनता के कारण किसी भी प्रकार के भार से रहित या स्फूर्तिशील, क्रियादक्ष, क्षान्ति-प्रधान—क्षमाशील, गुप्तप्रधान—मानसिक, वाचिक तथा कार्यिक प्रवृत्तियों के गोपक-दिवेकपूर्वक उनका उपयोग करने वाले, मुक्तप्रधान—कामनाओं से छूटे हुए या मुक्तता की ओर अग्रसर, विद्या-प्रधान—ज्ञान की विविध शाखाओं के पारगामी, मन्त्रप्रधान—सत् मन्त्र, चिन्तना या विचारणायुक्त, देवप्रधान—देव आदि लोकिक, लोकोत्तर लालचों के जाहा इन्द्रजयप्रधान, नयप्रधान—नैगम आदि नयों के जाता, नियमप्रधान—नियमों के पालक, सत्यप्रधान, शौचप्रधान—आत्मिक शुचिता या पवित्रतायुक्त, चारुवर्ण—सुन्दर वर्णयुक्त अथवा उत्तम कीर्तियुक्त, लज्जा—संयम की विराघना में हृदय-संकोच वाले तथा तपश्री—तप की आभा या तप के तेज द्वारा जितेन्द्रिय, शोधि-शुद्ध या अकलुषित-हृदय, अनिदान—निदानरहित—स्वर्ग तथा अन्यान्य वैभव, समृद्धि, सुख आदि की कामना बिना धर्माराधना में संलग्न, अल्पोत्सुक्य—भौगिक उत्सुकता रहित थे। अपनी मनोवृत्तियों को संयम से बाहर नहीं जाने देते थे। अनुपम (उच्च) मनोवृत्तियुक्त थे, श्रमण-जीवन के सम्यक् निर्वाह में संलग्न थे, दान्त—इन्द्रिय, मन आदि का दमन करने वाले थे, वीतराग प्रभु द्वारा प्रतिपादित प्रबन्धन—धर्मनुशासन, तत्त्वानुशासन को आगे रखकर—प्रमाणभूत मानकर विचरण करते थे।

२६—तेसि णं भगवंताणं आवाकाथा वि विदिता भवति, परवाथा वि विदिता भवति, आवाकाथं जमद्वत्ता नलवणमिव यस्यात्तंगा, अच्छिद्दपसिणवागरणा, रयणकरंडगसमाणा, कुस्तियावणसूया, परवाइपमहणा, दुवालसंगिणो, समत्तगणिपिङ्गवधरा, सल्वक्षरसज्जिवाइणो, सञ्चमासाणुगामिणो, अजिणा जिणसंकासा, जिणा इव अवितर्ह वागरमाणा संजमेणं तत्त्वसा अप्याणं भावेमाणा विहुरंति।

२७—वे स्यविर भगवान् आत्मवाद—अपने सिद्धान्तों के विविध वादों—पक्षों के वेता—जानकार थे। वे दूसरों के सिद्धान्तों के भी वेता थे।

कमलवन में क्रोडा आदि हेतु पुनः पुनः विचरण करते हाथी की ज्यों वे अपने सिद्धान्तों के पुनः पुनः अभ्यास या आवृत्ति के कारण उनसे सुपरिचित थे। वे श्रद्धिद—अव्याहत—अखण्डत—निरन्तर प्रश्नोत्तर करते रहने में सक्षम थे। वे रत्नों की पिटारी के सदृश ज्ञान, दर्शन, चारित्र आदि दिव्य रत्नों से आपूर्ण थे।

कुत्रिक—स्वर्गलोक, मर्त्यलोक, पाताललोक में प्राप्त होनेवाली वस्तुओं की हाट के सदृश वे अपने लब्धि-वैशिष्ट्य के कारण सभी अभीष्यित—इच्छित अर्थ या प्रयोजन संपादित करने में समर्थ थे। परवादिप्रमदेन—दूसरों के वादों या सिद्धान्तों का युक्तिपूर्वक प्रमदेन—सर्वथा खण्डन करने में सक्षम थे। आचारांग, सूत्रकृतांग आदि बारह अंगों के जाता थे। समस्त गणि-पिटक—आधार्य का पिटक—पेटी—प्रकीर्णक, श्रुतादेश, श्रुतनिर्युक्ति आदि ज्ञान-प्रबन्धन के धारक, अक्षरों के सभी प्रकार के संयोग के जानकार, सब भाषाओं के अनुगामी—ज्ञाता थे। वे जिन—सर्वज्ञ न होते हुए भी सर्वज्ञ सदृश थे। वे सर्वज्ञों की तरह अवितथ—यथार्थ, वास्तविक या सत्य प्रलृपण करते हुए, संयम तथा तप से आत्मा को भावित करते हुए विचरते थे।

गुणसम्पन्न अनगार

२८—लेण कालेण सेणं समएणं समणस्स भगवन्नो महावीरस्स अंतेवासी बहुवे ग्रणगारा भगवंतो इरियात्मिया, भासात्मिया, एसणात्मिया, आधारणभंड-भल्लनिक्षेपणात्मिया, उच्चार-पासवण-लेल-

सिद्धाण्ड-जह्न-पारिद्वाबैवासनिया, भण्डगुप्ता, वयगुप्ता, कायगुप्ता, गुप्ता, गुत्तिदिया, गुत्तबंभयारो, श्रमसा, अकिञ्चणा, छिणगंथा,^१ छिणसोया, निरुदलेवा, कंसपाइव मुक्कतोया, संख इव निरंगणा, जीवो विष अप्पडिहयगर्हि, जच्चकणगं पिष जायरुद्वा, आदरिसफलगा इव पागडभावा, कुम्भो इव गुत्तिदिया, पुक्खरूपतं व निरुदलेवा, गगणभिव निरालंबणा, अणिलो इव निरालया, चंद्रो एव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, समरो इव गंभोरा, विहुग इव सञ्चओ विष्पमुषका, मंदरो इव अप्पकंपा, सारथसल्लिं इव सुद्धहियया, खग्गिविसाणं इव एगजाया, भारणपक्षी व अप्पमत्ता, कुञ्जरो इव सोंडीरा, वसभो इव जायत्यामा, सीहो इव दुर्दरिसा, वसुधरा इव सख्वफासविलहा, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलता ।

२७—उस काल, उस समय थमण भगवान् महावीर के अन्तेवासी बहुत से अनगार भगवान्—साधु थे । वे ईर्या—गमन, हलन-चलन आदि क्रिया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इघर-उधर रखने आदि तथा मल, मूत्र, खंखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील थे । वे मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त,—मन, वचन तथा शरीर की क्रियाओं का गोपायन—संयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयों में रागरहित—अन्तमुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को उनके विषय-व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त अहान्तारी—नियमोपनियमपूर्वक अहर्चर्य का संरक्षण—परिपालन करनेवाले, अमम—ममत्वरहित, अकिञ्चन—परिग्रहरहित, छिन्नगन्ध—संसार से जोड़ने वाले पदार्थों से विमुक्त, छिन्नस्वोत—लोक-प्रवाह में नहीं बहने वाले, निरुपलेप—कर्मबन्ध के लेफ से रहित, कांसे के पात्र में जैसे पानी नहीं लगता, उसी प्रकार स्नेह, आसक्ति आदि के लगाव से रहित, शंख के समान निरंगण—राग आदि की रञ्जनात्मकता से शून्य—शंख जैसे सम्मुखीन रंग से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार सम्मुखीन कोध, द्वेष, राग, प्रेम, प्रशंसा, निन्दा आदि से अप्रभावित, जीव के समान अप्रतिहत—प्रतिष्ठात या निरोधरहित गतियुक्त, जात्य—उत्तम जाति के, विशेषित—अन्य कुधातुओं से अभिश्रित शुद्ध स्वर्ण के समान जातरूप—प्राप्त निमंल चारित्य में उत्कृष्ट भाव से स्थित—निर्दोष चारित्य के प्रतिपालक, दर्पणपट्ट के सदृश—प्रकटभाव—प्रवचना, छलना व कपटरहित शुद्धभावयुक्त, कछुए की तरह गुप्तेन्द्रिय-इन्द्रियों को विषयों से खींच कर निवृत्ति-भाव में संस्थित रखने वाले, कमलपत्र के समान निर्लेप, आकाश के सदृश निरालम्ब—निरयेक्ष, बायु की तरह निरालय—गृहरहित, चन्द्रमा के समान सौम्य लेश्यायुक्त—सौम्य, सुकोमल-भाव-संबलित, सूर्य के समान दीप्ततेज—दैहिक तथा आत्मिक तेजयुक्त, समुद्र के समान गम्भीर, पक्षी की तरह सर्वथा विप्रमुक्त—मुक्तपरिकर, अनियतवास—परिवार, परिजन आदि से मुक्त तथा निश्चित निवासरहित, मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प—अनुकूल, प्रतिकूल स्थितियों में, परिपहों में अविचल, शरद् क्रतु के जल के समान शुद्ध हृदययुक्त, गेंडे के सीग के समान एकजात—राग आदि विभावों से रहित, एकमात्र आत्मनिष्ठ, भारण्ड^२ पक्षी के समान अप्रमत्त—प्रमादरहित, जागरूक, हाथी के सदृश शौण्डीर—कषाय आदि को जीतने में शक्तिशाली, बलोन्नत,

१. टीका के अनुसार 'अगंथा' पाठ है, जिसका अर्थ है—अपरिग्रह ।

२. ऐसी मान्यता है, भारण्ड पक्षी के एक शरीर, दो सिर तथा तीन पैर होते हैं । उसकी दोनों शीधाएं अलग-अलग होती हैं । यों वह दो पक्षियों का समन्वित रूप लिये होता है । उसे अपनी जीवन-निर्वाह हेतु खानपान आदि क्रियाओं में अत्यन्त प्रमादरहित या जागरूक रहता होता है ।

दृष्टव्य के समान धीर्यशील—सुस्थिर, सिंह के समान दुर्धर्ष—परिषद्वारा, कछटों से अपराजेय, पृथ्वी के समान सभी शीत, उष्ण, अनुकूल, प्रतिकूल स्पर्शों को समझाव से सहने में सक्षम तथा शृत द्वारा भली भाँति हुत—हवन की हुई अग्नि के समान लेज से जाज्वल्यमान—ज्ञान तथा तप के तेज से दीप्तिमान् थे।

२८—नत्यं तेसि णं भगवंताम् कत्थइ पङ्गिबंधे भवह । से य पङ्गिबंधे चउद्धिहे पण्णत्ते; तं जहा—दृष्टव्यओ, खेतओ, कालओ, भावओ । दृष्टव्यओ णं सचित्ताचित्तमीसिएसु दृष्टव्येसु । खेतओ—गमे वा जयरे वा रणे वा खेते वा खले वा घरे वा अंगणे वा । कालओ—समए वा, आवलियाए वा, जाव (आणापाणुए वा थोवे वा लवे वा मुहुत्ते वा अहोरत्ते वा पक्षे वा मासे वा) अयणे वा, अण्णयरे वा दीहुकालसंज्ञेगे । भावओ—कोहे वा माणे वा मायाए वा लोहे वा भए वा हासे वा । एवं सेसि ण भवह ।

२९—उन पूजनीय साधुओं के किसी प्रकार का प्रतिबन्ध—रुक्षवट या आसक्ति का हेतु नहीं था ।

प्रतिबन्ध चार प्रकार का कहा गया है—द्रव्य की अपेक्षा से, क्षेत्र की अपेक्षा से, काल की अपेक्षा से तथा भाव की अपेक्षा से ।

द्रव्य की अपेक्षा से सचित्त अचित्त तथा मिश्रत द्रव्यों में; क्षेत्र की अपेक्षा से गाँव, नगर, खेत, खलिहान, घर तथा आँगन में; काल की अपेक्षा से समय^१ आवलि का,^२ (आनप्राण^३, थोव^४—स्तोक, लव,^५ मुहुत्त,^६ दिन-रात, पक्ष, मास,) अयन—छह मास एवं अन्य दोषकालिक संयोग में तथा भाव की अपेक्षा से क्रोध, अहंकार, माया, लोभ, भय या हास्य में उनका कोई प्रतिबन्ध—आसक्ति भाव नहीं था ।

२९—से णं भगवंतो वासावासवज्ज अटु गिम्हहैमतियाणि मासाणि गमे एगराइया, जयरे पंचराइया, खासीचंवणसमाणकप्पा, समलेट्नु-कंचणा, समसुह-दुख्खा, इहलोग-परसोगअप्पिद्वद्वा, संसारपारगामी, कम्मणिग्धायणट्टाए अभुद्विया विहरति ।

२३—वे साधु भगवान् वर्षावास—चातुर्मास्य के चार महीने छोड़कर ग्रीष्म तथा हेमन्त—शीतकाल—दोनों के आठ महीनों तक किसी गाँव में एक रात (दिवसक्रम से एक सप्ताह) तथा नगर में पाँच रात (पञ्चवमि सप्ताह में विहार अर्थात् उनतीस दिन) निवास करते थे ।

चन्दन जैसे अपने को काटनेवाले वसूले को भी सुर्गधित बना देता है, उसी प्रकार वे (साधु) अपना अपकार करनेवाले का भी उपकार करने की वृत्ति रखते थे । अथवा अपने प्रति वसूले

१. समय—काल का अविभाज्य भाग ।
२. आवलिका—असंख्यात समय ।
३. आनप्राण—आनप्राण—उच्छ्रवाण-निःश्वास का काल ।
४. थोव—स्तोक—मात्र उच्छ्रवाण-निःश्वास जितना काल ।
५. लव—मात्र थोव जितना काल ।
६. मुहुत्त—सतहृत्तर तथा जितना काल ।

के समान कुर व्यवहार करनेवाले—यपकारी तथा चन्दन के समान सौम्य व्यवहार करनेवाले—उपकारी—दोनों के प्रति राग-द्वेष-रहित समान भाव लिये रहते थे। वे मिट्टी के ढेले और स्वर्ण को एक समान समझते थे। सुख और दुःख में समान भाव रखते थे। वे ऐहिक तथा पारलौकिक आसक्ति से बंधे हुए नहीं थे—अनासक्त थे। वे संसारपारगामी—नारक, तिर्यञ्च, मनव्य, देव—चतुर्गतिरूप संसार के पार पहुँचने वाले—मोक्षाभिगामी तथा कर्मों का निर्वातन—नाश करने हेतु अभ्युत्थित उठे हुए—प्रयत्नशील होते हुए विचरण करते थे।

विवेचन प्रस्तुत सूत्र में साधुओं के लिए ग्राम में एकरात्रिक तथा नगर में पञ्चरात्रिक प्रवास का उल्लेख है। जैसा कि वृत्तिकार ने संकेत किया है, वह प्रतिमाकल्पिकों को उद्दिष्ट करके १ है। साधारणतः साधुओं के लिए मासकल्प विहार विहित है। यहाँ अनुवाद में एकरात्रिक तथा पञ्चरात्रिक का जो अर्थ किया गया है, वह परम्परानुसृत है, सर्व-सामान्य विधान है।

तप का विवेचन

३०—तेसि णं भगवत्ताणं एएण विहारेण चिह्नमाणणं इमे एयाह्वे अद्भूतरबाहिरए तवोवहाणे होत्या। तंजहा—अद्वितरए छविहे, बाहिरए विछविहे।

से कि तं बाहिरए ? छविहे, पण्णते। तं जहा—१ अणसणे २ ओमोयरिया ३ भिक्खायरिया ४ रसपरिच्छाए ५ कायकिलेसे ६ पडिसंलीणया।

से कि तं अणसणे ? अणसणे दुविहे पण्णते। तं जहा—१ इत्तरिए य २ आवकहिए य।

से कि तं इत्तरिए ? अणेगविहे पण्णते। तं जहा—१ चउत्थभसे २ छहुभसे ३ अहुभसे ४ दसमभसे ५ बारसभसे ६ चउद्दसभसे ७ सोलसभसे ८ अद्वमासिए भत्ते ९ मासिए भत्ते १० दोमासिए भत्ते ११ तेमासिए भसे १२ चउमासिए भसे १३ पंचमासिए भत्ते १४ छमासिए भत्ते, से तं इत्तरिए।

से कि तं आवकहिए ? आवकहिए दुविहे पण्णते। तं जहा—१ पाञ्चोवगमणे य २ भत्त-पञ्चवक्षाणे य।

से कि तं पाञ्चोवगमणे ? पाञ्चोवगमणे। दुविहे पण्णते। तं जहा—१ वाघाहमे य २ निव्वाघाहमे य नियमा अप्पडिकम्मे। से तं पाञ्चोवगमणे।

से कि तं भत्तपञ्चवक्षाणे ? भत्तपञ्चवक्षाणे दुविहे पण्णते। तं जहा—१ वाघाहमे य २ निव्वाघाहमे य णियमा सप्पडिकम्मे। से तं भत्तपञ्चवक्षाणे, से तं छणसणे।

से कि तं आमोयरियाए ? दुविहा पण्णता। तं जहा—१ दब्बोमोयरिया य २ भावोमोयरिया य।

से कि तं दब्बोमोयरिया ? दुविहा पण्णता। तं जहा—१ उवगरणदब्बोमोयरिया य २ भत्त-पाणदब्बोमोयरिया य।

१. 'गमे एगराइय' ति एकरात्रो बासमानतया अस्ति वेषां ते एकरात्रिकाः, एवं नगरे पञ्चरात्रिका इति, एतच्च प्रतिमाकल्पिकानाश्रित्योक्तम्, अन्येषां मासकल्पविहारित्वादिति। - औपचारिक सूत्र वृत्ति, पत्र ३६

से कि तं उवगरणदब्बोमोयरिया ? उवगरणदब्बोमोयरिया तिविहा पण्णता । तं जहा-१ एगे बत्ते २ एगे पाए ३ जियसोवकरणसाइज्जणया, से तं उवगरणदब्बोमोयरिया ।

से कि तं भत्तपाणदब्बोमोयरिया ? भत्तपाणदब्बोमोयरिया अणेगविहा पण्णता । तं जहा—१ अट्टकुड़कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे अप्पाहारे, २ दुवालस कुड़कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे अवड्डोमोयरिया, ३ सोलस कुड़कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे दुभागपत्तो-मोयरिया, ४ चउबीसं कुड़कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे पत्तोमोयरिया, ५ एचकतीसं कुड़कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे किंधूणोमोयरिया, ६ बत्तीसं कुड़कुडिअंडगप्पमाणमेत्ते कवले आहारमाणे पमरणपत्ता, ७ एक्सो एगेण वि घासेण ऊणयं आहारमाहारेमाणे समणे णिगंथे णो पकामर-समोइत्ति वत्तध्वं सिया । से तं भत्तपाणदब्बोमोयरिया, से तं दब्बोमोयरिया ।

से कि तं भावोमोयरिया ? भावोमोयरिया अणेगविहा पण्णता । तं जहा—अप्पकोहे, अप्प-माणे, अप्पमाए, अप्पलोहे, अप्पसहे, अप्पसंसे । से तं भावोमोयरिया, से तं ओमोयरिया ।

से कि तं भिक्खायरिया ? भिक्खायरिया अणेगविहा पण्णता । तं जहा—१ दब्बाभिग्गह-चरए, २ लेताभिग्गहचरए, ३ कालाभिग्गहचरए, ४ भावाभिग्गहचरए, ५ उविखुसचरए, ६ णिकिखस-चरए, ७ उविखतणिकिखतचरए, ८ णिकिखतउविखतचरए, ९ वट्टुज्जमाणचरए, १० साहरिज्जमाण-चरए, ११ उवणीयचरए, १२ अवणीयचरए, १३ उवणीयअवणीयचरए, १४ अवणीयउवणीयचरए १५ संसद्गचरए, १६ असंसद्गचरए, १७ तज्जायसंसद्गचरए, १८ शण्णायचरए, १९ मोष्पचरए, २० विद्वलाभिए, २१ अविद्वलाभिए, २२ पुद्वलाभिए, २३ अपुद्वलाभिए, २४ भिक्खालाभिए, २५ अभिक्खालाभिए, २६ अणगिलायए, २७ ओवणिहिए, २८ परिमियपिंडवाइए, २९ सुद्वेसणिए, ३० संखाइसिए । से तं भिक्खायरिया ।

से कि तं रसपरिच्चाए ? रसपरिच्चाए अणेगविहे पण्णते । तं जहा—१ निष्ठीहए, २ पणीयरसपरिच्चाए, ३ आयंविलिए, ४ आयामसित्थभोई, ५ अरसाहारे, ६ विरसाहारे, ७ अंताहारे, ८ पंताहारे, ९ लूहाहारे, से तं रसपरिच्चाए ।

से कि तं कायकिलेसे ? कायकिलेसे अणेगविहे पण्णते । तं जहा—१ ठाणटिइए, २ उक्कुडुया-सणिए, ३ पडिमट्टाई, ४ घोरासणिए, ५ नेलजिए, ६ प्रायावए, ७ अवाउडए, ८ अकंडुयए, ९ अणिदूहए, १० सब्बगायपरिकम्बविभूसविप्पमुष्के, से तं कायकिलेसे ।

से कि तं पडिसंलीणया ? पडिसंलिणया चउविहा पण्णता । तं जहा—१ इंदियपडिसंलीणया, २ कसायपडिसंलिणया, ३ जोगपडिसंलीणया, ४ विवित्तसयणासणसेवणया । से कि तं इंदियपडि-संलीणया ? इंदियपडिसंलीणया पंचविहा पण्णता । तं जहा—१ सोइंदियविसयप्पयारनिरोहो वा, सोइंदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, २ चविखदियविसयप्पयारनिरोहो वा, चविखदिय-विसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ३ घाणिदियविसयप्पयारनिरोहो वा, घाणिदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ४ जिंभदियविसयप्पयारनिरोहो वा, जिंभदियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोसनिग्गहो वा, ५ फासिवियविसयप्पयारनिरोहो वा, फासिवियविसयपत्तेसु अत्थेसु रागदोस-निग्गहो वा, से तं इंदियपडिसंलीणया ।

से कि तं कसायपडिसंलीणया ? कसायपडिसंलीणया चउच्चिह्ना पणता । तं जहा—१ कोहसुदयनिरोहो वा, उदयपत्तस्त वा कोहस्स विफलीकरणं, २ माणस्मुदयनिरोहो वा उदयपत्तस्त वा माणस्स विफलीकरणं, ३ मायाउदयपिरोहो वा, उदयपत्तस्त वा मायाए विफलीकरणं, ४ लोहस्तु-वयनिरोहो वा उदयपत्तस्त वा लोहस्स विफलीकरणं, से तं कसायपडिसंलीणया ।

से कि तं जोगपडिसंलीणया ? जोगपडिसंलीणया तिविहा पणता । तं जहा—१ मणजोग-पडिसंलीणया, २ वयजोगपडिसंलीणया, ३ कायजोगपडिसंलीणया ।

से कि तं मणजोगपडिसंलीणया ? १ अकुसलमणजिरोहो वा २ कुसलमणउदीरणं वा, से तं मणजोगपडिसंलीणया । से कि तं वयजोगपडिसंलीणया ? १ अकुसलवयनिरोहो वा २ कुसलवयउदीरणं वा, से तं वयजोगपडिसंलीणया । से कि तं कायजोगपडिसंलीणया ? कायजोगपडिसंलीणया जं णं सुसभाहिष्यपाणिपाए कुम्मो इव गुत्तिदिए सत्त्वगायपडिसंलीणे चिदुइ, से तं कायजोगपडिसंलीणया ।

से कि तं विवितसयणासणसेवणया ? विवितसयणासणसेवणया जं णं आरामेसु, उज्जाणेसु, वेवकुलेसु, सहासु, पवासु, पणियगिहेसु, पणियसलासु, इत्थीपसुपंडगसंसत्तविरहियासु वसहीसु फासुएसणिज्जं पीड-फलग-मेज्जा-संथारगं उवसंपज्जित्ताणं विहरइ । से तं पडिसंलीणया, से तं बाहिरए तवे ।

से कि तं अविभत्तरए तवे ? अविभत्तरए छविहे पणते । तं जहा—१ पायच्छ्रुतं, २ विणए, ३ वेयावच्चं, ४ सज्जाश्चो, ५ झाणं, ६ विउस्सगो ।

से कि तं पायच्छ्रुते ? २ दसविहे पणते । तं जहा—१ आलोयणारिहे २ पडिककमणारिहे ३ तदुभयारिहे ४ विवेगारिहे ५ विउस्सगारिहे ६ तवारिहे ७ छेवारिहे ८ मूलारिहे ९ ग्रणवद्वयारिहे १० पारंचियारिहे, से तं पायच्छ्रुते ।

से कि तं विणए ? विणए सत्तविहे पणते । तं जहा—१ णाणविणए २ वंसणविणए ३ चरित्तविणए ४ मणविणए ५ वद्विणए ६ कायविणए ७ लोगोवयारविणए ।

से कि तं णाणविणए ? पंचविहे पणते, तं जहा—१ आचिणिष्ठोहिषणाणविणए २ सुषणाण-विणए ३ ओहिषणाणविणए ४ मणपञ्जसणाणविणए ५ केवलणाणविणए ।

से कि तं दंसणविणए ? दुविहे पणते । तं जहा—१ सुस्सूसणाविणए २ अणच्चासा-यणाविणए ।

से कि तं सुस्सूसणाविणए ? सुस्सूसणाविणए अणेगविहे पणते । तं जहा—१ अब्दुष्टाणे इ वा, २ आसणाभिग्नहे इ वा, ३ आसणप्पवाणे इ वा, ४ सवकारे इ वा, ५ सम्माणे इ वा, ६ किइकम्ने इ वा, ७ अंजलिप्पम्नहे इ वा, ८ रंतस्स अणुगच्छणया, ९ ठियस्स पञ्जुवासणया, १० गच्छंतस्स पडिसंसाहणया, से तं सुस्सूसणाविणए ।

से कि तं अणच्चासायणाविणए ? अणच्चासायणाविणए पणयालीसविहे पणते । तं जहा—१ अरहंताणं अणच्चासायणया २ अरहंतपणतस्स धम्यस्स अणच्चासायणया ३ आयरियाणं अणच्चा-सायणया एवं ४ उवज्ञायाणं ५ थेराणं ६ कुस्स उ गणस्त ७ संघस्त ९ किरियाणं १० संभोगस्स

११ आभिणिदोहिणाणस्स १२ सुयणाणस्स १३ भ्रोहिणाणस्स १४ मणवज्जदाणाणस्स १५ केवलणाणस्स १६-३० एएसि चेव भत्तिव्युमाणे, ३१-४५ एएसि चेव वणसंजलणया, से तं श्रीणव्यासायणाविणए ।

से कि तं चरित्तविणए ? चरित्तविणए पंचविहे पण्णते । तं जहा—१ सामाइयचरित्तविणए, २ छेवोदट्टाविणयचरित्तविणए, ३ परिहारविसुद्धिचरित्तविणए, ४ सुहुमसंपरायचरित्तविणए, ५ अहक्षायचरित्तविणए, से तं चरित्तविणए ।

से कि सं भणविणए ? भणविणए दुविहे पण्णते । तं जहा—१ पसत्थमणविणए, २ अपसत्थमणविणए ।

से कि तं अपसत्थमणविणए ? अपसत्थमणविणए जे य मणे १ सावज्जे, २ सकिरिए, ३ सक्ककसे, ४ कडुर, ५ णिट्ठुरे, ६ फलसे, ७ आप्हयकरे, ८ छेयकरे, ९ भेषकरे, १० परितावणकरे, ११ उहृषणकरे, १२ सूओवघाइए, तहृषणारं मणो णो पहारेज्जा, से तं अपसत्थमणोविणए ।

से कि तं पसत्थमणोविणए ? पसत्थमणोविणए तं चेव पसत्थ णेयदं । एवं चेव वङ्गविणओवि एएहि पएहि चेव णेयव्यो, से तं वङ्गविणए ।

से कि तं कायविणए ? कायविणए दुविहे पण्णते । तं जहा—१ पसत्थकायविणए २ अपसत्थकायविणए ।

से कि तं अपसत्थकायविणए ? अपसत्थकायविणए सत्तविहे पण्णते । तं जहा—१ अणाउत्तं गमणे, २ अणाउत्तं ठाणे, ३ अणाउत्तं निसोइणे, ४ अणाउत्तं तुयट्टणे, ५ अणाउत्तं उल्लंघणे, ६ अणाउत्तं पलंघणे, ७ अणाउत्तं सव्विदियकावजोगजुं जणया, से तं अपसत्थकायविणए ।

से कि तं पसत्थकायविणए ? पसत्थकायविणए एवं चेव पसत्थ भाणियवं । से तं पसत्थकायविणए, से तं कायविणए ।

से कि तं लोगोवयारविणए ? लोगोवयारविणए सत्तविहे पण्णते । तं जहा—१ अवभास-वस्तियं, २ परच्छंबाणुवत्तियं, ३ कज्जहेउं, ४ कयपडिकिरिया, ५ अत्तगवेसणया, ६ वेसकालण्णुया, ७ सव्वट्टेसु अप्पडिलोमया, से तं लोगोवयारविणए, से तं विणए ।

से कि तं वेयावच्चे ? वेयावच्चे दसविहे पण्णते । तं जहा—१ श्रायरियवेयावच्चे, २ उवज्ज्ञायवेयावच्चे, ३ सेहवेयावच्चे, ४ गिलाणवेयावच्चे, ५ तवस्तिसवेयावच्चे, ६ वेरवेयावच्चे, ७ साहम्मियवेयावच्चे, ८ कुलवेयावच्चे, ९ गणवेयावच्चे, १० संघवेयावच्चे, से तं वेयावच्चे ।

से कि तं सज्जाए ? सज्जाए पंचविहे पण्णते । तं जहा—१ वायणा २ पङ्किपुच्छणा ३ परियट्टणा ४ अणुष्पेहा ५ धम्मकहा, से तं सज्जाए ।

से कि तं झाणे ? झाणे चउविहे पण्णते । तं जहा—१ अट्टज्जाणे २ यहृज्जाणे ३ धम्मज्जाणे ४ सुकक्ज्जाणे ।

अट्टज्जाणे चउविहे पण्णते । तं जहा—१ अमणुण्णसंपश्चोगसंपउत्ते तस्स विष्पश्चोगसत्ति-समण्णागए यावि भवइ, २ मणुण्णसंवश्चोगसंपउत्ते तस्स अविष्पश्चोगसत्तिसमण्णागए यावि भवइ, ३ आयंकसंपश्चोगसंपउत्ते तस्स विष्पश्चोगसत्तिसमण्णागए यावि भवइ, ४ परिज्जूसियकामभोगसंपश्चोग-संपउत्ते तस्स अविष्पश्चोगसत्तिसमण्णागए यावि भवइ ।

अदृस्स णं ज्ञानस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता । तं जहा—१ कर्दणया, २ सोणया,
३ तिष्ठणया, ४ विलवणया ।

खदज्ञाणे चउच्चिहे पण्णते । तं जहा—१ हिसाणुबंधी, २ मोसाणुबंधी, ३ तेणाणुबंधी,
४ सारक्षणाणुबंधी ।

खदस्स णं ज्ञानस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता । तं जहा—१ उसण्णदोसे, २ बहुदोसे,
३ अण्णाणदोसे, ४ आमरण्णतदोसे ।

धम्मज्ञाणे चउच्चिहे चउपडोयारे पण्णते । तं जहा—१ श्राणाविजए, २ अवायविजए,
३ विवागविजए, ४ संठाणविजए ।

धम्मस्स णं ज्ञानस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता । तं जहा—१ श्राणार्डी, २ णिसगर्डी,
३ उबएसर्डी, ४ सुत्तर्डी ।

धम्मस्स णं ज्ञानस्स चत्तारि आलंबणा पण्णता । तं जहा—१ बायणा, २ पुच्छणा,
३ परियट्णा, ४ धम्मकहा ।

धम्मस्स णं ज्ञानस्स चत्तारि श्रणुप्पेहाओ पण्णताओ । तं जहा—अणिच्चाणुप्पेहा, २ असरणा-
णुप्पेहा, ३ एगत्ताणुप्पेहा, ४ संसाराणुप्पेहा ।

सुकक्ज्ञाणे चउच्चिहे चउपडोयारे पण्णसे । तं जहा—१ पुहुत्तविधरके सवियारी, २ एगत-
विधके शवियारी, ३ सुहुमकिरिए अप्पडिवार्डी, ४ समुच्छिमकिरिए अणियट्टी ।

सुकक्स्स णं ज्ञानस्स चत्तारि लक्खणा पण्णता । तं जहा—१ विवेगे, २ विउस्सगे, ३ अब्बहे,
४ असम्मोहे ।

सुकक्स्स णं ज्ञानस्स चत्तारि आलंबणा पण्णता । तं जहा—१ खंती, २ मुत्ती, ३ अज्जवे,
४ मह्वे ।

सुकक्स्स ज्ञानस्स चत्तारि श्रणुप्पेहाओ पण्णताओ । तं जहा—१ अवायाणुप्पेहा, २ असुभा-
णुप्पेहा, ३ अणंतवत्तियाणुप्पेहा, ४ विपरिणामाणुप्पेहा, से तं माणे ।

से कि तं विउस्सगे ? विउस्सगे बुधिहे पण्णते । तं जहा—१ दब्बविउस्सगे, २ भावविउ-
स्सगे य ।

से कि तं दब्बविउस्सगे ? दब्बविउस्सगे चउच्चिहे पण्णते । तं जहा—१ सरोरविउस्सगे,
२ गणविउस्सगे, ३ उवहिविउस्सगे, ४ मत्तपाणविउस्सगे, से तं दब्बविउस्सगे ।

से कि तं भावविउस्सगे ? भावविउस्सगे तिविहे पण्णते । तं जहा—१ कसायविउस्सगे,
२ संसारविउस्सगे, ३ कम्मविउस्सगे ।

से कि तं कसायविउस्सगे ? कसायविउस्सगे चउच्चिहे पण्णते । तं जहा—१ कोहुकसाय-
विउस्सगे, २ माणकसायविउस्सगे, ३ मावाकसायविउस्सगे, ४ सोहुकसायविउस्सगे, से तं
कसायविउस्सगे ।

से कि तं संसारविद्वस्समे ? संसारविद्वस्समे चउच्चिह्ने पण्णते । सं जहा—१. णोरइयसंसारविद्वस्समे, २. तिरियसंसारविद्वस्समे, ३. मणुयसंसारविद्वस्सरगे, ४. वेषसंसारविद्वस्समे, से तं संसारविद्वस्समे ।

से कि तं कम्मविद्वस्समे ? कम्मविद्वस्सरगे अहुविहे पण्णते । तं जहा—१. णाणावरणिज्जकम्मविद्वस्सरगे २. दरिसणावरणिज्जकम्मविद्वस्समे ३. वेयणिज्जकम्मविद्वस्समे २. मोहणिज्जकम्मविद्वस्सरगे ३. आउयकम्मविद्वस्समे ४. णामकम्मविद्वस्समे ५. गोयकम्मविद्वस्समे ६. अंतरायकम्मविद्वस्समे । से तं कम्मविद्वस्सरगे, से तं भाषविद्वस्सरगे ।

३०- इस प्रकार विहरणशील वे थमण अगबान् आभ्यन्तर तथा बाह्य तपमूलक आचार का अनुसरण करते थे । आभ्यन्तर तप छह प्रकार का है तथा बाह्य तप भी छह प्रकार का है ।

बाह्य तप क्या है ? - वे कौन-कौन से हैं ? बाह्य तप छह प्रकार के हैं—

१. अनशन—आहार नहीं करना, २. अब्दोदरिका—भूख से कम खाना या द्रव्यात्मक, भावात्मक साधनों को कम उपयोग में लेना, ३. भिक्षाचर्या—भिक्षा से प्राप्त संयत जीवनोपयोगी आहार, वस्त्र, पात्र, औषध आदि वस्तुएं श्रहण करना अथवा वृत्तिसंक्षेप—ग्राजीविका के साधनों का संक्षेप करना, उन्हें घटाना, ४. रस-परित्याग—सरस पदार्थों को छोड़ना या रसास्वाद से विमुख होना, ५. काय-क्लेश—इन्द्रिय-दमन या सुकुमारता, सुविधाप्रियता, आरामतलबी छोड़ने हेतु तदनुरूप कष्टमय अनुष्ठान स्वीकार करना, ६. प्रतिसलोनता आभ्यन्तर तथा बाह्य चेष्टाएं संबृत करने हेतु तदुपयोगी बाह्य उपाय अपनाना ।

अनशन क्या है—वह कितने प्रकार का है ? अनशन दो प्रकार का है—१. इत्वरिक—मर्यादित समय के लिए आहार का त्याग । २. यावत्कथिक जीवनभर के लिए आहार-त्याग ।

इत्वरिक क्या है—वह कितने प्रकार का है ? इत्वरिक अनेक प्रकार का बतलाया गया है, जैसे—चतुर्थ भक्त—एक दिन-रात के लिए आहार का त्याग, उपवास, षष्ठ भक्त—दो दिन-रात के लिए आहार-त्याग, निरन्तर दो उपवास—बेला, अष्टम भक्त—तीन उपवास—तेला, दशम भक्त—चार दिन के उपवास, द्वादश भक्त—पाँच दिन के उपवास, चतुर्दश भक्त—छह दिन के उपवास शोडश भक्त—सात दिन के उपवास, अद्दमासिक भक्त—आष्ट महीने या पन्द्रह दिन के उपवास, मासिक भक्त—एक महीने के उपवास, द्वैमासिक भक्त—दो महीनों के उपवास, त्रैमासिक भक्त—तीन महीनों के उपवास, चातुर्मासिक भक्त—चार महीनों के उपवास, पाञ्चमासिक भक्त—पाँच महीनों के उपवास, षाण्मासिक भक्त—छह महीनों के उपवास ।

यह इत्वरिक तप का विस्तार है ।

यावत्कथिक क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ? यावत्कथिक के दो प्रकार हैं—१. पादपोपगमन—कटे हुए वृक्ष की तरह स्थिर-शरीर रहते हुए आजीवन आहार-त्याग २. भक्तपानप्रत्यारुप्यान—जीवनपर्यन्त आहार-त्याग ।

पादपोपगमन क्या है—उसके कितने भेद हैं ? पादपोपगमन के दो भेद हैं—१. व्याघातिम—व्याघातवत् या विघ्नयुक्त—सिंह आदि प्राणघातक प्राणी या दावानल आदि उपद्रव उपस्थित हो जाने पर जीवन भर के लिए आहार-त्याग, २. निव्याघातिम—निव्याघातवत्—विघ्नरहित—सिंह, दावानल

आदि से सम्बद्ध उपद्रव न होने पर भी मृत्युकाल समीप जानकार अपनी इच्छा से जीवन भर के लिए आहार त्याग ।

इस (अनशन) से प्रतिकर्म—भूरीर संस्कार, हलन-चलन आदि क्रिया-प्रक्रिया का त्याग रहता है ।

इस प्रकार पादोपगमन यावस्कथिक अनशन होता है ।

भक्तप्रत्याख्यान क्या है—उसके कितने भेद हैं? भक्तप्रत्याख्यान के दो भेद बतलाये गये हैं—

१. व्याधातिम, २. निष्वधितिम ।

भक्तप्रत्याख्यान अनशन में प्रतिकर्म नियमतः होता है ।

यह भक्तप्रत्याख्यान अनशन का विवेचन है ।

अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं? अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं—

१. द्रव्य-अवमोदरिका—खान-पान आदि से सम्बद्ध पदार्थों का पेट भरकर उपयोग नहीं करना, भूख से कम खाना । २. भाव-अवमोदरिका—आत्मप्रतिकूल या आवेशमय भावों का चिन्तन-विचार में उपयोग न करना ।

द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं? द्रव्य-अवमोदरिका के दो भेद बतलाये गये हैं—१. उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका—वस्त्र आदि देहोपयोगी सामग्री का कम उपयोग करना । २. भक्तपान-अवमोदरिका—खाद्य, पेय पदार्थों का कम मात्रा में उपयोग करना, भूख से कम सेवन करना ।

उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं? उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका के तीन भेद बतलाये गये हैं—१. एक पात्र रखना, २. एक वस्त्र रखना, ३. एक मनोनुकूल निर्दोष उपकरण रखना । यह उपकरण-द्रव्य-अवमोदरिका है ।

भक्तपान-द्रव्य-अवमोदरिका क्या है—उसके कितने भेद हैं? भक्तपान-द्रव्य-अवमोदरिका के अनेक भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार है—

मुर्गी के अंडे के परिमाण के केवल आठ ग्रास भोजन करना अल्पाहार-अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के १२ ग्रास भोजन करना अपार्थ—अर्थ से अधिक अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के सोलह ग्रास भोजन करना द्विभागप्राप्त या अर्ध अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के चौबीस ग्रास भोजन करना—चौथाई अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के इकतीस ग्रास भोजन करना किञ्चित् न्यून—कुछ कम अवमोदरिका है ।

मुर्गी के अंडे के परिमाण के बत्तीस ग्रास भोजन करने वाला प्रमाणप्राप्त—पूर्ण आहार करने वाला है। अर्थात् बत्तीस ग्रास भोजन परिपूर्ण आहार है। इससे एक ग्रास भी कम आहार करने वाला श्रमण-निर्यन्थ अधिक आहार करने वाला कहे जाने योग्य नहीं है।

भाव-अवमोदरिका क्या है—कितने प्रकार की है ? भाव-अवमोदरिका अनेक प्रकार की बतलाई गई है, जैसे—क्रोध, मान (अहंकार), माया (प्रवृत्तचना, छलना) और लोभ का त्याग (अभाव) अल्पशब्द—क्रोध आदि के इत्येतत्र में नौनेवाली अड्ड-पवृत्ति का त्याग, अल्पभंक—कलहोत्पादक वचन आदि का त्याग ।

यहाँ 'अल्प' शब्द का प्रयोग निषेध या अभाव के अर्थ में है, जिसका तात्पर्य यह है कि क्रोध आदि का उदय तो होता है पर साधक आत्मबल द्वारा उसे टाल देता है, उभार में नहीं आने देता अथवा तदुत्पादक निमित्तों से स्वर्य हट जाता है ।

भिक्षाचर्या क्या है—उसके कितने भेद हैं ? भिक्षाचर्या अनेक प्रकार की बतलाई गई है, जैसे—१. द्रव्याभिग्रहचर्या—खाने-पीने आदि से सम्बद्ध वस्तुओं के विषय में विशेष प्रतिज्ञा—अमुक वस्तु अमुक स्थिति में मिले तो ग्रहण करना—इस प्रकार भिक्षा के सन्दर्भ में विशेष अभिग्रह स्वीकार करना, २. क्षेत्राभिग्रह-चर्या—ग्राम, नगर, स्थान आदि से सम्बद्ध प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ३. कालाभिग्रहचर्या—प्रथम पहर, दूसरा पहर आदि समय से सम्बद्ध प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ४. भावाभिग्रहचर्या—हास, गान, बिनोद, वार्ता आदि में संलग्न स्त्री-पुरुष आदि से सम्बद्ध अभिग्रह—प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ५. उक्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन से गृहस्थ द्वारा अपने प्रयोजन हेतु निकाला हुआ आहार लेने का अभिग्रह—प्रतिज्ञा लिये रहना, ६. निक्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन से नहीं निकाला हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, ७. उक्षिप्त-निक्षिप्त-चर्या—भोजन पकाने के बर्तन से निकाल कर उसी जगह पा दूसरी जगह रखा हुआ आहार अथवा अपने प्रयोजन से निकाला हुआ या नहीं निकाला हुआ—दोनों प्रकार का आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ८. निक्षिप्त-उक्षिप्तचर्या—भोजन पकाने के बर्तन में से निकाल कर अन्यत्र रखा हुआ, फिर उसी में से उठाया हुआ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, ९. बतिव्यमाण-चर्या—खाने हेतु परोसे हुए भोजन में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लिए रहना, १०. सेहङ्घ्यमाणचर्या—जो भोजन ठंडा करने के लिए पात्र आदि में फैलाया गया हो, फिर समेट कर पात्र आदि में ढाला जा रहा हो, ऐसे (भोजन) में से आहार लेने की प्रतिज्ञा करना, ११. उपनीतचर्या—किसी के द्वारा किसी के लिए उपहार रूप में भेजी गई भोजनसामग्री में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, १२. अपनीतचर्या—किसी को दी जाने वाली भोज्य-सामग्री में से निकालकर अन्यत्र रखी सामग्री में से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार किये रहना, १३. उपनीतापनीतचर्या—स्थानान्तरित की हुई भोजनोपहार-सामग्री में से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से गुण तथा बाद में किसी अपेक्षा से अवगुण-कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना, १४. अपनीतोपनीत-चर्या—किसी के लिए उपहार रूप में भेजने हेतु पृथक् रखी हुई भोजन-सामग्री में से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा दाता द्वारा पहले किसी अपेक्षा से अवगुण तथा बाद में किसी अपेक्षा से गुण कथन के साथ दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना, १५. संसृष्ट-चर्या—लिप्त हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा रखना, १६. असंसृष्ट-चर्या—अलिप्त या स्वच्छ हाथ आदि से दी जाने वाली भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा रखना, १७. तज्जातसंसृष्ट-चर्या—दिये जाने वाले पदार्थ से संभृत—लिप्त हाथ आदि से दिया जाता आहार स्वीकार करने की प्रतिज्ञा रखना, १८. अज्ञात-चर्या—अपने को अज्ञात-अपरिचित रखकर निरवद्य भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा करना, १९. मौन-चर्या—स्वयं मौन रहते हुए

भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २०. दृष्ट-लाभ—दिखाई देता या देखा हुआ आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना अथवा पूर्व काल में देखे हुए दाता के हाथ से भिक्षा ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २१. अदृष्ट-लाभ—पहले नहीं देखा हुआ आहार अथवा पूर्व काल में नहीं देखे हुए दाता द्वारा दिया जाता आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २२. पृष्ठ-लाभ—पृष्ठकर—भिक्षो ! आपको क्या दें, यों पृष्ठकर दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा लेना, २३. अपृष्ठ-लाभ—यों पूछे बिना दिया जाने वाला आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २४. भिक्षा-लाभ—भिक्षा के सदृश—भिक्षा मांगकर लाये हुए योंगत सुच्छ आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, अथवा दाता जो भिक्षा में या मांगकर लाया हो, उसमें से या उस द्वारा तैयार किये हुए भोजन में से आहार लेने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना, २५. अभिक्षा-लाभ—भिक्षा-लाभ से विपरीत आहार लेने की प्रतिज्ञा लिए रहना, २६. अन्त-ग्रायक—रात का ठंडा, बासी आहार लेने की प्रतिज्ञा रखना, २७. उपनिहित—भोजन करते हुए मृहस्थ के निकट रखे हुए आहार में से भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना, २८. परिमितपिण्डपातिक—परिमित या सीमित—अल्प आहार लेने की प्रतिज्ञा करना, २९. शुद्धेषणिक—शंका आदि दोष वर्जित अथवा अङ्गजन आदि रहित शुद्ध आहार ग्रहण करने की प्रतिज्ञा स्वीकार करना तथा ३०. संख्यादत्तिक—पात्र में आहार-सेपण की सांख्यिक मर्यादा के अनुकूल भिक्षा लेने की प्रतिज्ञा करना अथवा कड़ी, कटोरी आदि पात्र में ढाली जाती भिक्षा की अविच्छिन्न घारा की मर्यादा के अनुसार भिक्षा स्वीकार करने की प्रतिज्ञा लेना ।

यह भिक्षाचर्या का विस्तार है ।

भगवान् महाबीर के श्रमण यों विविध रूप में बाह्य तप के अनुष्ठान में संलग्न थे ।

रसपरित्याग क्या है—वह कितने प्रकार का है ? रस-परित्याग अनेक प्रकार का बतलाया गया है, जैसे— १. निविकृतिक—घृत, तैल, दूध, दही तथा गुड़-शब्दकर (चीनी) से रहित आहार करना, २. प्रणीतरसपरित्याग—जिससे घृत, दूध, चासनी आदि की बूँदें टपकती हों, ऐसे आहार का त्याग करना, ३. आयविल (आचामाम्ल) रोटी आदि एक ही रुखा-सूखा पदार्थ या भुना हुआ अथवा अचित्पानी में भिगोकर दिन में एक ही बार खाना, ४. आयामसिक्यभोजी—ओसाम्बन तथा उसमें स्थित अन्न-कण, सीथ मात्र का आहार करना, ५. अरसाहार—रसरहित अथवा हींग, जीरा आदि से बिना छोड़का हुआ आहार करना, ६. विरसाहार—बहुत पुराने अन्न से, जो स्वभावतः रस या स्वाद रहित हो गया हो, बना हुआ आहार करना, ७. अन्ताहार—अत्यन्त हल्की किस्म (जाति) के अन्न से बना हुआ आहार करना, ८. प्रान्ताहार—बहुत हल्की किस्म के अन्न से बना हुआ तथा भोजन कर लेने के बाद बचा-खुचा आहार लेना, ९. रुक्षाहार—रुखा-सूखा आहार करना ।

यह रस-परित्याग का विश्लेषण है ।

भगवान् महाबीर के श्रमण यों विविध रूप में रस-परित्याग के अन्यासी थे ।

काय-क्लेश क्या है—उसके कितने प्रकार हैं ? काय-क्लेश अनेक प्रकार का कहा गया है, जैसे— १. स्थानस्थितिक—एक ही तरह से खड़े या एक ही आसन से बैठे रहना, २. उत्कुट्कासनिक—उकड़ा आसन से बैठना—पुट्ठों को भूमि पर न टिकाते हुए केवल पाँवों के बल पर बैठने की स्थिति में स्थिर रहना, साथ ही दोनों हाथों की अंजलि बाँधे रखना, ३. प्रतिमास्थायी—मासिक आदि

द्वादश प्रतिमाएँ स्वीकार करना, ४. वीरासनिक—वीरासन में स्थित रहना—पृथ्वी पर पैर टिकाकर सिहासन के सदृश बैठने की स्थिति में रहना, उदाहरणार्थ जैसे कोई पुरुष सिहासन पर बैठा हुआ हो, उसके नीचे से सिहासन निकाल लेने पर भी वह बंसी ही स्थिति में स्थिर रहे, उस में स्थित रहना, ५. नैषधिक—जुड़े टिकाकर या चलाधी लगाकर बैठना, ६. आतापक—सूर्य (धूप) आदि की आतापत्ता लेना, ७. अप्रावृतक—देह को कपड़े आदि से नहीं ढैंकना, ८. अकण्डयक—खुजली चलने पर भी देह को नहीं खुजलाना, ९. अनिष्ठीबक—थूक आने पर भी नहीं थूकना तथा १०. सर्वगात्र—परिकर्म विभूषा-विप्रमुक्त—देह के सभी संस्कार, मज्जा, विभूषा आदि से मुक्त रहना।

यह काय-क्लेश का विस्तार है। भगवान् महावीर के शमण उक्त रूप में काय-क्लेश तप का अनुष्ठान करते थे।

विवेचन—काय-क्लेश के अन्तर्गत कहीं कहीं नैषधिक (नेसज्जिए) के पश्चात् दण्डायतिक (दंडायइए) तथा लकुटशायी (लउडसाई) पद और प्राप्त होते हैं। दण्डायतिक का शर्थ दण्ड की तरह सौधा लम्बा होकर स्थित रहना है। लकुटशायी का अर्थ लकुट—वक्र काष्ठ या टेढ़े लंबकड़ की तरह सोना, स्थित रहना है, अर्थात् मस्तक को तथा दोनों पैरों की एड़ियों को जमीन पर टिकाकर, देह के मध्य भाग को ऊपर उठाकर सोना, स्थित होना लकुटशयन है। ऐसा करने से देह वक्र काष्ठ की तरह टेढ़ी हो जाती है।

इस तप को सम्भवतः काय-क्लेश नाम इसलिए दिया गया कि बाह्य दृष्टि से देखने पर यह क्लेशकर प्रतीत होता है, जनसाधारण के लिए ऐसा है भी पर आत्मरत्-साधक, जो शरीर को अपना नहीं मानता, जो प्रतिक्षण आत्माभिरुचि, आत्मपरिष्कार एवं आत्मभाजन में तत्पर रहता है, ऐसा करने में देह-परिताप के बावजूद कष्ट नहीं मानता, उसके परिणामों में इतनी तीव्र आत्मोन्मुखता तथा दृढ़ता होती है। यदि उसे क्लेशात्मक अनुभूति हो तो फिर वह उपक्रम तप नहीं रहता, देह के साथ हठ हो जाता है। आत्मानुभूति-शून्य हठयोग से विशेष लाभ नहीं होता।

प्रतिसंलीनता

प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है? प्रतिसंलीनता चार प्रकार की बतलाई गई है—१. इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—इन्द्रियों की चेष्टाओं का निरोध, गोपन, २. कषाय-प्रतिसंलीनता—क्रोध, मान, माथा, लोभ आदि विकारों या आवेगों का निरोध, गोपन, ३. योग प्रतिसंलीनता—कायिक, वाचिक तथा मानसिक प्रवृत्तियों को रोकना, ४. विवित्त-शयनासन-सेवनता—एकान्त स्थान में निवास करना।

इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता—इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता क्या है—वह कितने प्रकार की है? इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता पांच प्रकार की बतलाई गई है, जो इस प्रकार है—१. श्रोत्रेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—कानों के विषय—शब्द में प्रवृत्ति का निरोध—शब्दों को न सुनना अथवा श्रोत्रेन्द्रिय को शब्दरूप में प्राप्त प्रिय-अप्रिय, अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-ह्रेष के संचार को रोकना, उस ओर से उदासीन रहना, २. चक्षुरन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—नेत्रों के विषय-रूप में प्रवृत्ति को रोकना—रूप नहीं देखना अथवा अनायास दृष्टि प्रिय-अप्रिय, सुन्दर-असुन्दर रूपात्मक विषयों में राग ह्रेष के संचार को रोकना, उस ओर से उदासीन रहना, ३. द्वाणेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—नासिका के विषय—गन्ध

में प्रवृत्ति को रोकना अथवा धारणेन्द्रिय को प्राप्त सुगन्ध-दुर्गन्धात्मक विषयों में राग-द्वेष के संचार को रोकना, इस ओर से उदासीन रहना, ४. जिह्वेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—जीभ के विषयों में प्रवृत्ति को रोकना अथवा जिह्वा को प्राप्त स्वादु-अस्वादु रसात्मक विषयों, पदार्थों में राग-द्वेष के संचार को रोकना, ५. स्पर्शेन्द्रिय-विषय-प्रचार-निरोध—त्वचा के विषयों में प्रवृत्ति को रोकना अथवा स्पर्शेन्द्रिय को प्राप्त सुख-दुःखात्मक, अनुकूल-प्रतिकूल विषयों में राग-द्वेष के संचार को रोकना।

यह इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता का विवेचन है।

कषाय-प्रतिसंलीनता—कषाय-प्रतिसंलीनता क्या है—उसके कितने प्रकार हैं? कषायप्रति-संलीनता चार प्रकार की बतलाई गई है। वह इस प्रकार है—१. क्रोध के उदय का निरोध को नहीं उठने देना अथवा उदयप्राप्त—उठे हुए क्रोध को विफल—प्रभावशून्य बनाना, २. मान के उदय का निरोध—अहंकार को नहीं उठने देना अथवा उदयप्राप्त अहंकार को विफल—निष्प्रभाव बनाना, ३. माया के उदय का निरोध—माया को उभार में नहीं आने देना अथवा उदयप्राप्त माया को विफल—प्रभावरहित बना देना, ४. लोभ के उदय का निरोध—लोभ को नहीं उभरने देना अथवा उदयप्राप्त लोभ को प्रभावशून्य बना देना।

यह कषाय-प्रतिसंलीनता का विवेचन है।

विवेचन—कषायों से छूट पाना बहुत कठिन है। कषायों से भुक्त होना मानव के लिए वास्तव में बहुत बड़ी उपलब्धि है। कषाय के कारण ही आत्मा स्वभावावस्था से च्युत होकर विमावावस्था में पतित होती है। अतएव जानी जनों ने “कषायमुक्तिः किल मुक्तिरेव”—कषाय-मुक्ति को ही वस्तुतः मुक्ति कहा है। कषायात्मक वृत्ति से छूटने के लिए साधक को अपना आत्मबल जगाये सतत अध्यव-साययुक्त तथा अध्यासरत रहना होता है।

कषाय-विजय के लिए तत्त्वद्विपरीत भावनाओं का पुनःपुनः अनुचिन्तन भी अध्यवसाय को विशेष शक्ति प्रदान करता है। जैसे क्रोध का विपरीत भाव क्षमा है। क्रोध आने पर मन में क्षमा तथा मेत्री भाव का पुनःपुनः चिन्तन करना, अहंकार उठने पर मृदुता, नम्रता, विनय की पवित्र भावना बारबार मन में जागरित करना, इसी प्रकार माया का भाव उत्पन्न होने पर क्रृजुता, सोम्यता की भावना को विपुल प्रश्रय देना तथा लोभ जगने पर अन्तरतम को सन्तोष से अनुप्राणित करना कषायों से बचे रहने में बहुत सहायक सिद्ध होता है।

योग-प्रतिसंलीनता

योग-प्रतिसंलीनता क्या है—कितने प्रकार की है? योग-प्रतिसंलीयनता तीन प्रकार की बतलाई गई है—

१. मनोयोग-प्रतिसंलीनता, २. वायोग-प्रतिसंलीनता तथा ३. काययोग-प्रतिसंलीनता।

मनोयोग-प्रतिसंलीनता क्या है?

अकुशल—अशुभ—दुविचारपूर्ण मन का निरोध, मन में बुरे विचारों को आने से रोकना अथवा कुशल—शुभ—सद्विचार पूर्ण मन का प्रबर्तन करना, मन में सद्विचार लाते रहने का अभ्यास करना मनोयोग-प्रतिसंलीनता है।

वारयोग-प्रतिसंलीनता क्या है ?

अकुशल—अशुभ वचन का निरोध—दुर्वचन नहीं बोलना अथवा कुशल वचन—सद्वचन बोलने का अभ्यास करना वारयोग-प्रतिसंलीनता है ।

काययोग-प्रतिसंलीनता क्या है ? हाथ, पर आदि सुसमाहित—सुस्थिर कर, कछुए के सदृश अपनी इन्द्रियों को गुण्ठ कर, सारे शरीर को संवृत कर—प्रवृत्तियों से खींचकर—हटाकर सुस्थिर होता काययोग-प्रतिसंलीनता है ।

यह योग-प्रतिसंलीनता का विवेचन है ।

विविक्त-शब्द्यासन-सेवनता क्या है ? आराम—पुष्पप्रधान बगीचा, पुष्पवाटिका, उद्धान—पुष्प-फल-समवेत बड़े-बड़े बूढ़ों से युक्त बगीचा, देवकुल—देवमन्दिर, छतरियाँ, सभा—लोगों के बैठने या विचार-विमर्श हेतु एकत्र होने का स्थान, प्रपा—जल मिलाने का स्थान, प्याऊ; पणित-गृह—बर्तन-भांड आदि क्रयविक्रयोचित वस्तुएँ रखने के घर—गोदाम, पणितशाला—क्रय-विक्रय करने वाले लोगों के ठहरने योग्य गृहविशेष, ऐसे स्थानों में, जो स्त्री, पशु तथा नपुंसक के संसर्ग से रहित हो, प्रासुक—निर्जीव, अचित्त, एषणीय—संयमी पुरुषों द्वारा ग्रहण करने योग्य, निरोष पीठ, फलक—काष्ठपट्ट, शश्या—गैर कैलाकर सोया जा सके, ऐसा बिछौना, तृण, घास आदि का आस्तरण—कुछ छोटा बिछौना प्राप्त कर विहरण करना—साधनामय जीवन-यापन करना विविक्त-शब्द्यासन-सेवन है ।

यह प्रतिसंलीनता का विवेचन है, जिसके साथ बाह्य तप का वर्णन सम्पन्न होता है ।

श्रमण भगवान् महाबीर के अन्तेवासी अनगार उपर्युक्त विविध प्रकार के बाह्य तप के अनुष्ठाना थे ।

आभ्यन्तर तप क्या है—कितने प्रकार का है ?

आभ्यन्तर तप छह प्रकार का कहा गया है—

प्रायशिच्छा

१. प्रायशिच्छा—व्रत-पालन में हुए अतिचार या दोष की विशुद्धि, २. विनय—विनम्र अवहार (जो कर्मों के विनयन—अपनयन का हेतु है) ३. वैयावृत्त्य—संयमी पुरुषों की आहार आदि द्वारा सेवा, ४. स्वाध्याय—आत्मोपयोगी ज्ञान प्राप्त करने हेतु मर्दिदापूर्वक सत्-शास्त्रों का पठन-पाठन, ५. ध्यान—एकाग्रतापूर्ण सत्-चिन्तन, चित्तवृत्तियों का निरोध तथा ६. व्युत्सर्ग—हेय या त्यागने योग्य पदार्थों का त्याग ।

प्रायशिच्छा क्या है—कितने प्रकार का है ?

प्रायशिच्छा दश प्रकार का कहा गया है, जो इस प्रकार है—

१. आलोचनाहृ—आलोचन—प्रकटीकरण से होने वाला प्रायशिच्छा । गमन, आगमन, भिक्षा, प्रतिलेखन आदि दैनिक कार्यों में लगने वाले दोषों को गुरु या ज्येष्ठ साधु के समक्ष प्रकट करने, उनकी आलोचना करने से दोष-शुद्धि हो जाती है ।

२. प्रतिक्रमणाहं—पाप या अशुभ योग से पीछे हटने से सधने वाला प्रायश्चित्त । साधु द्वारा पालनीय पांच समिति तथा तीन गुप्ति के सन्दर्भ में सहसाकारित्व आदि के कारण लगने वाले दोषों को लेकर “मिच्छा मि दुक्कड़—मिथ्या मे दुष्कृतम्”—मेरा दुष्कृत या पाप मिथ्या हो—निष्फल हो, यों चिन्तन पूर्वक प्रायश्चित्त करने से दोष-शुद्धि हो जाती है ।

३. तदुभयाहं—आलोचना तथा प्रतिक्रमण दोनों से होने वाला प्रायश्चित्त ।

४. विवेकाहं—ज्ञानपूर्वक त्याग से होने वाला प्रायश्चित्त । यदि अज्ञानवश साधु सदोष आहार आदि ले ले तथा फिर उसे यह जात हो जाए, तब उसे अपने उपयोग में न लेकर त्याग देने से यह प्रायश्चित्त होता है ।

५. व्युत्सगहं—कायोत्सर्ग^१ द्वारा निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त । नदी पार करने में, उच्चार—मल, मूत्र आदि परठने में अनिवार्यतः आसेवित दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है । भिन्न-भिन्न दोषों के लिए भिन्न-भिन्न परिमाण में इवासोच्छ्वासयुक्त कायोत्सर्ग का विधान है ।

६. तपोऽहं—तप द्वारा होने वाला प्रायश्चित्त । सचित्त वस्तु को छाने, आबरणक आदि समाचारी, प्रतिलेखन, प्रमार्जन आदि नहीं करने से लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है ।

७. श्रेदाहं—दीक्षा-पर्याय कम कर देने से निष्पन्न होने वाला प्रायश्चित्त । सचित्त-विराधना, प्रतिक्रमण-अकरणता आदि के कारण लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है । इसमें पांच दिन से लेकर छह मास तक के दीक्षा-पर्याय की न्यूनता करने का विधान है ।

८. मूलाहं—ब्रतों की पुनः प्रतिष्ठागमा करने—पुनः दीक्षा देने से होने वाला प्रायश्चित्त । प्रायश्चित्त योग्य दूषित स्थान, कार्य आदि के तीन बार सेवन, अनाचार-सेवन-चरित्रभंग तथा जानवूभ कर महाव्रत-खण्डन से लगने वाले दोषों की शुद्धि के लिए यह प्रायश्चित्त है ।

९. अनवस्थाप्याहं—प्रायश्चित्त के रूप में सुभाया गवा विशिष्ट तप जब तक न कर लिया जाए, तब तक उस साधु का संघ से सम्बन्ध-विच्छेद रखना तथा उसे पुनः दीक्षा नहीं देना ; यह अनवस्थाप्याहं प्रायश्चित्त है ।

साधर्मिक साधु-साध्वियों की चोरी करना, अन्य तीर्थिक की चोरी करना, गृहस्थ की चोरी करना, परस्पर मारपीट करना आदि से साधु को यह प्रायश्चित्त आता है ।

१०. पाराञ्जिकाहं—सम्बन्ध विच्छिन्न कर, तप-विशेष का अनुष्ठान कराकर गृहस्थभूत बनाना, पुनः ब्रतों में स्थापित करना पाराञ्जिकाहं प्रायश्चित्त है ।

कषाय-दुष्ट, विषय-दुष्ट, महाप्रमादी—मद्यपायी, स्त्यानदि निदा में प्रमादपूर्ण कर्मकारी, समलैंगिक विषयसेवी को यह प्रायश्चित्त आता है ।^२

१. कायोत्सर्ग का आशय शरीर को निष्कल रखना है ।

२. (क) स्थानांग सूत्र ३-३२३ वृत्ति

(ख) वृहत्कल्पसूत्र उद्देशक ४

विनय

विनय क्या है—वह कितने प्रकार का है? विनय सात प्रकार का बतलाया गया है—
 १. ज्ञान-विनय, २. दर्शन-विनय, ३. चारित्र-विनय, ४. मनोविनय, ५. वचन-विनय, ६. काय-विनय,
 ७. लोकोपचार-विनय।

ज्ञान-विनय

ज्ञान-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं? ज्ञान-विनय के पाँच भेद बतलाये गये हैं—
 १. आभिनिवीधिक ज्ञान—मतज्ञान-विनय, २. शुतज्ञान-विनय, ३. अवधिज्ञान-विनय, ४. मनः-पर्यव-ज्ञान-विनय, ५. केवलज्ञान-विनय—इन ज्ञानों की यथार्थता स्वीकार करते हुए इनके लिए विनीत भाव से यथाशक्ति पुरुषार्थ या प्रयत्न करना।

दर्शन-विनय

दर्शन-विनय क्या है—उसके कितने प्रकार हैं? दर्शन-विनय दो प्रकार का बतलाया गया है—
 १. शुश्रूषा-विनय, २. अनत्याशातना-विनय।

शुश्रूषा-विनय क्या है—उसके कितने प्रकार हैं? शुश्रूषा-विनय अतेक प्रकार का बतलाया गया है, जो इस प्रकार है—

अभ्युत्थान—गुरुजनों या गुणीजनों के आने पर उन्हें आदर देने हेतु खड़े होना।

आसनाभिग्रह—गुरुजन जहाँ बैठना चाहें वहाँ आसन रखना।

आसन-प्रदान—गुरुजनों को आसन देना।

गुरुजनों का सत्कार करना, सम्मान करना, यथाविधि वन्दन-प्रणमन करना, कोई बात स्वीकार या अस्वीकार करते समय हाथ जोड़ना, आते हुए गुरुजनों के सामने जाना, बैठे हुए गुरुजनों के समोप बैठना, उनकी सेवा करना, जाते हुए गुरुजनों को पहुँचाने जाना। यह शुश्रूषा-विनय है।

अनत्याशातना-विनय

अनत्याशातना-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं? अनत्याशातना-विनय के पेतालीस भेद हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. अर्हतों की आशातना नहीं करना—आत्मगुणों का आशातना-नाश करने वाले अवहेलना पुर्ण कार्य नहीं करना।

२. अर्हत्-प्रज्ञप्त—अर्हतों द्वारा बतलाये गये धर्म की आशातना नहीं करना।

३. आचार्यों की आशातना नहीं करना।

४. उपाध्यायों की आशातना नहीं करना।

५. स्थविरों—ज्ञानवृद्ध, चारित्रवृद्ध, वयोवृद्ध अमणों की आशातना नहीं करना।

६. कुल की आशातना नहीं करना।

७. गण की आशातना नहीं करना ।
८. संघ की आशातना नहीं करना ।
९. श्रियावान् की आशातना नहीं करना ।

१०. सांभोगिक—जिसके साथ बन्दन, नमन, भोजन आदि पारस्परिक व्यवहार हों, उस गच्छ के श्रमण या समान आचारवाले श्रमण की आशातना नहीं करना ।

११. मति-ज्ञान की आशातना नहीं करना ।
१२. श्रुति-ज्ञान की आशातना नहीं करना ।
१३. अवधि-ज्ञान की आशातना नहीं करना ।
१४. मनःपर्यवेक्षण की आशातना नहीं करना ।
१५. केवल-ज्ञान की आशातना नहीं करना ।

इन पन्द्रह की भक्ति, उपासना, बहुमान, गुणों के प्रति तीव्र भावानुरागरूप पन्द्रह भेद तथा इन (पन्द्रह) की यशस्विता, प्रशस्ति एवं गुणकीर्तन रूप और पन्द्रह भेद-- यों अनत्याशातना-विजय के कुल पैतालीस भेद होते हैं ।

विवेचन—यहाँ प्रयुक्त आचार्य, उपाध्याय, स्थविर, गण, तथा कुल का कुछ विश्लेषण अपेक्षित है, जो इस प्रकार है—

आचार्य

वैयक्तिक, सामाजिक श्रमण-जीवन का सम्यक् निर्वाह, धर्म की प्रभावना, ज्ञान की आराधना, साधना का विकास तथा संगठन व अनुशासन की दृढ़ता आदि के निमित्त जैन श्रमण-संघ में निमांकित पदों के होने का उल्लेख प्राप्त होता है—

१. आचार्य, २. उपाध्याय, ३. प्रवर्तक, ४. स्थविर, ५. गणी, ६. गणधर, ७. गणावच्छेदक ।

इनमें आचार्य का स्थान सर्वोपरि है । संघ का सर्वतोमुखी विकास, संरक्षण, संवर्धन, अनुशासन आदि का सामूहिक उत्तरदायित्व आचार्ये पर होता है ।

जैन वाड्मय के अनुशीलन से प्रतीत होता है कि जैन संघ में आचार्य पद का आधार मनोनयन रहा, निर्वाचन नहीं । भगवान् महाबीर का अपनी प्राकृतन परंपरा के अनुरूप इसी ओर झुकाव था । आगे भी यही परंपरा गतिशील रही । आचार्य ही भावों आचार्य का मनोनयन करते थे तथा अन्य पदाधिकारियों का भी । अब तक ऐसा ही चला आ रहा है ।

संघ की सब प्रकार की देख-भाल का मुख्य दायित्व आचार्ये पर रहता है । संघ में उनका आदेश अन्तिम और सर्वमात्य होता है ।

आचार्य की विशेषताओं के संदर्भ में कहा गया है—

“आचार्य सूत्रार्थ के वेत्ता होते हैं । वे उच्च लक्षण युक्त होते हैं । वे गण के लिए मेदिभूत—

स्तम्भरूपो होते हैं। वे गण के तप से मुक्त होते हैं—उनके निर्देशन में चलता गण सत्ताप-रहित हता है। वे अन्तेवासियों को आगमों की अर्थ-वाचना देते हैं—उन्हें आगमों का रहस्य समझाते हैं।

आचार्य जानाचार, दर्शनाचार, नारिकाचार, उषाचार तथा वैदिकार का स्वयं परिपालन करते हैं, उनका प्रकाश—प्रसार करते हैं, उपदेश करते हैं, दूसरे शब्दों में वे स्वयं आचार का पालन करते हैं तथा अन्तेवासियों से करवाते हैं, अतएव आचार्य कहे जाते हैं।^१

और भी कहा गया है—

“जो शास्त्रों के अर्थ का आचयन—संचयन—संग्रहण करते हैं, स्वयं आचार का पालन करते हैं, दूसरों को आचार में स्थापित करते हैं, उन कारणों से वे आचार्य कहे जाते हैं।”^२

दशाशुतस्कन्ध सूत्र में आचार्य को विशेषताओं का विस्तार से वर्णन किया गया है। वही आचार्य की निम्नांकित आठ सम्पदाएँ बतलाई गई हैं—

१. आचार-सम्पदा, २. शुत-सम्पदा, ३. शरीर-सम्पदा, ४. वचन-सम्पदा, ५. वाचना-सम्पदा, ६. मति-सम्पदा, ७. प्रयोग-सम्पदा, ८. संग्रह-सम्पदा।

उपाध्याय

जैनदर्शन ज्ञान तथा क्रिया के समन्वित अनुसरण पर आधृत है। संयममूलक आचार का परिपालन जैन साधक के जीवन का जहाँ अनिवार्य अंग है, वहाँ उसके लिए यह भी अपेक्षित है कि वह ज्ञान की आराधना में भी अपने को तन्मयता के साथ जोड़े। सद्ज्ञानपूर्वक आचरित क्रिया में शुद्धि की अनुपम सुपमा प्रस्फुटित होती है। जिस प्रकार ज्ञान-प्रसूत क्रिया की गरिमा है, उसी प्रकार क्रियान्वित या क्रियापरिणत ज्ञान की ही वास्तविक सार्थकता है। ज्ञान और क्रिया जहाँ पूर्व तथा पश्चिम की तरह भिन्न-भिन्न दिशाओं में जाते हैं, वहाँ जीवन का घ्रेव सघनता नहीं। अध्यवसाय एवं उद्यम द्वारा इन दोनों पदों में सामंजस्य उत्पन्न कर जिस गति से साधक साधना-पथ पर अग्रसर होगा, साध्य को आत्ममात् करने में वह उतना ही अधिक सफल होगा। साधनामय जीवन के अनन्य अंग ज्ञानामुशीलन से उपाध्याय पद का विशेषतः सम्बन्ध है। उपाध्याय श्रमणों को सूत्रवाचन देते हैं। कहा गया है—

“जिन-प्रतिपादित द्वादशांगरूप स्वाध्याय—सूत्र-वाङ्मय ज्ञानियों द्वारा कथित—वर्णित या संग्रहित क्रिया गया है। जो उसका उपदेश करते हैं, वे उपाध्याय कहे जाते हैं।”^३

१. सुतत्थविड लक्खणजुत्तो, गच्छस्म मेदिभूषो य।

गणतत्त्विणमुवको, अर्थं वाण्ड आयरिओ ॥

पञ्चविहं आश्रं, आयरमाणा तहा पयामता ।

आचारै देसंता, आयरिया तेण तुच्चन्ति ॥

२. आचिनोति य शारत्रार्थमाचारे स्थापयत्यपि ।

स्वयमानरतं यस्मादाचार्पस्तेन कथ्यते ॥

३. वारसंगे जिणकवाग्रो, मञ्जगो कहिओ दुर्हेहि ।

ते उवदभिति जम्हा, उवज्ञक्षा तेण तुच्चन्ति ॥

—भगवती सूत्र १.१.१, मंगलाचरण वृत्ति

—भगवती सूत्र १.१.१, मंगलाचरण वृत्ति

यहाँ सूत्र-वाड्मय का उपदेश करने का आशय आगमों की सूत्र-बाचना देना है। स्थानांग-वृत्ति में भी उपाध्याय का सूत्रदाता (सूत्रबाचनादाता) के रूप में उल्लेख हुआ है।

आचार्यों के सम्पदाओं के वर्णन-प्रसंग में यह बतलाया गया है कि आगमों की अर्थ-बाचना आचार्य देते हैं। यहाँ जो उपाध्याय द्वारा स्वाध्यायोपदेश या सूत्र-बाचना देने का उल्लेख है, उसका तात्पर्य यह है कि सूत्रों के पाठोच्चारण की शुद्धता, स्पष्टता, विशदता, अपरिवर्त्यता तथा स्थिरता बनाये रखने हेतु उपाध्याय पारंपरिक एवं आज की भाषा में भाषावैज्ञानिक आदि दृष्टियों से अन्तेबासी अमणों को मूल पाठ का सांगोपांग शिक्षण देते हैं।

अनुयोगद्वार सूत्र में 'आगमतः द्रव्यावश्यक' के संदर्भ में पठन या बाचन का विवेचन करते हुए तत्सम्बन्धी विशेषताओं पर प्रकाश डाला गया है, जिससे प्रतीत होता है कि पाठ की एक अक्षुण्ण तथा स्थिर परंपरा जैन अमणों में रही है। आदम-पाठ को यथावत् बनाये रखने में इससे बड़ी सहायता मिली है।

आगम-गाथाओं का उच्चारण कर देना मात्र पाठ या बाचना नहीं है। अनुयोगद्वार सूत्र में शिक्षित, जित, स्थित, मित, परिजित, नामसम, घोषसम, अहीनाक्षर, अनत्यक्षर, अव्याविद्वाक्षर, अस्वलित, अमिलित, अव्यत्याघोषित, प्रतिपूर्ण, प्रतिपूर्णघोष तथा कण्ठोऽविप्रमुक्त विशेषण दिये गये हैं।^१ संक्षेप में इनका तात्पर्य यों है—

१. शिक्षित—साधारणतया सीख लेना।
२. स्थित—सीखे हुए को मस्तिष्क में टिकाना।
३. जित—अनुक्रमपूर्वक पठन करना।
४. मित—अक्षर आदि की मर्यादा, संयोजन आदि जानना।
५. परिजित—पूर्णरूपेण काढ़ा पा लेना।
६. नामसम—जिस प्रकार हर व्यक्ति को अपना नाम स्मरण रहता है, उसी प्रकार सूत्र का पाठ याद रहना अर्थात् सूत्र-पाठ को इस प्रकार आत्मसात् कर लेना कि जब भी पूछा जाय, तत्काल यथावत् रूप में बतला सके।
७. घोषसम—स्वर के हस्त, दीर्घ, प्लुत^२ तथा उदास, अनुदात्त, स्वरित^३ के रूप में जो उच्चारण सम्बन्धी भेद वैयाकरणों ने किये हैं, उनके अनुरूप उच्चारण करना।
८. अहीनाक्षर—पाठक्रम में किसी भी अक्षर को होन—लुप्त या अस्पष्ट न कर देना।
९. अनत्यक्षर—अधिक अक्षर न जोड़ना।
१०. अव्याविद्वाक्षर—अक्षर, पद आदि का विपरीत—उलटा पठन न करना।

१. अनुयोगद्वार सूत्र १९.

२. उक्तव्योऽभ्युस्वदीर्घप्लुतः। — पाणिनीय अष्टाध्यायी १.२.२७

३. उच्चैरुदात्तः। नीचैरुदात्तः। समाहारः स्वरितः। — पाणिनीय अष्टाध्यायी १.२.२९-३१.

११. अस्खलित—पाठ में सखलन न करना, पाठ का यथाप्रवाह उच्चारण करना ।
१२. अभिलित—अक्षरों को परस्पर न मिलाते हुए—उच्चारणीय पाठ के साथ किन्हीं दूसरे अक्षरों को न मिलाते हुए उच्चारण करना ।
१३. अव्यत्याग्रेडि—अन्य सूत्रों, शास्त्रों के पाठ को समानार्थक जानकर उच्चार्य पाठ के साथ मिला देना व्यत्याग्रेडि है । ऐसा न करना अव्यत्याग्रेडि है ।
१४. प्रतिपूर्ण—पाठ का पूर्ण रूप से उच्चारण करना, उसके किसी अंग को अनुच्चारित न रखना ।
१५. प्रतिपूर्णघोष—उच्चारणीय पाठ का मन्द स्वर द्वारा, जो कठिनाई से सुनाई दे उच्चारण न करना, पूरे स्वर से स्पष्टतया उच्चारण करना ।
१६. कण्ठोऽविप्रमुक्त—उच्चारणीय पाठ या पाठांश को गले और होठों में अटका कर अस्पष्ट नहीं बोलना ।

सूत्र-पाठ को अक्षुण्ण तथा अपरिवर्त्य बनाये रखने के लिए उपाध्याय को सूत्र-बाचना देने में कितना जागरूक तथा प्रयत्नशील रहना होता था, यह उक्त विवेचन से स्पष्ट है ।

नेखनक्रम के अस्तित्व में आने से पूर्व वैदिक, जैन और बौद्ध—सभी परम्पराओं में अपने आगमों, आर्ष ग्रन्थों को कण्ठस्थ रखने की प्रणाली थी । मूल पाठ का रूप अक्षुण्ण बना रहे, परिवर्तित समय का उस पर प्रभाव न था, इस निमित्त उन द्वारा ऐसे पाठक्रम या उच्चारण-पद्धति का परिस्थापन स्वाभाविक था, जिससे एक से सुनकर या पढ़कर दूसरा व्यक्ति सर्वथा उसी रूप में शास्त्र को आत्मसात् बनाये रख सके । उदाहरणार्थ संहिता-पाठ, पद-पाठ, क्रम-पाठ, जटा-पाठ और बन-पाठ के रूप में वेदों के पठन का भी बड़ा वैज्ञानिक प्रकार था, जिसने तब तक उनको मूल रूप में बनाये रखा है ।^१

एक से दूसरे द्वारा श्रुति-परम्परा से आगम-प्राप्तिक्रम के बावजूद जैन आगम-बाढ़मय में कोई विशेष मौलिक परिवर्तन आया हो, ऐसा संभव नहीं लगता । सामान्यतः लोग कह देते हैं, किसी से एक वाक्य भी सुनकर दूसरा व्यक्ति किसी तीसरे व्यक्ति को बताए तो यत्किञ्चित् परिवर्तन आ सकता है, फिर यह कब संभव है कि इतने विशाल आगम-बाढ़मय में काल की इस लम्बी अवधि के बीच भी कोई परिवर्तन नहीं आ सका । साधारणतया ऐसों शंका उठना अस्वाभाविक नहीं है किन्तु आगम-पाठ की उपर्युक्त परम्परा से खत: समाधान हो जाता है कि जहाँ मूल पाठ की सुरक्षा के लिए इतने उपाय प्रयोगित थे, वहाँ आगमों का मूल स्वरूप क्यों नहीं अव्याहत और अपरिवर्तित रहता ।

अर्थ या अभिप्राय का आश्रय सूत्र का मूल पाठ है । उसी की पृष्ठभूमि पर उसका पललवन और विकास संभव है । अतएव उसके शुद्ध स्वरूप को स्थिर रखने के लिए सूत्र-बाचना या पठन का इतना बड़ा महत्व समझा गया कि श्वेत-संघ में उसके लिए 'उपाध्याय' का पृथक् पद प्रतिष्ठित किया गया ।

१. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ १७

वैदिक परम्परा में वेद, उसके अंग आदि के अध्यापन के सन्दर्भ में आचार्य एवं उपाध्याय वेदों का उल्लेख हुआ है।

आचार्य के सम्बन्ध में लिखा है—

“जो द्विज शिष्य का उपनयन-संस्कार कर उसे संकल्प—कल्प या यज्ञविद्या सहित, सरहस्य—उपनिषद् सहित वेद पढ़ाता है, उसे आचार्य कहते हैं।”^१

उपाध्याय के सम्बन्ध में उल्लेख है—

“जो वेद का एक भाग—मन्त्रभाग तथा वेद के अंग—शिक्षा—ध्वनि-विज्ञान, कल्प—कर्म-काण्ड-विधि, व्याकरण—शब्दशास्त्र, निःक्त—शब्द-व्याख्या या व्युत्पत्तिशास्त्र तथा ज्योतिष—नक्षत्र-विज्ञान पढ़ाता है, उसे उपाध्याय कहा जाता है।”^२

आचार्य तथा उपाध्याय—दोनों के अध्यापनक्रम पर सूक्ष्मता से विचार करने पर प्रतीत होता है कि आचार्य वेदों के रहस्य एवं गहन अर्थ का ज्ञान कराते थे और उपाध्याय वेद-मन्त्रों का विशुद्ध उच्चारण, विशुद्ध पाठ सिखाते थे।

जैन परम्परा में स्वीकृत आचार्य तथा उपाध्याय के पाठनक्रम के साथ प्रस्तुत प्रसंग तुलनीय है।

स्थविर

जैन श्रमण-संघ में स्थविर का पद अत्यन्त महत्वपूर्ण है। स्थानांग सूत्र में दश प्रकार^३ के स्थविर बतलाये गये हैं, जिनमें से अन्तिम तीन जाति-स्थविर, श्रुत-स्थविर तथा पर्याय-स्थविर का सम्बन्ध विशेषतः श्रमण-जीवन से है।

स्थविर का सामान्य अर्थ प्रीढ़ या वृद्ध है।^४ जो जन्म से अर्थात् आयु से स्थविर होते हैं, वे जाति-स्थविर कहे जाते हैं। स्थानांग वृत्ति में उनके लिए साठ वर्ष की आयु का उल्लेख किया गया है।^५

सर मोनियर लिलियम्स ने अपने कोश में स्थविर शब्द की व्याख्या में उल्लेख किया है कि

१. उपनीय तु यः शिष्यं वेदमध्यापयेद् द्विजः ।

—मनुस्मृति २.१४०

संकल्पं सरहस्यं च तमाचार्यं प्रक्षेपते ॥

२. शिक्षा व्याकरणं छन्दो निःक्तं ज्योतिर्य तथा ।

—संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ४४

कल्पश्चेति षष्ठ्यानि वेदस्याहुर्मनीषिणः ॥

३. १. ग्राम-स्थविर, २. नगर-स्थविर, ३. राष्ट्र-स्थविर, ४. प्रकास्त्र-स्थविर, ५. कुल-स्थविर, ६. गण-स्थविर,
७. संघ-स्थविर, ८. जाति-स्थविर, ९. श्रुत-स्थविर, १०. पर्याय-स्थविर । —स्थानांग सूत्र १०.७६१

४. (क) पाइवसहमहणवो—पृष्ठ ४५०

(ख) संस्कृत हिन्दी कोश : वामन शिवराम आप्टे —पृष्ठ ११.३९

५. जातिस्थविरः—प्राणिद्वयंप्रमाणजन्मपर्यायाः ।

—स्थानांग सूत्र १०.७६१ वृत्ति

सत्तर से नववे वर्ष तक की आयु का पुरुष स्थविर कहा जाता है। नदनन्तर उसकी संज्ञा वर्धीयस् (वर्धीयान्) होती है। स्त्री के लिए उन्होंने सत्तर के स्थान पर पचास वर्ष का उल्लेख किया है।^१

जो श्रुत-समवाय आदि अंग एवं शास्त्र के पारगामी होते हैं। वे श्रुत-स्थविर कहे जाते हैं।^२ उनके लिए आयु की इयत्ता का निर्बन्ध नहीं है। वे छोटी आयु के भी हो सकते हैं।

इस सन्दर्भ में मनुस्मृति में कहा है—

“कोई पुरुष इसलिए बृद्ध नहीं होता कि उसके बाल सफेद हो गये हों। जो युवा होते हुए भी अध्ययनशील—ज्ञानसम्पन्न है, मनुष्यों की तो बात ही क्या, उसे देव भी बृद्ध कहते हैं।”^३

पर्याय-स्थविर वे होते हैं, जिनका दीक्षाकाल लम्बा होता है। वृत्तिकार ने इनके लिए वीस वर्ष के दीक्षा-पर्याय के होने का उल्लेख किया है।^४

अब तीन प्रकार के स्थविरों का जो विवेचन हुआ है, उसका सार यह है—

जिनकी आयु परिपवव होती है, उन्हें जीवन के अनेक प्रकार के अनुभव होते हैं। वे जीवन में बहुत प्रकार के अनुकूल-प्रतिकूल, प्रिय-अप्रिय घटनाक्रम देखे हुए होते हैं अतः वे विपरीत परिस्थितियों में भी विचलित नहीं होते, स्थिर बने रहते हैं। स्थविर शब्द स्थिरता का भी द्वातक है।

जिनका श्रुतानुशीलन, शास्त्राध्ययन विशाल होता है, वे अपने विपुल ज्ञान द्वारा जीवन-सत्त्व के परिणाम होते हैं। शास्त्र-ज्ञान द्वारा उनके जीवन में स्थिरता एवं दृढ़ता होती है।

जिनका दीक्षा-पर्याय संयम-जीवितव्य लम्बा होता है, उनके जीवन में धार्मिक परिपववता, चारित्रिक बल, आत्मिक श्रोज, एतत्प्रसूत स्थिरता सहज ही प्रस्फुटित हो जाती है।

इस प्रकार के स्थिरतामय जीवन के धनी श्रमणों की अपनी गरिमा है। वे दृढ़धर्मी होते हैं। संघ के श्रमणों को धर्म में, साधना में, संयम में स्थिर बनाये रखने के लिए सदैव जागरूक तथा प्रयत्नशील रहते हैं।

कहा गया है—

‘जो माधु लौकिक एषणावश सांसारिक कार्य-कलापों में प्रवृत्त होने लगते हैं, जो संयम-पालन में, ज्ञानानुशीलन में कष्ट का अनुभव करते हैं; उन्हें जो श्रमण ऐहिक तथा पारलौकिक हानि

१. Old age (described as commencing at seventy in men and fifty in women, and ending at ninety, after which period a man is called Varshiyas).

—Sanskrit-English Dictionary, Page 1265.

२. श्रुतस्थविरः—समवायाङ्गधारिणः। —स्थानांग सूत्र १०.३६१

३. न तेन बृद्धो अवति येनास्य पलितं णिरः।

शो वै युवाऽप्यधीयानस्तं देवाः स्थविरं विदुः॥ —मनुस्मृति २.१५६

४. पर्यायस्थविराः—विष्णतिवर्षप्रभाणप्रवृत्त्या-पर्यायवन्तः। —स्थानांग सूत्र १०.३६१ वृत्ति

या दुःख बतलाकर संयम-जीवन में स्थिर करते हैं, वे स्थविर कहे जाते हैं ।^१

स्थविर की विशेषताओं का वर्णन करते हुए बतलाया गया है—

“स्थविर संविमन— मोक्ष के अभिलाषी, अत्यन्त मृदु या कोमल प्रकृति के धनी तथा धर्मप्रिय होते हैं । ज्ञान, दर्शन, चारित्र की आराधना में उपादेय अनुष्ठानों को जो श्रमण परिहीन करता है, उनके पालन में अस्थिर बनता है, वे (स्थविर) उसे ज्ञान, दर्शन तथा चारित्र की याद दिलाते हैं । पतनोन्मुख श्रमणों को वे ऐहिक एवं पारलौकिक हानि दिखलाकर, बतलाकर मोक्ष के मार्ग में स्थिर करते हैं ।”^२

धर्मसंग्रह में इसी आशय को और स्पष्ट करते हुए कहा गया है—

“संघाध्यिपति द्वारा श्रमणों के लिए नियोजित तप, संयम, श्रुताराधना तथा आत्मसाधना मूलक कार्यों में जो श्रमण अस्थिर हो जाते हैं, इनका अनुसरण करने में कष्ट मानते हैं या इनका पालन जिनको अप्रिय लगता है, उन्हें जो आत्मशक्तिसम्पन्न दृढ़चेता श्रमण उस अनुष्ठेय कार्यों में सुस्थिर बनाता है, वह स्थविर कहा जाता है ।”^३

इससे स्पष्ट है कि संयम-जीवन, श्रमण का अपरिहार्य अंग है, के प्रहरी का महनीय कार्य स्थविर करते हैं । संबंध में उनकी अत्यधिक प्रतिष्ठा तथा साक्ष होती है । अवसर आने पर वे आचार्य तक को आवश्यक बातें सुझा-सकते हैं, जिन पर उन्हें (आचार्य को) भी गौर करना होता है ।

सार यह है कि स्थविर संयम में स्वयं अविचल, स्थितिशील होते हैं और संघ के सदस्यों को वैसे बने रहने में उत्प्रेरित करते रहते हैं ।

चारित्रविनय क्या है—वह कितने प्रकार का है? चारित्र-विनय पाँच प्रकार का है—

१. सामायिकचारित्र-विनय, २. छेदोपस्थापनीयचारित्र-विनय, ३. परिहारविषुद्धिचारित्र-विनय,
४. सूक्ष्मसंपरायचारित्र-विनय, ५. यथाख्यातचारित्र-विनय ।

यह चारित्र-विनय है ।

मनोविनय क्या है—कितने भेद हैं? मनोविनय दो प्रकार का कहा गया है—

१. प्रशस्त मनोविनय, २. अप्रशस्त मनोविनय ।

१. प्रवतितव्यापारान् संयमयोगेषु सीदतः साश्रूतं ज्ञानादिगु

ऐहिकामुष्मिकापायदर्शनितः स्थिरीकरोतीति स्थविरः ।

—प्रवचनसारोद्धार, द्वार २

२. संविग्गे मद्विश्रो, पियधम्मो नाणदंसणचरिते ।

जे अट्ठे परिहायद, सातो ते हवई थेरो ॥

ग: संविमनो मोक्षाभिलाषी, मार्दवितः संज्ञातमार्दविकः । प्रियश्रमा एकात्मवल्लभः संयमानुष्ठाने, यो ज्ञानदर्शन-चारित्रेषु मध्ये यानर्थनुगादेयानुष्ठानविशेषान् परिहाययति हानि नयति, तान् तं स्मारयन् भवति स्थविरः, सीदमानान्साधून् ऐहिकामुष्मिकापायप्रदर्शनलां मोक्षमार्गं स्थिरीकरोतीति स्थविर इति व्युत्पत्तेः ।

—अभिधानराजेन्द्र भाग ४, पृष्ठ २३८-३९

३. तेन व्यापारितेष्वर्थावस्थाराम्ब दीदतः ।

स्थिरीकरोति भवत्तिः स्थविरो भवतीह सः ॥

—धर्मसंग्रह-प्रधिकार ३, गाथा ७३

अप्रशस्त मनोविनय क्या है ?

जो मन सावध—पाप या गर्हित कर्म युक्त, सक्रिय—प्राणातिपात आदि आरम्भ-क्रिया सहित, कर्कश, कटुक—अपने लिए तथा श्रीरों के लिए अनिष्ट, निष्ठुर—कठोर—मृदुतारहित, परुष—स्नेह-रहित—धूधा, आभद्रकारी—अशुभ रूपग्राही, खेदकर—किसी के हाथ, पैर आदि अंग तोड़ डालने का दुर्भाव रखनेवाला, भेदकर—नासिका आदि अंग काट डालने का बुरा भाव रखनेवाला, परितापन-कर—प्राणियों को सन्तप्त, परितप्त करने के भाव रखनेवाला, उपद्रवणकर—मारणात्तिक कष्ट देने अथवा धन-सम्पत्ति हर लेने का बुरा विचार रखनेवाला, भूतोपधातिक—जीवों का घात करने का दुर्भाव रखनेवाला होता है, वह अप्रशस्त मन है। वैसी मनःस्थिति लिए रहना अप्रशस्त मनो-विनय है। वैसा मन धारण नहीं करना चाहिए।

प्रशस्त मनोविनय किसे कहते हैं ?

जैसे अप्रशस्त मनोविनय का विवेचन किया गया है, उसी के आधार पर प्रशस्त मनोविनय को समझना चाहिए। अर्थात् प्रशस्त मन, अप्रशस्त मन से विपरीत होता है। वह असावध, निष्क्रिय, अकर्कश, अकटुक-इट—मधुर, अनिष्टुर—मृदुल—कोमल, अपरुष—स्निग्ध—स्नेहमय, अनाल्पकारी, अखेदकर, अभेदकर, अपरितापनकर, अनुपद्रवणकर—दयाद्वै, अभूतोपधातिक—जीवों के प्रति करुणा, शील—सुखकर होता है।

वचन-विनय को भी इन्हीं पदों से समझना चाहिए। अर्थात् वचन-विनय अप्रशस्त-वचन-विनय तथा प्रशस्त-वचन-विनय के रूप में दो प्रकार का है। अप्रशस्त मन तथा प्रशस्त मन के विशेषण क्रमशः अप्रशस्त वचन तथा प्रशस्त वचन के साथ जोड़ देने चाहिए।

यह वचन-विनय का विश्लेषण है।

काय-विनय क्या है—कितने प्रकार का है? काय-विनय दो प्रकार का बतलाया गया है—

१. प्रशस्त काय-विनय, २. अप्रशस्त काय-विनय।

अप्रशस्त काय-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं?

अप्रशस्त काय-विनय के सात भेद हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. अनायुक्त गमन—उपयोग—जागरूकता या सावधानी बिना चलना।
२. अनायुक्त स्थान—बिना उपयोग स्थित होना—ठहरना, खड़ा होना।
३. अनायुक्त निषीदन—बिना उपयोग बैठना।
४. अनायुक्त त्वरणतंत्र—बिना उपयोग बिछुने पर करवट बदलना, सोना।
५. अनायुक्त उल्लंघन—बिना उपयोग कर्दम आदि का अतिक्रमण करना—कीचड़ आदि लांधना।
६. अनायुक्त प्रलंघन—बिना उपयोग बारबार लांधना।
७. अनायुक्त सर्वेन्द्रियकाययोग-योजनता—बिना उपयोग सभी इन्द्रियों तथा शरीर को योगयुक्त करना—विविध प्रवृत्तियों में लगाना।

यह अप्रशस्त काय-विनय है।

प्रशस्त काय-विनय क्या है ?

प्रशस्त काय-विनय को अप्रशस्त काय-विनय की तरह समझ लेना चाहिये । अर्थात् अप्रशस्त काय-विनय में जहाँ क्रिया के साथ अनुपयोग—अजागरूकता या असावधानी जुड़ी रहती है, वहाँ प्रशस्त काय-विनय में पूर्वोक्त प्रत्येक क्रिया के साथ उपयोग—सावधानी जुड़ी रहती है ।

यह प्रशस्त काय-विनय है ।

इस प्रकार यह काय-विनय का विवेचन है ।

लोकोपचार-विनय क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

लोकोपचार-विनय के सात भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. अभ्यासवर्तिता—गुरुजनों, बड़ों, सत्पुरुषों के समीप बैठना ।
२. परच्छन्दानुवर्तिता—गुरुजनों, पूज्य जनों के इच्छानुरूप प्रवृत्ति करना ।
३. कार्यहेतु—विद्या आदि प्राप्त करने हेतु, अथवा जिनसे विद्या प्राप्त की, उनकी सेवा-परिचर्या करना ।
४. कृत-प्रतिक्रिया—अपने प्रति किये गये उपकारों के लिए कृतज्ञता अनुभव करते हुए सेवा-परिचर्या करना ।
५. आत्म-गवेषणा—रुग्णता, वृद्धावस्था से पीड़ित संयत जनों, गुरुजनों की सार-सम्हाल तथा ओषधि, पथ्य आदि द्वारा सेवा-परिचर्या करना ।
६. देशकालज्ञता—देश तथा समय को ध्यान में रखते हुए ऐसा आचरण करना, जिससे अपना मूल लक्ष्य व्याहृत न हो ।
७. सविधाप्रतिलोमता—सभी अनुष्ठेय विषयों, कार्यों में विपरीत आचरण न करना, अनुकूल आचरण करना ।

यह लोकोपचार-विनय है ।

इस प्रकार यह विनय का विवेचन है ।

वैयाकृत्य क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

वैयाकृत्य—आहार, पानी, ओषधि आदि द्वारा सेवा-परिचर्या के दश भेद हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. आचार्य का वैयाकृत्य, २. उपाध्याय का वैयाकृत्य, ३. शंक्ष—तवदीक्षित श्रमण का वैयाकृत्य, ४. खान—रुग्णता आदि से पीड़ित का वैयाकृत्य, ५. तपस्वी—तेला आदि तप-निरत का वैयाकृत्य, ६. स्वविर—वय, श्रुत और दीक्षा-पर्याय में ज्येष्ठ का वैयाकृत्य, ७. साधार्मिक का वैयाकृत्य, ८. कुल का वैयाकृत्य, ९. गण का वैयाकृत्य, १०. संघ का वैयाकृत्य ।

यह वैयाकृत्य का विवेचन है ।

स्वाध्याय क्या है— वह कितने प्रकार का है ?

स्वाध्याय पाँच प्रकार का कहा गया है । वह इस प्रकार है—

१. वाचना—यथाविद्धि, यथासमय श्रुत-वाड़मय का अध्ययन, अध्यापन ।
२. प्रतिपृच्छना—अधीत विषय में विशेष स्पष्टीकरण हेतु पूछना, शंका-समाधान करना ।
३. परिवर्तना—अधीत ज्ञान की पुनरावृत्ति, सीखे हुए को बार-बार दुहराना ।
४. अनुप्रेक्षा—आगमानुसारी चिन्तन-मनन करना ।
५. धर्मकथा—श्रुत-धर्म की व्याख्या-विवेचना करना ।

यह स्वाध्याय का स्वरूप है ।

ध्यान क्या है— उसके कितने भेद हैं ?

ध्यान—एकाग्र चिन्तन के चार भेद हैं— १. आर्तध्यान—रागादि भावना से अनुप्रेरित ध्यान, २. रौद्रध्यान—हिंसादि भावना से अनुरंजित ध्यान, ३. धर्मध्यान—धर्मभावना से अनुप्राणित ध्यान, ४. शुक्लध्यान^१—निर्मल, शुभ-प्रशुभ से अतीत आत्मोन्मुख शुद्ध ध्यान ।

आर्तध्यान चार प्रकार का बतलाया गया है—

१. मन को प्रिय नहीं लगानेवाले विषय, स्थितियाँ आने पर उनके वियोग—दूर होने, दूर करने के सम्बन्ध में निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना ।
२. मन को प्रिय लगानेवाले विषयों के प्राप्त होने पर उनके अवियोग—वे अपने से कभी दूर न हों, सदा अपने साथ रहें, यों निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना ।
३. रोग हो जाने पर उनके मिटने के सम्बन्ध में निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना ।
४. पूर्व-सेवित काम-भोग प्राप्त होने पर, फिर कभी उनका वियोग न हो, यों निरन्तर आकुलतापूर्ण चिन्तन करना ।

आर्तध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. कन्दनता—जोर से कन्दन करना—रोना-चीखना ।
२. शोचनता—मानसिक रुलानि तथा दैन्य अनुभव करना ।
३. तेपनता—आँसू ढलकाना ।
४. विलपनता—विलाप करना—“हाय ! मैंने पूर्व जन्म में कितना बड़ा पाप किया, जिसका यह फल मिल रहा है ।” इत्यादि रूप में बिलखना ।

१. शुच—शोक कलभयति—अपनमतीति शुक्लम्—जो जन्म-मरण रूप शोक का अपनयन—क्षय करे ।

रीढ़ध्यान चार प्रकार का बतलाया है, जो इस प्रकार है—

१. हिंसानुबन्धी—हिंसा का अनुबन्ध या सम्बन्ध लिये एकाग्र चिन्तन—हिंसा को उद्दिष्ट कर ध्यान की एकाग्रता ।
२. मृषानुबन्धी—असत्य-सम्बद्ध—असत्य को उद्दिष्ट कर एकाग्र चिन्तन ।
३. स्तंन्यानुबन्धी—चोरी से सम्बद्ध एकाग्र चिन्तन ।
४. संरक्षणानुबन्धी—धन आदि भोग-साधनों के संरक्षण हेतु औरों के प्रति हिंसापूर्ण एकाग्र चिन्तन ।

रीढ़ध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं—

१. उत्सन्नदोष—हिंसा प्रभृति दोषों में से किसी एक दोष में अत्यधिक लीन रहना—उधर प्रवृत्त रहना ।
२. बहुदोष—हिंसा आदि अनेक दोषों में संलग्न रहना ।
३. अज्ञानदोष—मिथ्याशास्त्र के संस्कारवश हिंसा आदि धर्मप्रतिकूल कार्यों में धर्मराधना की दृष्टि से प्रवृत्त रहना ।
४. आमरणान्तदोष—सेवित दोषों के लिए मृत्युपर्यन्त पश्चात्ताप न करते हुए उनमें अनवरत प्रवृत्तिशील रहना ।

धर्मध्यान स्वरूप, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा भेद से चार प्रकार का कहा गया है। इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

स्वरूप की दृष्टि से धर्मध्यान के चार भेद इस प्रकार हैं—

१. आज्ञा-विचय—आप्त पुरुष का वचन आज्ञा कहा जाता है। आप्त पुरुष वह है, जो राग, द्वेष आदि से असंपृक्त है, जो सर्वज्ञ है। सर्वज्ञ वीतराग देव की आज्ञा, जहाँ विचय—मनन, निदिध्यासन आदि का विषय है, वह एकाग्र चिन्तन आज्ञा-विचय ध्यान है। इसका अभिप्राय यह हुआ—वीतराग प्रभु की आज्ञा, प्रखण्डणा या वचन के अनुरूप वस्तु-तत्त्व के चिन्तन में मन की एकाग्रता ।
२. अपाय-विचय—अपाय का अर्थ दुःख है, उसके हेतु राग, द्वेष, विषय, कषाय हैं, जिनसे कर्म उपचित होते हैं। राग, द्वेष, विषय, कषाय का अपचय, कर्म-सम्बन्ध का विच्छेद, आत्मसमाधि की उपलब्धि, सर्व अपाय-नाश ... ये इस ध्यान में विच्छिन्न के विषय हैं।
३. विपाक-विचय—विपाक का अर्थ फल है। कर्मों के विपाक या फल पर इस ध्यान की चिन्तन-धारा आधृत है। ज्ञानावरण, दर्शनावरण आदि कर्मों से जनित फल को प्राणी किस प्रकार भोगता है, किन स्थितियों में से वह गुजरता है, इत्यादि विषय इसकी चिन्तन-धारा के अन्तर्गत आते हैं।
४. संस्थान-विचय—लोक, द्वीप, समुद्र आदि के शाकार का एकाग्रता चिन्तन ।

धर्म-ध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. आज्ञा-रुचि—वीतराग प्रभु की आज्ञा में, प्ररूपण में अभिरुचि होना, श्रद्धा होना।
२. निसर्ग-रुचि—नैसर्गिक रूप में—स्वभावतः धर्म में रुचि होना।
३. उपदेश-रुचि—साधु या ज्ञानो के उपदेश से धर्म में रुचि होना अथवा धर्म का उपदेश सुनने में रुचि होना।
४. सूक्ष्म-रुचि—सूक्ष्मों-आगमों में रुचि या श्रद्धा होना।

धर्मध्यान के चार आलम्बन—ध्यान रूपी प्रासाद के शिखर पर चढ़ने के लिए सहायक—आश्रय कहे गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. वाचना—सत्य सिद्धान्तों का निरूपण करने वाले आगम, शास्त्र, ग्रन्थ आदि पढ़ना।
२. पृच्छना—अधीर, अत विषय में स्पष्टता हेतु जिजासु भाव से अपने मन में ऊहापोह करना, ज्ञानी जनों से पृच्छना, समाधान पाने का यत्न करना।
३. परिवर्तना—जाने हुए, सीखे हुए ज्ञान की पुनः आवृत्ति करना, ज्ञात विषय में मानसिक, वाचिक वृत्ति लगाना।
४. धर्मकथा—धर्मकथा करना, धार्मिक उपदेशप्रद कथाओं, जीवन-वृत्तों, प्रसंगों द्वारा आत्मानुशासन में गतिशील होना।

धर्मध्यान की चार अनुप्रेक्षाएँ—भावनाएँ या विचारोत्कर्ष की अभ्यास-प्रणालिकाएँ बतलाई गई हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. अनित्यानुप्रेक्षा—सुख, सम्पत्ति, वेभव, भोग, देह, योवन, आरोग्य, जीवन, परिवार आदि सभी ऐहिक वस्तुएँ अनित्य हैं—अशाश्वत हैं, यों चिन्तन करता, ऐसे विचारों का अभ्यास करना।
२. अशरणानुप्रेक्षा—जन्म, जरा, रोग, कष्ट, वेदना, मृत्यु आदि की दुर्धर्म विभीषिका में जिनेश्वर देव के वचन के अतिरिक्त जगत् में श्रीर कोई शरण नहीं है, यों आर-बार चिन्तन करना।
३. एकत्वानुप्रेक्षा—मृत्यु, वेदना, पीड़ा, शोक, शुभ-अशुभ कर्म-फल इत्यादि सब जीव अकेला ही पाता है, भोगता है, सुख, दुःख, उत्थान, पतन आदि का सारा दायित्व एकमात्र अपना अकेले का है। अतः क्यों न प्राणी आत्मकल्याण साक्षने में जुटे, इस प्रकार की वैज्ञानिक प्रवृत्ति जगाना, उसे बल देना, गतिशील करना।
४. संसारानुप्रेक्षा—संसार में यह जीव कभी पिता, कभी पुत्र, कभी माता, कभी पुत्री, कभी भाई, कभी बहिन, कभी पति, कभी पत्नी होता है—इत्यादि कितने-कितने रूपों में संसरण करता है, यों वैविष्यपूर्ण सांसारिक सम्बन्धों का, सांसारिक स्वरूप का पुनः-पुनः चिन्तन करना, आत्मोन्मुखता पाने हेतु विचाराभ्यास करना।

शुक्लध्यान स्वरूप, लक्षण, आलम्बन तथा अनुप्रेक्षा के भेद से चार प्रकार का कहा गया है।
इनमें से प्रत्येक के चार-चार भेद हैं।

स्वरूप की दूषिट से शुक्लध्यान के चार भेद हात प्रकार हैं—

(१) पृथक्त्व-वितर्क-सविचार

वितर्क का अर्थ श्रुतावलम्बी विकल्प है। पूर्वधर मुनि पूर्वश्रुत—विशिष्ट ज्ञान के अनुसार किसी एक द्रव्य का आलम्बन लेकर ध्यान करता है किन्तु उसके किसी एक परिणाम या पर्याय (क्षण-क्षणवर्ती अवस्था-विशेष) पर स्थिर नहीं रहता, उसके विविध परिणामों पर संचरण करता है—शब्द से अर्थ पर, अर्थ से शब्द पर तथा मन, वाणी एवं देह में एक दूसरे की प्रवृत्ति पर संक्रमण करता है, अनेक अपेक्षाओं से चिन्तन करता है। ऐसा करना पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान है। शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह का संक्रमण होते रहने पर भी ध्येय द्रव्य एक ही होता है।

विवेचन— महर्षि पतञ्जलि ने योगसूत्र में सवितर्क-समाप्ति का जो वर्णन किया है, वह पृथक्त्व-वितर्क-सविचार शुक्लध्यान से तुलनीय है। वहाँ शब्द, अर्थ और ज्ञान—इन तीनों के विकल्पों से संकीर्ण—सम्मिलित समाप्ति—समाधि को सवितर्क-समाप्ति कहा गया है।^१

जैन एवं पातञ्जलि योग से सम्बद्ध इन दोनों विधाओं की गहराई में जाने से अनेक दार्शनिक तथ्यों का प्राकटिक संभाव्य है।

(२) एवत्त्व-वितर्क-अविचार

पूर्वधर-पूर्वसूत्र का जाता-पूर्वश्रुत-विशिष्ट ज्ञान के किसी एक परिणाम पर चित्त को स्थिर करता है। वह शब्द, अर्थ, मन, वाक् तथा देह पर संक्रमण नहीं करता। वैसा ध्यान एकत्व-वितर्क-अविचार की संज्ञा से अभिहित है। पहले में पृथक्त्व है अतः वह सविचार है, दूसरे में एकत्व है, इस अपेक्षा से उसकी अविचार संज्ञा है। दूसरे शब्दों में यों कहा जा सकता है कि पहले में वैचारिक संक्रम है, दूसरे में असंक्रम। आचार्य हेमचन्द्र ने इन्हें नानात्व-श्रुत-विचार तथा एक्य-श्रुत-अविचार संज्ञा से अभिहित किया है।^२

विवेचन— महर्षि पतञ्जलि द्वारा वर्णित निवितर्क-समाप्ति एकत्व-वितर्क-अविचार से तुलनीय है। पतञ्जलि लिखते हैं—

“जब स्मृति परिशुद्ध हो जाती है अथवा शब्द और प्रतीति की स्मृति लुप्त हो जाती है, चित्तवृत्ति केवल अर्थमात्र का—ध्येयमात्र का निर्भास करने वाली—ध्येयमात्र के स्वरूप को प्रत्यक्ष करने वाली हो, स्वयं स्वरूपशून्य की तरह बन जाती हो, तब वैसी स्थिति निवितर्क-समाप्ति से संजित होती है।”^३

१. तत्र शब्दार्थज्ञानविकल्पैः संकीर्णा सवितर्की समाप्तिः ।

—पातञ्जलि योगदर्शन १.४२

२. श्रेयं नानात्वश्रुतविचारमैक्यश्रुताविचारं च ।

—योगशास्त्र ११.५

सूक्ष्मक्रियमुत्सवत्रिव्यमिति भेदेष्वचतुर्धी तत् ॥

—पातञ्जलि योगदर्शन १.४३

३. स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येवार्थमात्रनिर्भासा निवितर्की ।

यह विवेचन स्थल ध्येय पदार्थों की दृष्टि से है। जहाँ ध्येय पदार्थ सूक्ष्म हों, वहाँ उक्त दोनों की संज्ञा सविचार और निविचार समाधि है, ऐसा पतञ्जलि कहते हैं।^१

निविचार-समाधि में अत्यन्त वैश्या—नैमित्य रहता है। अतः योगी उसमें श्रध्यात्म-प्रसाद—आत्म-उल्लास प्राप्त करता है। उस समय योगी की प्रज्ञा कृतंभरा होती है, 'कृतम्' का अर्थ सत्य है। वह प्रज्ञा या इन्द्रिय बुद्धि गत्य का ग्रहण करते वाली होती है। उसमें संशय और भ्रम का लेश भी नहीं रहता। उस कृतंभरा प्रज्ञा से उत्पन्न संस्कारों के प्रभाव से अन्य संस्कारों का अभाव हो जाता है। अन्ततः कृतंभरा प्रज्ञा से जनित संस्कारों में भी आसक्ति न रहने के कारण उनका भी निरोध हो जाता है। यों समस्त संस्कार निरुद्ध हो जाते हैं। फलतः संसार के बीज का सर्वथा अभाव हो जाता है, निर्बीज-समाधि-दशा प्राप्त होती है।

इस सम्बन्ध में जैन दृष्टिकोण इस प्रकार है—

जैनदर्शन के अनुसार आत्मा पर जो कर्मविरण छाये हुए हैं, उन्हीं के कारण उसका शुद्ध स्वरूप आवृत है। ज्यों-ज्यों उन आवरणों का विलय होता जाता है, आत्मा की वैभाविक दशा छूटती जाती है और वह स्वाभाविक दशा प्राप्त करती जाती है। आवरण के अपचय या नाश के जैनदर्शन में तीन क्रम हैं—क्षय, उपशम तथा क्षयोपशम। किसी कार्मिक आवरण का सर्वथा नष्ट या निर्मूल हो जाना क्षय, अवधिविशेष के लिए शान्त हो जाना उपशम तथा कर्मों की कतिपय प्रकृतियों का सर्वथा क्षीण हो जाना तथा कतिपय प्रकृतियों का अवधिविशेष के लिए उपशान्त हो जाना क्षयोपशम कहा जाता है। कर्मों के उपशम से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह सबीज है; क्योंकि वहाँ कर्म-बीज का सर्वथा उच्छेद नहीं होता, केवल उपशम होता है। कार्मिक आवरणों के सम्पूर्ण क्षय से जो समाधि-अवस्था प्राप्त होती है, वह निर्बीज है, क्योंकि वहाँ कर्म-बीज परिपूर्ण रूप में दग्ध हो जाता है। कर्मों के उपशम से प्राप्त उन्नत दशा फिर अवनत दशा में परिवर्तित हो जाती है, पर कर्म-क्षय से प्राप्त उन्नत दशा में ऐसा नहीं होता।

एकत्व-वितर्क-अविचार शुक्लध्यान में, पृथक्त्व-वितर्क-सविचार ध्यान की अपेक्षा अधिक एकाग्रता होती है। यह ध्यान भी पूर्व-धारक सुनि ही कर सकते हैं। इसके प्रभाव से चार घाति-कर्मों का सम्पूर्ण क्षय हो जाता है और केवलज्ञान-दर्शन प्राप्त कर ध्याता—आत्मा सर्वज्ञ-सर्वदर्शी बन जाता है।

सूक्ष्मक्रिय-अप्रतिपाति—जब केवली (जिन्होंने केवलज्ञान या सर्वज्ञत्व प्राप्त कर लिया हो) आयु के अन्त समय में योग-निरोध का क्रम प्रारंभ करते हैं, तब वे मात्र सूक्ष्म काययोग का अवलम्बन किये होते हैं, उनके और सब योग निरुद्ध हो जाते हैं। उनमें श्वास-प्रश्वास जैसी सूक्ष्म क्रिया ही अवशेष रह जाती है। वहाँ ध्यान से च्युत होने की कोई संभावना नहीं रहती। तदवस्थागत एकाग्र चिन्तन सूक्ष्मक्रिया-अप्रतिपाति शुक्लध्यान है।

यह तेरहवें गुणस्थान में होता है।

१. एतदेव सविचारा निविचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता।

—पातञ्जल योगदर्शन १.४४

समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति

यह ध्यान ध्योगकेवली नामक चतुर्दश गुणस्थान में होता है। अयोगकेवली अन्तिम गुणस्थान है। वहाँ सभी योगों—क्रियाओं का निरोध हो जाता है, आत्मप्रदेशों में सब प्रकार का कम्पन-परिस्पन्दन बन्द हो जाता है। उसे समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति शुक्लध्यान कहा जाता है। इसका काल अत्यल्प-पांच हस्त स्वरों को मध्यम गति से उच्चारण करने में जितना समय लगता है, उतना ही है। यह ध्यान मोक्ष का साक्षात् कारण है।

विवेचन—समुच्छिन्नक्रिय-अनिवृत्ति वह स्थिति है, जब सब प्रकार के स्थूल तथा सूक्ष्म मानसिक, वाचिक तथा दंहिक व्यापारों से आत्मा सर्वथा पृथक् हो जाती है। इस ध्यान के द्वारा अवशेष चार श्रवाति कर्म—वेदनीय, नाम, गोत्र तथा आयु भी नष्ट हो जाते हैं। फलतः आत्मा सर्वथा निर्मल, शान्त, निरामय, निष्क्रिय, निर्विकल्प होकर सम्पूर्ण आनन्दमय मोक्ष-पद की स्वायत्त कर नेता है।

वस्तुतः आत्मा की यह वह दशा है, जिसे चरम लक्ष्य के रूप में उद्दिष्ट कर साधक साधना में संलग्न रहता है। यह आत्मप्रकरण की वह अन्तिम मंजिल है, जिसे अधिगत करने का साधक सदेव प्रयत्न करता है। यह मुक्ताधस्था है, सिद्धावस्था है, जब साधक के समस्त योग—प्रवृत्तिक्रम सम्पूर्णतः निरुद्ध हो जाते हैं, कर्मक्षीण हो जाते हैं, वह शैलेशीदशा—मेरुवत् सर्वथा अप्रकरण, अविचल स्थिति प्राप्त कर लेता है। फलतः वह सिद्ध के रूप में सर्वोच्च लोकाय भाग में संस्थित हो जाता है।^१

शुक्लध्यान के चार लक्षण बतलाये गये हैं। वे इस प्रकार हैं—

१. **विवेक—देह** से आत्मा की भिन्नता—भेद-विज्ञान, सभी सांयोगिक पदार्थों की आत्मा से पार्थक्य की प्रतीति।

२. **ब्युत्सर्ग—निःसंग** भाव से—अनासक्तिपूर्वक शरीर तथा उपकरणों का विशेष रूप से उत्सर्ग—त्याग अर्थात् देह तथा अपने अधिकारवर्ती भौतिक पदार्थों से ममता हटा लेना।

३. **अव्यथा—देव**, पिशाच आदि द्वारा कृत उपसर्ग से व्यथित, विचलित नहीं होना, पीड़ा तथा कष्ट आने पर आत्मस्थता नहीं खोना।

४. **असंमोह—देव** आदि द्वारा रचित मायाजाल में तथा सूक्ष्म भौतिक विषयों में संमूढ या विभ्रान्त नहीं होना।

विवेचन—ध्यानरत पुरुष स्थूल रूप में तो भौतिक विषयों का त्याग किये हुए होता ही है, ध्यान के समय जब कभी इस्त्रिय-भोग संबंधी उत्तेजक भाव उठने लगते हैं तो उनसे भी वह विभ्रान्त एवं विचलित नहीं होता।

१. जया जोगे निर्भिता, सेलेसि पडिवज्जइ।

त्या कर्म खवितार्ण, सिद्धि गच्छइ नीरझो।

जया कर्म खवितार्ण, सिद्धि गच्छइ नीरझो।

त्या लोगमत्थयत्थो, सिद्धो हवइ सासझो॥

—दशवैकालिक सूत्र ४.२४-२५

शुक्लध्यान के चार शालम्बन कहे गये हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. क्षान्ति—क्षमाशीलता, सहनशीलता ।
२. मुक्ति—लोभ आदि के बन्धन से उम्मुक्तता ।
३. आर्जीव—ऋगुता—सरलता, निष्कपटता ।
४. मार्दव—मूढ़ता—कोमलता, निरभिमानिता ।

शुक्लध्यान की चार अनुप्रेक्षाएं (भावनाएं) बतलाई गई हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. शिष्यानुप्रेक्षा—आत्मा द्वारा द्वात्मकता कर्त्तौं के शारण उत्पद्यमान शिष्य—अवाञ्छित, दुखद स्थितियों—अनधीं के सम्बन्ध में पुनः पुनः चिन्तन ।
२. अशुभानुप्रेक्षा—संसार के अशुभ-प्राप-पंकिल, आध्यात्मिक दृष्टि से अप्रशस्त स्वरूप का बार-बार चिन्तन ।
३. अनन्तवृत्तितानुप्रेक्षा—भवभ्रमण या संसारचक्र की अनन्तवृत्तिता अन्त काल तक चलते रहने की वृत्ति—स्वभाव पर पुनः पुनः चिन्तन ।
४. विपरिणामानुप्रेक्षा—क्षण-क्षण विपरिणत होती—विविध परिणामों में से गुजरती, परिवर्तित होती वस्तु-स्थिति पर—वस्तु-जगत् की विपरिणामधीर्मिता पर बार-बार चिन्तन ।

यह ध्यान का विवेचन है ।

व्युत्सर्ग

व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

व्युत्सर्ग के दो भेद बतलाये गये हैं—

१. द्रव्य-व्युत्सर्ग, २. भाव-व्युत्सर्ग ।

द्रव्य-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

द्रव्य-व्युत्सर्ग के चार भेद हैं । वे इस प्रकार हैं—

१. शरीर-व्युत्सर्ग—देह तथा देहिक सम्बन्धों की ममता या आसक्ति का त्याग ।
२. गण-व्युत्सर्ग—गण एवं गण के ममत्व का त्याग ।
३. उपधि-व्युत्सर्ग—उपधि का त्याग करना एवं साधन-सामग्रीगत भमता का, साधन-सामग्री को मोहक तथा आकर्षक बनाने हेतु प्रयुक्त होने वाले साधनों का त्याग ।
४. भक्त-पान-व्युत्सर्ग—आहार-पानी का, तद्गत आसक्ति या लोलुपता आदि का त्याग ।

भाव-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

भाव-व्युत्सर्ग के तीन भेद कहे गये हैं—१. कषाय-व्युत्सर्ग, २. संसार-व्युत्सर्ग, ३. कर्म-व्युत्सर्ग ।

कषाय-व्युत्सर्ग क्या है—उसके कितने भेद हैं ?

कषाय-व्युत्सर्ग के चार भेद बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. क्रोध-कषाय-व्युत्सर्ग—क्रोध का त्याग ।
 २. मान-व्युत्सर्ग—अहंकार का त्याग ।
 ३. माया-व्युत्सर्ग—छल-कपट का त्याग ।
 ४. लोभ-व्युत्सर्ग—लालच का त्याग ।
- यह कषाय-व्युत्सर्ग का विवेचन है ।

संसारव्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

संसारव्युत्सर्ग चार प्रकार का बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

१. नैरिक-संसारव्युत्सर्ग—नैरक-गति बँधने के कारणों का दृष्टिप ।
२. तिर्यक्-संसारव्युत्सर्ग—तिर्यक्च-गति बँधने के कारणों का त्याग ।
३. मनुज-संसारव्युत्सर्ग—मनुष्य-गति बँधने के कारणों का त्याग ।
४. देव-संसारव्युत्सर्ग—देव-गति बँधने के कारणों का त्याग ।

यह संसारव्युत्सर्ग का वर्णन है ।

कर्मव्युत्सर्ग क्या है—वह कितने प्रकार का है ?

कर्मव्युत्सर्ग आठ प्रकार का बतलाया गया है । वह इस प्रकार है—

१. ज्ञानावरणीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के ज्ञान गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
२. दर्शनावरणीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के दर्शन—सामान्य ज्ञान गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
३. वेदनीय-कर्म-व्युत्सर्ग—साता-असाता—सुख-दुःख रूप वेदना के हेतुभूत कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग, सुख-दुःखात्मक अनुकूल-प्रतिकूल वेदनीयता में आत्मा को तद-अभिन्न मानने का उत्सर्जन ।
४. मोहनीय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के स्वप्रतीति—स्वानुभूति-स्वभावरमणरूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
५. आयुष्य-कर्म-व्युत्सर्ग—किसी भव में—यथिय में रोक रखने वाले आयुष्य कर्म के पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
६. नाम-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के अमूर्तत्व गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
७. गोत्र-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के अगुरुलघुत्व (न भारीपत-न हलकापत) रूप गुण के आवरक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।
८. अन्तराय-कर्म-व्युत्सर्ग—आत्मा के शक्ति-रूप गुण के आवरक, अवरोधक कर्म-पुद्गलों के बँधने के कारणों का त्याग ।

यह कर्मव्युत्सर्ग है ।

इस प्रकार व्युत्सर्ग का विवेचन है ।

विवेचन—यहाँ प्रस्तुत बाह्य तथा आध्यात्म तप का विश्लेषण अध्यात्म साधना की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण है। तप ही जीवन के अन्तिम साध्य मोक्ष तक पहुँचाने का प्रमुख मार्ग है। भारत की सभी धर्म-परंपराओं में तप पर विशेष जोर दिया जाता रहा है।

भारत की अध्यात्म-साधना के विकास एवं विस्तार की ऐतिहासिक गवेषणा करने पर तप मूलक अनेक महत्वपूर्ण तथ्य प्रकाश में आते हैं। उदाहरणार्थ कभी ऐसे साधकों का एक विशेष आम्नाय इस देश में था, जो तप को ही सर्वाधिक महत्व देते थे। उनमें अवधूत साधकों की एक विशेष परंपरा थी।

वैदिक तथा पौराणिक साहित्य में अवधूत शब्द विशेष रूप से प्रयुक्त है। अवधूत का शास्त्रिक विश्लेषण करें तो इसका तात्पर्य सर्वथा कंपा देने वाला या हिला देने वाला है। अवधूत शब्द के साथ प्राचीन वाङ्मय में जो भाव जुड़ा है उसकी साध्यता यों बन सकती है—अवधूत वह है, जिसने भोग-वासना को प्रकंपित कर दिया हो, अपने तपोमय भोग-विरत जीवन द्वारा एषणार्थीं और लिप्सार्थीं को भक्तभोर दिया हो। भागवत में ऋषभ को एक महान् तपस्वी अवधूत साधक के रूप में व्याख्यात किया गया है। वहाँ लिखा है—

“भगवान् ऋषभ के सौ पुत्र थे। भरत सबमें ज्येष्ठ थे। वे परम भागवत तथा भक्तों के प्रतुरागी थे। ऋषभ ने पृथ्वी का पालन करने के लिए उन्हें राज्यारूढ़ किया। स्वर्य सब कुछ वहीं छोड़कर वे केवल देह मात्र का परिग्रह लिये घर से निकल पड़े। आकाश ही उनका परिधान था। उनके बाल बिखरे हुए थे। आहुष्टनीय—हवन योग्य अग्नि को मानो उन्होंने अपने में लीन कर लिया हो, यों वे ब्रह्मावर्त से बाहर निकल गये।

कभी शहरों में, कभी गाँवों में, कभी खदानों में, कभी कृषकों की बस्तियों में, उद्यानों में, पहाड़ी गाँवों में, सेना के शिविरों में, खालों की झोपड़ियों में, पहाड़ों में, बनों में, आश्रमों में—ऐसे ही अन्यान्य स्थानों में टिकते, विचरते। वे कभी किसी रास्ते से निकलते तो जैसे बन में घूमने वाले हाथी को मक्खियाँ तंग करती हैं, उसी प्रकार अज्ञानी, दुष्ट जन उनके पीछे हो जाते और उन्हें सताते, उन्हें धमकाते, ताड़ना देते, उन पर मूत्र कर देते, थूक देते, पत्थर मार देते, विष्ठा और धूल फेंक देते, उन पर अधोवायु छोड़ते, अपभाषण हारा उनकी अवगणना—तिरस्कार करते, पर वे उन सब बातों पर जरा भी गौर नहीं करते। क्योंकि आन्तिवश जिस शरीर को सत्य कहा जाता है, उस प्रिया देह में उनका अहंभाव या ममत्व जरा भी नहीं रह गया था। वे कार्य-कारणात्मक समस्त जगत्प्रपञ्च को साक्षी या तटस्थ के रूप में देखते, अपने पामात्म-स्वरूप में लीन रहते और अपनी चित्तवृत्ति को अखण्डत—सुस्थिर बनाये पृथ्वी पर एकाकी विचरण करते।^१

भागवत में जड भरत^२ तथा दत्तात्रेय^३ का भी अवधूत के रूप में वर्णन आया है, जहाँ उनके उग्र तपोमय जीवन को विस्तृत चर्चा है। योगिराज भरुंहरि भी अवधूत के रूप में विख्यात रहे हैं।

१. भागवत पञ्चम स्कन्ध, ५-२८-३१

२. भागवत पञ्चम स्कन्ध, ७—१०

३. भागवत एकादश स्कन्ध, अध्याय ७.

अवधूतगीता नामक एक पुस्तक भी प्राप्त है, जिसमें तपोमय अवधूत-चर्या का वर्णन है। अवधूतगीता के प्रणेता के रूप में दत्तात्रेय का नाम लिया जाता है। पर, रचनाकाल, रचनाकार आदि के सन्दर्भ में उसको प्रामाणिकता संदिग्ध है। वह एक अवचीन रचना प्रतीत होती है, जिसमें भागवत आदि के आधार पर अवधूत-चर्या का संकलन उपस्थित किया गया है।

यह तीव्रतप पूर्ण साधनाक्रम एक संप्रदाय विशेष तक सीमित नहीं रहा। योगे बहुत भेद के साथ सभी परंपराओं में स्थान पा गया। योगि प्राप्त होने से पूर्व भगवान् बुद्ध ने अति घोर तपस्या का मार्ग अपनाया था। मजिफ्मनिकाय में उन्होंने अपने प्रमुख शिष्य सारिपुत्र को संबोधित कर अपने तपश्चरण के सम्बन्ध में विस्तार से कहा है।^१

अवधूत साधक का जिस प्रकार का विवेचन भागवत में आया है, जैसा मजिफ्मनिकाय में बुद्ध के तपश्चरण का वर्णन है, उनी विद्वां वह संस्पर्श हाता हुआ वर्णन जैन आगमों में भी प्राप्त होता है। जैन आगमों में आचारांगसूत्र का सर्वाधिक महत्व है। वह ऐतिहासिक तथा भाषाशास्त्रीय दृष्टि से सबसे अधिक प्राचीन माना जाता है। आचारांग के नवम अध्ययन में भगवान् महावीर की चर्या का वर्णन है। जैसी कुच्छु साधना वे करते थे, वह वही साधक कर सकता है जो भौतिक सुख-सुविधा को मन से सर्वथा निकाल चुका हो, जिसके लिए शरीर बिल्कुल गौण हो गया हो, जो आत्मभाव में सम्पूर्णतः अपने को खोये हुए हो। भगवान् महावीर अपने साधना-मार्ग में आनेवाले भीषणतम विद्वाँ, दुःसह बाधाओं और कष्टों को भेलते हुए मस्ती से अपने गन्तव्य की ओर गतिशील रहे। मनुष्यकृत, पशुकृत, इतरजीव-जन्तु-कीटशु-कृत उपसर्ग, जिनसे आदमी थर्वा उठता है, उनके लिए कुछ भी नहीं थे। एक ऐसा नितान्त आत्मजनीन जीवन, जिसमें लोकजनीनता का भाव अत्यन्त तिरोहित था, स्वीकार किये अपनी साधना में उत्तरोत्तर प्रगति करते गये। कठोरतम ब्लेशों के प्रति उपेक्षाभाव तथा लोकसंग्रह एवं लोकानुकूल्य के प्रति संपूर्ण औदासीन्य, परकृत तिरस्कार और अवहेलना से सर्वथा अप्रभावितता ये कुछ ऐसी बातें थीं, जिनका प्रवाह अवधूत-साधना से दूरवर्ती नहीं कहा जा सकता।

आचारांग सूत्र के छठे अध्ययन का नाम 'धूताध्ययन' है। अवधूत पद में 'धूत' शब्द है ही। जैसा पहले इसका अर्थ किया गया है, अवधूत वह है, जो आत्मा के विजातीय भाव को अथवा भोग-लिप्सा, वासना, तृष्णा एवं आसक्ति को संपूर्णतः कंपा दे, हिला दे, डगमगा दे।

बोद्धचर्या में भी धूतांगों के नाम से विसुद्धिमग्न आदि में विवेचन है।

भाषावैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें तो प्रतीत होता है, इन दोनों ही परंपराओं में कभी अवधूत शब्द गृहीत रहा हो, जो आगे चलकर प्रयत्न-लाघव आदि के कारण संक्षिप्तीकरण की दृष्टि से 'अव' उपसर्ग को हटाकर केवल धूत (धूत) ही रखा लिया गया हो। अवधूत पद में मुख्य तो धूत शब्द ही है।

भाषा-विज्ञान का यह प्रयत्न-लाघव-सूलक क्रम व्याकरण में भी दृष्टिगोचर होता है। 'एकशेष' समास में, जहाँ दो शब्द मिलकर 'समस्त' पद बनाते हैं, समास के निष्पत्र होने पर एक ही शब्द अवशिष्ट रह जाता है, जो दोनों शब्दों का अभिप्राय व्यक्त करता है। उदाहरणार्थ—आता (आई) और इसा (बहिन)—इन दोनों का समास करने पर 'आतरी' मात्र रहेगा। वैसे साधारण

१. मजिफ्मनिकाय, महासीहनादसुत्तन्त १.२.३

प्रातरी 'भ्रातृ' शब्द का प्रथमा विभक्ति का द्विवचन रूप है, जिसका अर्थ 'दो भाई' होता है। पर, समास के रूप में यह भाई और बहिन का स्मोतक है। उसी प्रकार पुत्र (बेटा) और दुहिता (बेटी) का समाय करने पर समस्त पद 'पुत्री' होगा।^१ इसी प्रकार और अनेक शब्द हैं। प्रश्न उपस्थित होता है, वेणाकरणों ने वंसा क्यों किया। इस सम्बन्ध में प्रयत्न-लाघव और संक्षिप्तीकरण के रूप में ऊपर जो संकेत किया गया है, तदनुसार प्रयत्न-लाघव का यह क्रम भाषा में चिरकाल से चला-गा रहा है। प्रयत्न-लाघव को 'मुख-मुख' भी कहते हैं। हर व्यक्ति का प्रयास रहता है कि उसे किसी शब्द के बोलने में विशेष कठिनाई न हो, उसका मुँह मुखपूर्वक उसे बोल सके, बोलने में कम समय लगे। भाषाभासनी बतलाते हैं कि किसी भी जीवित भाषा में विकास या परिवर्तन का नव्वे प्रतिशत से अधिक आधार यही है।^२ परिनिष्ठित भाषाश्रों के इर्दगिर्द चलने वाली लोक-भाषाएँ अपने बहुधायामी विकास में इसी आधार को लिए अग्रसर होती हैं। जैसे संस्कृत का आलक्तक शब्द 'आलता' के रूप में संक्षिप्त और मुखसुखकर बन जाता है। अंग्रेजी आदि पाश्चात्य भाषाओं में भी यह बात रही है। उदाहरणार्थ अंग्रेजी के Knife शब्द को लें। सही रूप में यह 'कूनाइफ' उच्चारण होना चाहिए, पर यहाँ उच्चारण में K लुप्त है। यद्यपि यह एकांगी उदाहरण है, क्योंकि शब्द के अवयव में K विद्यमान है पर उच्चारण के सन्दर्भ में प्रयत्न-लाघव की बात इससे सिद्ध होती है। ऐसे संकड़ों शब्द अंग्रेजी में हैं।

आचारांग के धूताध्ययन में साधक की जिस चर्चा का वर्णन है, वह ऐसी कठोर साधना से जुड़ी है, जहाँ शारीरिक बलेश, उपद्रव, विष्ट, बाधा आदि को जरा भी विचलित हुए बिना सद्व जाने का संकेत है। यहाँ कहा गया है—

"यदि साधक को कोई मनुष्य गालो दे, अंग-भंग करे, अनुचित और गलत शब्दों द्वारा संबोधित करे, खूंठा आरोप लगाए, साधक सम्यक् चिन्तन द्वारा इन्हें सहज करे।"^३

"संयम-माध्यना के लिए उत्थित, स्थितात्मा, अनीह-घीर, सहिष्णु, परिषह—कष्ट से अप्रकम्पित रहने वाला, कर्म-समूह को प्रकम्पित करनेवाला, संयम में संलग्न रहनेवाला साधक अप्रतिबद्ध होकर विचरण करे।"^४

इस प्रकार साधक की दुःसह अति कठोर एवं उद्दीप्त साधना का यहाँ विस्तृत वर्णन है।

१. भ्रातृपुत्री स्वसृदुहितृभ्याम् ।

भ्राता च स्वसा च भ्रातरी ।

पुत्रस्च दुहिता च पुत्री ।

—वेणाकरणसिद्धान्तकीमुद्दी १.२.६८, पृष्ठ १४

२. भाषाविज्ञान—पृष्ठ ५२, ३७९

३. से अकुट्ठे व हए व लूसिए वा ।

पलियं पग्थे अदुवा पग्थे ।

ग्रतहेहि सह-फासेहि, इति संखाए ।

—आयारो १.६.२. ४१, ४३

४. एवं से उटिठाए ठियप्पा, अणिहे अचले चले,

अबहिलेस्से परिव्वए ।

—आयारो १.६.५. १०६

अनगारों द्वारा उत्कृष्ट धर्माधाना

३१—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवद्गो महाबीरहस्य बहुवे अणगारा भगवंतो अप्पेगद्या जायारधरा, जाव (सूबगडधरा, ठाणधरा, समकायधरा, वियाहृपणत्तिधरा, नायधम्मकहाधरा, उवासगदसाधरा, अंतगडवसाधरा, अनुसासेव्हाइयहमायरा, पञ्चारामाधरा,) विवाहसुयधरा, तत्थ तत्थ तर्हि तहि देसे देसे गच्छागच्छि गुम्मागुम्मि फङ्डाफङ्डि अप्पेगद्या वायंति, अप्पेगद्या पङ्डिपुच्छंति, अप्पेगद्या परियद्टंति, अप्पेगद्या अणुप्पेहंति, अप्पेगद्या अवलेवणीओ, विष्वेवणीओ, संवेयणीओ, णिवेयणीओ बहुविहाओ कहूति, अप्पेगद्या उद्दंजाणू, अहोसिरा, शाणकेद्वौ-वगया संजमेण तवसा भावेमाणा विहरंति ।

३२—उस काल, उस समय—जब भगवान् महाबीर चम्पा में पधारे, उनके साथ उनके अनेक अन्तेवासी अनगार—श्रमण थे । उनके कई एक आचार (सूत्रकृत, स्थान, समवाय, व्याख्याप्रशप्ति, जातुर्धर्मकथा, उपासकदशा, अन्तकृदशा, अनुत्तरौपपातिकदशा, प्रश्नव्याकरण) तथा विषाकथुत के द्वारक थे । वे वहीं—उसी उद्यान में भिन्न-भिन्न स्थानों पर एक-एक समूह के रूप में, समूह के एक-एक भाग के रूप में तथा फुटकर रूप में विभक्त होकर अवस्थित थे । उनमें कई आगमों की बाबना देते थे—आगम पढ़ाते थे । कई प्रतिपृच्छा करते थे—प्रश्नोत्तर द्वारा शंका-समाधान करते थे । कई अधीत पाठ की परिवर्तना—पुनरावृत्ति करते थे । कई अनुप्रेक्षा—चिन्तन-मनन करते थे ।

उनमें कई आक्षेपणी—मोहमाया से दूर कर समत्व की ओर आकृष्ट तथा उन्मुख करने वाली, विक्षेपणी-कुत्सित मार्ग से विमुख करने वाली, सवेगनी—भोक्षमुख की अभिलाषा उत्पन्न करने वाली तथा निर्वेदनी—संसार से निर्वेद, वैराग्य, औदासीन्य उत्पन्न करने वाली—यों अनेक प्रकार की धर्मकथाएँ कहते थे ।

उनमें कई अपने दोनों घुटनों को ऊँचा उठाये, मस्तक को नीचा किये—यों एक विशेष आसन में अवस्थित हो ध्यानरूप कोष्ठ में—कोठे में प्रविष्ट थे। ध्यान-रत थे ।

इस प्रकार वे अनगार संयम तथा तप से आत्मा को भावित—अनुप्राणित करते हुए अपनी जीवन-यात्रा चला रहे थे ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र से यह स्पष्ट है कि भगवान् महाबीर के समय में श्रमणों में आगमों के सतत् विद्यवत् अध्ययन तथा ध्यानाभ्यास का विशेष प्रचलन था । जैसा यहाँ वर्णित हुआ है, भगवान् महाबीर के अन्तेवासी श्रमण आवश्यकता एवं उपयोगिता के अनुसार बड़े-बड़े या छोटे-छोटे समूहों में अलग-अलग बैठ जाते थे, इकके दुकके भी बैठ जाते थे और आगमों के अध्ययन, विवेचन, तत्सम्बन्धी चर्चा, विज्ञार-विमर्श आदि में अत्यन्त तन्मय भाव से अपने को लगाये रखते थे । पठन-पाठन चिन्तन-मनन की बड़ी स्वस्थ परम्परा वह थी ।

जिन्हें ध्यान या योग-साधना में विशेष रस होता था, वे अपनी भावना, अभ्यास तथा धारणा के अनुरूप विभिन्न देहिक स्थितियों में अवस्थित हो उधर संलग्न रहते थे ।

३२—संसारभृत्यिगा, भीया, जमण-जर-भरण-करणगम्भीरदुक्खपक्खुदिमयपउरसलिलं, संयोग-विश्रोग-बोचिचितापसंगपसरिय-वह-बेध- भहत्त्वित्तसकल्लोल- कलुणविलविय- लोभकलकलंत- चोलवहुलं, अवमाणणफण-तिथ्य-खसण-पुलेपुलप्पमूय-रोग-वेयणपरिभव-विणिवाय-फलसधरिसणा- समावलियकहिणकमपत्थर-तरंगरंगंत-निच्चमच्चुभय-तोयपट्ठं, कसाय-पायालसंकुलं, भवसयसहस्स- कलुसजल-संचयं, पहभयं, अपरिमियमहिच्छ-कलुसमइ-वाउवेगउद्धुममाण-दगरथरयंधशार-बरफेण- पउर-आसापिकासधवलं, मोहमहावत्त-भोग-भममाण-गुप्पमाण-च्छलंत-पच्चोणियत्त-पाणिय-पभाय- चंडबहुदुट्ट-सावयसमाहपुद्धायमाण-पवभार-घोरकंदिय-महारवरवंतभेरवरवं, अणाणभमेतमच्छुपरिहृथ- अणिहुयिदियमहामगर-तुरियचरियखोखुदभमाण-नच्छंत-चवलच्चवसधलंत-धुमंतजलसमूहं, अरइ-भय- विसाय-सोग-मिच्छत-सेलसंकडं, अणाइसंताणकम्मर्वधण-किलेस-चिकिल्लसुदुत्तारं, अमर-णर-तिरिय- गरय-गहगमण-कुडिलपरियत्तविडलवेलं, अउरंतं, महंतमणवयमं, रहं संसारसागरं भीमं, दरिसणिजजं तरंति धिइधणियनिष्पकंपणे तुरियचवलं संवर-वेरग-तुंगकूवयसुसंपउत्तेण, णाम-सिय-विमलमसिएणं समस्त-विसुद्ध-णिज्जामएणं धीरा संजम-पोएण सीलकलिया पसत्थज्ञाण-तववाय-पणोलिलय- पहाविएणं उज्जम-ववसाय-गहियणिज्जरण-जयणउवग्रोग-णाण-दंसण- [चरित] विसुद्धवय [वर] भंडभरियसारा, जिणवरवयणोददिद्वमग्येण अकुडिलेण सिद्धिमहापट्टणामिमुहा समणवरसत्थवाहा सुसुइ-सुसंभास-सुपण्ह-सासा गामे गामे एगरायं, णगरे णगरे पंचरायं दृष्टज्ञांता, जिहंदिया, णिभमया, गयभया सचित्ताचित्तमीसिएसु दव्वेसु विरामयं गया, संजया [विरता], मुत्ता, लहुया, णिरवकंखा साहू णिहुया चरंति धम्मं ।

३२—वे (अनगार) संसार के भय से उद्धिग्न एवं चिन्तित थे—आवागमन रूप ज्ञानंतिमय चक्र को कैसे पार कर पाएँ—इस चिन्ता में व्यस्त थे ।

यह संसार एक समुद्र है । जन्म, वृद्धावस्था तथा मृत्यु द्वारा जनित घोर दुःख रूप प्रक्षुभित— छलछलाते प्रचुर जल से यह भरा है । उस जल में संयोग-वियोग—मिलन तथा विरह के रूप में लहरें उत्पन्न हो रही हैं । चिन्तापूर्ण प्रसंगों से वे लहरें दूर-दूर तक फैलती जा रही हैं । वध तथा बन्धन रूप विशाल, विपुल कल्लोलं उठ रही हैं, जो करुण विलपित—शोकपूर्ण विलाप तथा लोभ की कलकल करती तीव्र छवनि से युक्त हैं । तोयपृष्ठ—जल का ऊपरी भाग अवमानना—अवहेलना या तिरस्कार रूप झागों से ढँका है । तीव्र निन्दा, निरन्तर अनुभूत रोग-वेदना, औरों से प्राप्त होता अपमान, विनिपात—नाश, कटु वचन द्वारा निर्भर्त्सना, तत्प्रतिबद्ध ज्ञानावरणीय आदि कर्मों के कठोर उदय की टक्कर से उठती हुई तरंगों से वह परिव्याप्त है । वह (तोयपृष्ठ) नित्य मृत्यु भय रूप है ।

यह संसार रूप समुद्र कषाय—शोध, मान, माया, लोभ रूप पाताल—तलभूमि से परिव्याप्त है । इस (समुद्र) में लाखों जन्मों में अजित पापमय जल संचित है । अपरिमित—असीम इच्छाओं से म्लान बनी बुद्धि रूपी वायु के वेग से ऊपर उछलते सघन जल-कणों के कारण अंधकारयुक्त तथा आशा—अप्राप्त पदार्थों के प्राप्त होने की समझाना, पिपासा—अप्राप्त पदार्थों को प्राप्त करने की इच्छा द्वारा उजले झागों की तरह वह धवल है ।

संसार-सागर में मोह के रूप में बड़े-बड़े आवर्त—जलमय विशाल चक्र हैं । उनमें भोग रूप भंवर—जल के छोटे गोलाकार घुमाव हैं । अत एव दुःख रूप जल भ्रमण करता हुआ—चक्र काटता हुआ, चपल होता हुआ, ऊपर उछलता हुआ, नीचे गिरता हुआ विद्यमान है । अपने में स्थित प्रमाद-

रूप प्रचण्ड—भयानिक, अत्यन्त दुष्ट—हिसक जल-जीवों से आहृत होकर ऊपर उछलते हुए, नीचे गिरते हुए, बुरी तरह चीखते-चिल्लाते हुए क्षुद्र जीव-समूहों से यह (समुद्र) व्याप्त है। वही मानो उसका भयावह घोष या गर्जन है।

अज्ञान ही भव-सागर में धूमते हुए मत्स्यों के रूप में है। अनुपशान्त इन्द्रिय-समूह उसमें बड़े-बड़े भगरमच्छ हैं, जिनके त्वरापूर्वक चलते रहने से जल, क्षुब्ध हो रहा है—उछल रहा है, नृत्य साकर रहा है, चपलता-चंचलतापूर्वक चल रहा है, धूम रहा है।

यह संसार रूप संग्रह अरति—रात्रि में अभिरुचि के अभाव, भव, विषाद, शोक तथा मिथ्यात्म रूप पर्वतों से संकुल—व्याप्त है। यह अनादि काल से चले आ रहे कर्म-वंधन, तत्प्रसूत क्लेश रूप कर्दम के कारण अत्यन्त दुस्तर—दुर्लभ्य है। यह देव-गति, मनुष्य-गति, तिर्यक्-गति तथा नरक-गति में गमनरूप कुटिल परिवर्त—जलध्रमियुक्त है, विपुल ज्वार सहित है। चार गतियों के रूप में इसके चार अन्त—किनारे, दिशाएँ हैं। यह विशाल, अनन्त—आगाध, रोद्र तथा भयानक दिखाई देने वाला है। इस संसार-सागर को वे शीलसम्पन्न अनगार संयमरूप जहाज द्वारा शीघ्रतापूर्वक पार कर रहे थे।

वह (संयम-पोत) धृति—क्षीर्य, सहिणुता रूप रज्जू से बैधा होने के कारण निष्प्रकम्प—सुस्थिर था। संवर-आश्रव-निरोध—हिसा आदि से विरति तथा बैराग्य—संसार से विरक्ति रूप उच्च कृपक—ऊँचे मस्तूल से संयुक्त था। उस जहाज में ज्ञान रूप श्वेत—निर्मल वस्त्र का ऊँचा पाल तना हुआ था। विशुद्ध सम्यकत्व रूप कर्णधार उसे प्राप्त था। वह प्रशस्त ध्यान तथा तप रूप वायु से हुआ था। विशुद्ध सम्यकत्व रूप कर्णधार उसे प्राप्त था। शीघ्र गति से चल रहा था। उसमें उद्यम—अनालस्य, व्यवसाय—सुप्रयत्न तथा परखपूर्वक गृहीत निर्जन, यतना, उपयोग, ज्ञान, दर्शन (चारित्र) तथा विशुद्ध व्रत रूप श्रेष्ठ माल भरा था। बीतराग प्रभु के वचनों द्वारा उपदिष्ट शुद्ध मार्ग से वे श्रमण रूप उत्तम सार्थवाह—दूर-दूर तक व्यवसाय करने वाले बड़े व्यापारी, सिद्धिरूप महापट्टन—बड़े बन्दरगाह की प्रोर बड़े जा रहे थे। वे सम्यक् श्रुत—सत्सिद्धान्त-प्ररूपक आगम-ज्ञान, उत्तम संभाषण, प्रश्न तथा उत्तम आकांक्षा—सद्भावना समायुक्त थे अथवा वे सम्यक् श्रुत, उत्तम भाषण तथा प्रश्न-प्रतिप्रश्न आदि द्वारा उत्तम शिक्षा प्रदान करते थे।

वे अनगार ग्रामों में एक-एक रात तथा नगरों में पाँच-पाँच रात प्रवास करते हुए जितेन्द्रिय—इन्द्रियों को वश में किये हुए, निर्भय मोहनीय आदि भयोत्पादक कर्मों का उदय रोकने वाले, गतभय—भय से अतीत—वैसे भय को निष्फल बनाने वाले, सचित्त—जीवसहित, अचित्त—जीवरहित, मिथित—रचित्त—अचित्त मिले हुए द्रव्यों में वैराग्ययुक्त—उनसे विरक्त रहने वाले, संयत—संयमयुक्त, विरत—हिसा आदि से निवृत्त या तप में विशेष रूप से रत—अनुरागशील (लगे हुए), या जगत् में श्रीत्सुव्यरहित अथवा रजस् या पापरहित, मुक्त—आसक्ति से छूटे हुए, लघुक—हलके अथवा त्यूनतम उपकरण रखने वाले, निरवकांक्षा—आकांक्षा—इच्छा रहित, साधु—मुक्ति के साधक एवं निभृत—प्रशान्त वृत्तियुक्त होकर धर्म की आराधना करते थे।

भगवान् की सेवा में असुरकुमार देवों का आगमन

३३—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवत्त्रो महावीरस्स वहै असुरकुमारा देवा अंतिम पात्रभवित्वा, काल-महाणील-सरिस-णीलगुलिय-गवल-ग्रयसि-कुसुमध्यगासा, विश्वसियसध्वत्तमिव

पत्तसनिम्बला, ईसीसिय-रत्त-तंबणयणा, गरुलायय-उज्जु-तु-ग-णासा, ओयवियसिलष्पवाल-बिबफल-सण्णिभाहूरोद्वा, पंडुरससिसयल-विमल-णिम्मलसंख-गोखीरफेण-दगरय-मुणालिया-धवलकंलसेडी, हुयथह-णिङ्ग-त-धोय-तत्त-तवणिज्ज-रत्ततलतालुजीहा, अंजण-धण-कसिण-रुयग-रमणिङ्ग-णिङ्ग-केसर, बामेगकु-डलधरा, अद्वचंदणाणुलित्तगत्ता, ईसीसिलिधपुण्कप्पगा। साइं असंकिलिङ्गाइं सुहुमाइं यत्थाइं पवरपरिहिया, वयं च पढ़मं सभद्वक्षांता, बिइयं च असंपत्ता, भद्रे जोश्वणे वट्टमाणा, तलभंगय-तुडिय-पवरभूसण-निम्मलभणिरयण-मंडियभुया, दसमुद्वासंडियगहत्ता, चुलामणिच्छिगया, सुरुवा, महिङ्गिया, भहज्जुहया, महज्जला, महायसा, महासोक्खा, महाणभागा, हारविराइयवच्छा, कडगतुडियथंभियभुया, अंगय-कु-डल-मटुगंडतला, कणणपीढधारी, विचितहृत्थाभरणा, विचितमालाभउलिउडा, कल्लाण-गप्परयस्थपरिहिया, कल्लाणप्परभरभलभाणुलेवणा, भासुरबोंबी, पलंबवणमालधरा, दिव्वेण वणेण, दिव्वेण गंधेण, विव्वेण रुवेण, एवं—फासेण, संघाएण, संठाणेण, दिव्वाए इङ्गोए, जुईए, पमाए, छायाए, अच्छोए, दिव्वेण तेएण विव्वाए लेसाए दस दिसाओ उज्जोवेमाणा, पमासेमाणा समणस्स भगवव्वे भहावीरस्स अंतियं श्रागम्मागम्म रत्ता, समणं भगवं महावीरं तिव्वत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेता वंवंति, णमंसंति, (वंदित्ता) णमंसित्ता [साइं साइं णामगोयाइं सावेन्ति] णञ्चासणे, णाहवुरे सुस्त्वसमाणा, णमंसमाणा, अभिमुहा, विषएण पंजलिउडा पउजुवासंति ॥

३३—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महावीर के पास अनेक असुरकुमार देव प्रादुर्भूत-प्रकट हुए। काले महानीलमणि, नीलमणि, नील की गुटका, भैसे के सींग तथा अलसी के पुष्प जैसा उनका काला वर्ण तथा दीप्ति थी। उनके नेत्र खिले हुए कमल सदृश थे। नेत्रों की भींहें (सूक्ष्म रोममय तथा) निर्मल थीं। उनके नेत्रों का वर्ण कुछ-कुछ सफेद, लाल तथा ताम्र जैसा था। उनकी नासिकाएँ गरुड के सदृश, लम्बी, सीधी तथा उच्चत थीं। उनके होठ परिपुष्ट मूँगे एवं दिम्ब फल के समान लाल थे। उनकी दल्तपंक्तियाँ स्वच्छ—निर्मल—कलंक शून्य चन्द्रमा के टुकड़ों जैसी उज्ज्वल तथा शोख, गाय के दूध के भाग, जलकण एवं कमलनाल के सदृश ध्वल—श्वेत थीं। उनकी हथेलियाँ, पैरों के तस्वीरे, तालु तथा जिह्वा-अग्नि में गर्म किये हुए, धोये हुए पुनः तपाये हुए, शोधित किये हुए निर्मल स्वर्ण के समान लालिमा लिये हुए थे। उनके केश काजल तथा मेघ के सदृश काले तथा रुचक मणि के समान रमणीय और स्निग्ध—चिकने, मुलायम थे। उनके बायें कानों में एक-एक कुण्डल था। (दाहिने कानों में अन्य आभरण थे) उनके शरीर आद्र—गील—घिसकर पीठी बनाये हुए चन्दन से लिप्त थे। उन्होंने सिलीध-पुष्ण जैसे कुछ-कुछ श्वेत या लालिमा लिये हुए श्वेत, सूक्ष्म—महीन, असंकिलष्ट—निर्दोष या ढीले वस्त्र सुन्दर रूप में पहन रखे थे। वे प्रथम वय—बाल्यावस्था को पार कर चुके थे, मध्यम वय—परिपक्व शुवावस्था नहीं प्राप्त किये हुए थे, भद्र यौवन—भोली जवानी—किशोरावस्था में विद्यमान थे। उनकी भुजाएँ तलभंगकों—बाहुओं के आभरणों, शुटिकाओं—बाहुरक्षिकाओं या तोड़ों, अन्यान्य उत्तम आभूषणों तथा निर्मल—उज्ज्वल रत्नों, मणियों से सुशोभित थीं। उनके हाथों की दशों अंगुलियाँ अंगूठियों से मंडित—अलंकृत थीं। उनके मुकुटों पर चूडामणि के रूप में विशेष चिह्न थे। वे सुरूप—सुन्दर रूपयुक्त, परम ऋद्धिशाली, परम द्युतिमान्, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुखी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। उनके वक्षः-स्थलों पर हार सुशोभित हो रहे थे। वे अपनी भुजाओं पर कंकण तथा भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखनेवाली आभरणात्मक पट्टियाँ एवं अंगद—भुजवंध धारण किये हुए थे। उनके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मण्डित—चित्रित कणोलों पर कु-डल व अन्य कर्णभूषण शोभित थे। वे विचिन्न—

विशिष्ट या अनेकविधि हस्ताभरण—हाथों के आधूषण धारण किये हुए थे। उनके मस्तकों पर तरह-तरह की मालाओं से युक्त मुकुट थे। वे कल्याणकृत्—मांगलिक, अनुपहत् या प्रखंडित, प्रवर—उत्तम पोशाक पहने हुए थे। वे मंगलमय, उत्तम मालाओं एवं अनुलेपन—चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त थे। उनके शरीर देदीप्यमान थे। वनमालाएँ—सभी अहतुओं में विकसित होने वाले फूलों से बनी मालाएँ^१ उनके गलों से घुटनों तक लटकती थीं। उन्होंने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, संघात—देहिक गठन, संस्थान—देहिक अवस्थिति, अहंडि—विमान, वस्त्र, आधूषण आदि देविक समृद्धि, द्युति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति, अचि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्मपरिणति—तदनुरूप प्रभामंडल से दशों दिशाओं को उद्योतित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महावीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक—भक्तिसहित तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, बन्दन-नमस्कार किया। वैसा कर (अपने-अपने नामों तथा गोओं का उच्चारण करते हुए) वे भगवान् महावीर के न अधिक समीप, न अधिक दूर शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़े हुए उनकी पर्युपासना—अस्थर्थना करने लगे।

विवेचन—प्रस्तुत प्रसंग में असुरकुमार देवों की अन्यान्य विशेषताओं के साथ-साथ उनके वस्त्रों की भी चर्चा आई है। उनके वस्त्र शिलीन्धि पुष्प जैसे वर्ण तथा द्युति युक्त कहे गये हैं। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने वहाँ 'ईषत् सितानि' 'कुछु-कुछु सफेद' अर्थ किया है। उन्होंने मतान्तर के रूप में एक वाक्य भी उद्धृत किया है, जिसके अनुसार असुरकुमारों के वस्त्र लाल होते हैं।^२ परम्परा से असुरकुमारों के वस्त्र लाल माने जाते हैं। अतः शिलीन्धि पुष्प की उपमा वहाँ घटित नहीं होती, क्योंकि वे सफेद होते हैं।

कुछ विद्वानों ने 'कुछु-कुछु सफेद' के स्थान पर 'कुछु-कुछु लाल' अर्थ भी किया है। पर शिलीन्धि-पुष्पों के साथ उसकी संगति कैसे हो?

मूलतः तह पञ्चवणा का प्रसंग है, जहाँ विभिन्न गतियों के जीवों के स्थान, स्वरूप, स्थिति आदि का वर्णन है।^३

एक ममाधान यों भी हो सकता है, ऐसे शिलीन्धि-पुष्पों की ओर सूत्रकार का सकेत रहा हो, जो सर्वथा सफेद न होकर कुछु-कुछु लालिमायुक्त सफेद हों।

असुरकुमारों के मुकुट-स्थित चिह्न के वर्णन में यहाँ चूडामणि का उल्लेख है। इसका स्पष्टी-करण यों है—विभिन्न जाति के देवों के अपने-अपने चिह्न होते हैं, जो उनके मुकुटों पर लगे रहते हैं। वृत्तिकार ने चिह्नों के सम्बन्ध में निम्नांकित गाथा उद्धृत की है^४—

१. आजानुलम्बिनी माला, सर्वतु कुसुमोज्ज्वला।
मध्यस्थूलकद्वाढशा, वनमालेति कीर्तिता।
२. असुरेसु होति रत्नं ति मतान्तरम्।
३. पञ्चवणा, पद २
४. भौपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ४९

—रघुवंशमहाकाव्य ९, ५१

—भौपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ४९

“चूडामणि-फणि-बज्जे गरुडे घड-अस्स-बद्धमाणे य ।
मयरे सीहे हत्यी असुराईण मुणसु चिधे ॥”
(चूडामणि: फणि बज्जे गरुडः घटोऽश्वो लद्ध मानश्च ।
मकरः सिहो हस्ती असुरादीनां मुण चिह्नानि ॥)

पञ्चवणा में भी यह प्रसंग चर्चित हुआ है। तदनुसार असुरकुमार का चिल्ह चूडामणि, नागकुमार का नाग-फण, सुवर्णकुमार का गरुड़, विद्युत्कुमार का बज्जे, अग्निकुमार का पूर्ण कलश, द्वीपकुमार का सिह, उदधिकुमार का अश्व, दिशाकुमार का हाथी, पवनकुमार का मगर तथा स्तनितकुमार का वर्द्धमानक है।^१

शेष भवनवासी देवों का आगमन

३४—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महावीरस्स नहवे असुरिरद्वज्जिया भवनवासी देवा अंतियं पाउभवित्था—णागपहणो, सुवर्णा, विज्जू, अग्नी य दीव-उदही, दिशाकुमारः य पदण्यथिण्या य भवनवासी, णागफडा-गरुल-बद्ध-पुण्णकलस-सीह-हय-गय-मगर-मउड-बद्धमाण-णज्जुत चिधगया, सुरुवा, महिडिद्या जाव (महज्जुद्या, महब्बला, महायसा, महासोवत्ता, महाणुभगा, हरविराइयवच्छा, कडगतुडियथंभियभुवा, अंगय-कुण्डलमटुगंडतसा, कण्णपीठधारी, विचित्तहत्था-भरणा, विचित्तमालामउलिमउडा, कहलाणग-पवर-वथपरिहिया, कल्लाणग-पवर-मल्लाणुलेवणा, मासुरबोवी, पलंबवणमालधरा, दिव्वेण वृणेण, दिव्वेण गंधेण, दिव्वेण रुद्देण, एवं—फासेण, संघाएण संठाणेण, दिव्वाए इड्ढीए, जुईए, पभाए, छायाए, अच्चीए, दिव्वेण तेएण, विव्वाए लेसाए दस दिसो उज्जोवेमाणा, पभासेमाणा समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतियं आगम्माम्मग रत्ता, समणं भगवं महावीरं तिवखुत्तो आयाहिणपयाहिणं करेति, करेत्ता बंदति, णमंसंति, [बंदित्ता] णमंसित्ता [साइं साइं णामगोयाइं सावेति] णच्चासणे णाइवूरे सूस्सूसमाणा, णमंसमाणा, अभिनुहा विणएण पंजलिडा) पञ्जुक्वासंति ।

३४—उस काल, उस समय अमण भगवान् महावीर के पास असुरेन्द्रवर्जित—असुरकुमारों को छोड़कर नागकुमार, सुपर्णकुमार, विद्युत्कुमार, द्वीपकुमार, उदधिकुमार, दिशाकुमार, पवनकुमार तथा स्तनितकुमार जाति के भवनवासी—पाताललोक-स्थित अपने आवासों में निवास करने वाले देव प्रकट हुए। उनके मुकुट ऋमशः नागफण, गरुड़, बज्जे, पूर्ण कलश, सिह, अश्व, हाथी, मगर तथा वर्द्धमानक-शराव-सिकोरा अथवा स्कन्धारोपित—कन्धे पर चढ़ाया हुआ पुरुष थे। (वे मुहूर-सुन्दर रूप युक्त, परम ऋद्धिशाली, परम वृत्तिमान्, अत्यन्त बलशाली, परम यशस्वी, परम सुदी तथा अत्यन्त सौभाग्यशाली थे। उनके बक्षःस्थलों पर हार सुशोभित हो रहे थे। वे अपनी भुजाओं पर कंकण तथा भुजाओं को सुस्थिर बनाये रखने वाली पट्टियाँ एवं अंगद—भुजबन्ध धारण किये हुए थे। उनके मृष्ट—केसर, कस्तूरी आदि से मणिष्ठ-चित्रित कपोलों पर कुंडल व अन्य कण्ठभूषण शोभित थे। वे विचित्र-विशिष्ट या अनेकविद्य हस्ताभरण—हाथों के आभूषण धारण किये हुए थे। उनके मस्तकों पर तरह तरह की मालाओं से युक्त भुकूट थे। वे कल्याणकृत—मांगलिक, अनुपहत या अखण्डित, प्रवर-उत्तम पोशाक पहने हुए थे। वे मंगलमय, उत्तम मालाओं एवं

१. पञ्चवणा पद २, २

अनुलेपन— चन्दन, केसर आदि के विलेपन से युक्त थे। उनके शरीर देवीप्रभान थे। बनमालाएँ—सभी अट्ठुओं में विकसित होने वाले फूलों से बनी मालाएँ, उनके गलों से घुटनों तक लटकती थीं। उन्होंने दिव्य—देवोचित वर्ण, गन्ध, रूप, स्पर्श, संधात—देहिक गठन, संस्थान—देहिक आकृति, क्रहिं—विमान, वस्त्र, आभूषण आदि देविक समृद्धि, चुति—आभा अथवा युक्ति—इष्ट परिवारादि योग, प्रभा, कान्ति अर्चि—दीप्ति, तेज, लेश्या—आत्मपरिणति—तदनुरूप भाषण्डल से दशों दिशाओं को उद्योगित—प्रकाशयुक्त, प्रभासित—प्रभा या शोभायुक्त करते हुए श्रमण भगवान् महाबीर के समीप आ-आकर अनुरागपूर्वक—भक्ति सहित तीन-तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की, वन्दन-नमस्कार किया। वैसा कर अपने-अपने नामों में गोत्रों का उच्चारण करते हुए] वे भगवान् महाबीर के न श्रद्धिक समीप, न अधिक दूर, शुश्रूषा—सुनने की इच्छा रखते हुए, प्रणाम करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़ते हुए) उनकी पयुँपासना करने लगे।

विवेचन— भवनपति देवों के अन्तर्गत स्तनितकुमार देवों के मुकुटस्थ चिह्न के लिए प्रस्तुत सूत्र में वर्णन—वर्द्धमान या वर्द्धमानक शब्द का अर्थ है। वर्द्धमान (वर्द्धमान) शब्द के अनेक अर्थ हैं। शब्द कोशों में इसके शाराव—तपतरी, पात्र-विशेष, कर-संपुट, स्कन्धारोपित पुरुष, स्वस्तिक आदि अनेक अर्थों का उल्लेख हुआ है।^१

आगम-साहित्य में भगवान् महाबीर के लिए स्थान-स्थान पर यह शब्द प्रयुक्त है ही। पउम-चरियं में राज श्री रामचन्द्र के प्रेक्षागृह के लिए इस शब्द का प्रयोग हुआ है।^२ प्रबन्धनसारोदार में एक शाश्वती जिन-प्रतिमा के लिए यह शब्द आया है।^३

प्रस्तुत सूत्र में आये इस शब्द के भिन्न-भिन्न व्याख्याकारों ने भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। आचार्य अभयदेवसूरि ने (११वीं ई. शती) इस शब्द का शाराव अथवा पुरुषारूढ़ पुरुष अर्थ किया है।^४ अन्य व्याख्याकारों ने शाराव, संपुट, स्वस्तिक आदि भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं।^५

आचार्य अभयदेवसूरि ने शाराव के साथ साथ पुरुषारूढ़ पुरुष—स्कन्धारोपित पुरुष—ऐसा जो अर्थ किया है, उससे प्रतीत होता है कि इस शब्द का लोक-प्रचलित अर्थ तो सामान्यतया शाराव

१. (क) संस्कृत-हिन्दीकोशः बामन शिवराम आप्टे—पृष्ठ ९०३

(ख) Sanskrit-English Dictionary :

Sir Monier Monier-Williams-Page 126

(ग) पाइज-सह-महण्डो पृष्ठ ७४५

२. पउमचरियं ८०.५

३. प्रबन्धनसारोदार ५९

४. ओपपातिकसूत्र चुति पत्र १५१

५. (क) उच्चार्य चुति पृष्ठ १६७

(ख) पञ्चवणा सूत्र पद २. २, पृष्ठ १५०

(ग) उच्चार्य सूत्र पृष्ठ ८१

(घ) ओपपातिकसूत्रम् पृष्ठ ३३३

या पर आगम-साहित्य में यह 'स्कन्धारोपित पुरुष' के अर्थ में ही व्यवहृत था। पाइथ-सह-महण्डो में जहाँ इसके 'स्कन्धारोपित पुरुष' अर्थ का उल्लेख हुआ है, वहाँ प्रस्तुत सूत्र (ओपपातिक) की ही साथ दी गई है।

यों अर्थ सम्बन्धी ऐतिहासिक प्राचीनता की दृष्टि से 'बद्धमानक' का अर्थ 'स्कन्धारोपित पुरुष' ही संगत प्रतीत होता है।

व्यन्तर देवों का आगमन

३४—तेण कालेण तेण समर्णेण समणस्स भगवान् भावीरस्स बहुवे वानमंतरा देवा अंतिमं पात्रब्धवित्था—पिसायभूया य जवखरवखसा, किनरकिपुरिसभुयगपहनो य महाकाया, गंधविणिकायगणा णिउणगंधवद्वगीयरइणो, अणविणय-पणविणय-हसिवादिय-भूयवादिय-कंदिय-महाकंदिया य कुहंड-पयए य देवा, चंचलचबलचित्त-कीलण-वद्यपिया, गंभीरहसिय-भणिय-पीय-गीय-णच्चणरई, वणमाला मेल-भउड-कुँडल-सच्छंवविउवियाहरणचाहविभूसणधरा सव्वोउय-सुरभि-कुसुस-सूरइयपलंब-सोभंत-कंत-वियसंत-चित्त-वणमालरहनायथा, लोगामः, एाहाद्यार्थि, गावायिष्व-वण्णराग-वरवत्थ-चित्त-चिलयणियंसणा, विविहुदेसीणेवच्छगहियवेसा, पमुहयकंदप्पकलहुकेलोकोलाहलपिया, हासबोलखहुला, अणेगमणि-रथण-विविहणिजुत्तविचित्तचिदगथा, सुरुवा, महिद्वया जाव^१ पज्जुवास्तति।

३५—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् भावीर के समीप पिशाच, भूत, यक्ष, राक्षस, किनर, किपुरुष, महाकाय भूजगपति, गन्धर्व—नाटचोपेत गान, गीत-नाटघवजित गेय—विशुद्ध संगीत में श्रनुरक्त गन्धर्वं गण, श्रणपञ्चिक, पणपञ्चिक, ऋषिवादिक, भूतवादिक, कन्दित, महाकन्दित, कूष्मांड, प्रयत या पतग—ये व्यन्तर जाति के देव प्रकट हुए।

वे देव अत्यन्त चपल चित्तयुक्त, क्रीडाप्रिय तथा परिहासप्रिय थे। उन्हें गम्भीरहास्य—शद्गहास तथा वैसी ही वाणी प्रिय थी। वे वैक्रियलब्धि द्वारा अपनी इच्छानुसार विरचित वनमाला, फूलों का सेहरा या कलंगी, भुकुट, कुण्डल आदि आभूषणों द्वारा सुन्दर-रूप में सजे हुए थे। सब ऋतुओं में खिलने वाले, सुगन्धित पुष्पों से सुरचित, लम्बी—धूटनों तक लटकती हुई, शोभित होती हुई, सुन्दर, विकसित वनमालाश्चों द्वारा उनके वक्षःस्थल वडे आह्लादकारी—मनोज या सुन्दर प्रतीत होते थे। वे कामगम—इच्छानुसार जहाँ कहीं जाने का सामर्थ्य रखते थे, कामरूपधारी—इच्छानुसार (यथेच्छ) रूप धारण करने वाले थे। वे भिन्न-भिन्न रंग के उत्तम, चित्र-विचित्र—तरह तरह के चमकीले-भड़कीले वस्त्र पहने हुए थे। अनेक देशों की वेशभूषा के अनुरूप उन्होंने भिन्न-भिन्न प्रकार की पोशाकें धारण कर रखी थीं। वे प्रमोदपूर्ण काम-कलह, क्रीडा तथा तजजनित कोलाहल में प्रीति मानते थे—आनन्द लेते थे। वे बहुत हँसने वाले तथा बहुत बोलने वाले थे। वे अनेक मणियों एवं रत्नों से विविध रूप में निर्मित चित्र-विचित्र चिह्न धारण किये हुए थे। वे सुरूप—सुन्दर रूप युक्त तथा परम ऋद्धि सम्पन्न थे। पूर्वं समागत देवों की तरह यथाविधि वन्दन-नमन कर श्रमण भगवान् भावीर को पर्युपासना करने लगे।

ज्योतिष्क देवों का आगमन

३६—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महाबीरस्स जोइसिया देवा अंतियं पाउभ-
वित्था- विहसति-चंद-सूर-सुषक-सणिच्छरा, राहू, धूमकेतु । बुहा य अंगारका य तत्ततवणिजजकण-
गक्षणा, जे य यहा जोइसंमि आरं चरति, केऊ य गहरहया अदुबीसतिविहा य पक्षक्षत्तदेवगणा,
णाणासंठाणसंठियाओ य पंचवण्णाओ ताराओ ठियलेसा, चारिणो य अविस्साममडलगई, पत्तेय
णामंकपानडियच्छिमउडा महिडिया- जाव^१ पञ्जुवासंति ।

३६—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महाबीर के साम्राज्य में बृहस्पति, चन्द्र, सूर्य,
शुक्र, शनैश्चर, राहू, धूमकेतु, बुध तथा मंगल, जिनका वर्ण तांे हुए स्वर्ण-बिन्दु के समान दीप्तिमान्
था—(ये) ज्योतिष्क देव प्रकट हुए । इनके अतिरिक्त ज्योतिष्वक्र में परिच्छमण करने वाले—गति-
विशिष्ट केतु—जलकेतु आदि यह, अट्ठाईस प्रकार के नक्षत्र देवगण, नाना आकृतियों के पाँच वर्ण
के तारे—तारा जाति के देव प्रकट हुए । उनमें स्थित-गतिविहीन रहकर प्रकाश करने वाले तथा
अविश्रान्ततया—बिना रुक्षे अनवरत गतिशील—दोनों प्रकार के ज्योतिष्क देव थे । हर किसी ने
अपने-अपने नाम से अंकित अपना विशेष निह्ल अपने मुकुट पर धारण कर रखा था । वे परम
ऋद्धिशालो देव भगवान् को पर्युपासना करने लगे ।

वैमानिक देवों का आगमन

३७—तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवओ महाबीरस्स वेमाणिया देवा अंतियं पाउभ-
वित्था-सोहम्मीसाण-सणकुमार-माहिद-बंध-लंतग-महासुक्क-सहसाराण्य-पाण्यारण-अच्चुययई पहिडा
देवा जिगदंसणुस्मुया गमणजग्नियहासा, पालग-पुण्यग-सोमणस्स-सिरिवच्छ-णंदियावस्त-कामगम-
पीइगम-मणोगम-विमल-सद्वग्नोभह-सरिसणामधेजर्जेहि विमाणेहि जोइण्णा वंबगा जिणिवं मिग-महिस-
वराह-छगल-बवदुर-हय-गय-बहभुयग-खग-उसमंकविडियच्छिमउडा पर्सिडिलवरमउडतिरोड-
धारी, कुंडलउडजोवियाणणा, भउडदित्तसिरया, रत्ताभा, पउमपमहगोरा, सेया, सुभवण्णगंधकासा,
उत्तमवेउविणो, विविहवत्थगंधमल्लधारी, महिडिया महज्जुतिया जाव^२ पंजलिडडा पञ्जुवासंति ।

३७—उस काल, उस समय श्रमण भगवान् महाबीर के समक्ष योधर्म, ईशान, सनत्कुमार,
भाहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनन्द, प्राणत, आरण तथा अच्युत देवलोकों के अधिपति—
इन्द्र अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक प्रादुर्भूत हुए । जिनेश्वरदेव के दर्शन पाने की उत्सुकता और नदर्य अपने
वहाँ पहुंचने से उत्पन्न हर्ष से वे उल्लसित थे ।

जिनेन्द्र प्रभु का बन्दन-स्तवन करने वाले वे (वारह देवलोकों के दस अधिपति) देव पालक,
पुण्यक, सौमनस, श्रीवत्स, नन्दावत्तं, कामगम, प्रीतिगम, मनोगम, विमल तथा सर्वतोभद्र नामक
अपने-अपने विमानों से भूमि पर उतरे । वे मृग—हरिण, महिष—भैसा, बराह—सुग्रेर, छगल—
बकरा, लुदुर-मेंढक, हय—घोड़ा, गजपति—उत्तम हाथी, भुजग—सर्प, खड़ग—गेंडा तथा बृषभ—
सांड के चिन्हों से अंकित मुकुट धारण किये हुए थे । वे श्रेष्ठ मुकुट ढीले—सुहाते उनके सुन्दर

१. देखें सूत्र-संख्या ३४

२. देखें सूत्र-संख्या ३४

सविन्यास युक्त मस्तकों पर विद्यमान थे। कुँडलों की उज्ज्वल दीप्ति से उनके मुख उद्धीतित थे। मुकुटों से उनके मस्तक दीप्ति—दीप्तिमान् थे। वे लाल आभा लिये हुए, पश्चगर्भ सदूश गौर कान्तिमय, ऐत वर्णयुक्त थे। शुभ वर्ण, गन्ध, स्फर्ण आदि के निष्पादन में उत्तम वैक्रियलघ्वि के धारक थे। वे तरह-तरह के वस्त्र, सुगन्धित द्रव्य तथा मालाएं धारण किये हुए थे। वे परम ऋद्धिशाली एवं परम शुतिमान् थे। वे हाथ जोड़ कर भगवान् की पर्युपासना करने लगे।

शिवेचन—भगवान् महावीर के दर्शन, बन्दन हेतु देवों के साथ-साथ अप्सराओं या देवियों के आगमन का भी अन्यत्र वर्णन प्राप्त होता है। टीकाकार आचार्य अध्यदेवसूरि ने टीका में संक्षेप में उसे उद्धृत किया है। वह संक्षिप्त पाठ और उसका सारांश इस प्रकार है—

तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवन्नो महावीरस्स बहुवे अच्छद्धरणासंघाया अंतिमं पात्र-
कथबित्था । तान्नो णं अच्छद्धराश्चो धंतधोयकणगरुगगसरिसप्पभाश्चो समइककंता य बालभावं गणइवर-
सोम्मचारुव्या निश्चवह्यसरसजोव्यककस्तरुणवयभावमुषगयाश्चो निच्चमवद्वियसहावा सध्वंगसुद-
रीश्चो इच्छयनेवत्थरइपरमणिज्जगहियवेसा, कि से ? हारद्वहारपाउत्तरयणकुडलवामुत्तगहेभजाल-मणि-
जाल - कणगजालसुभगउरितियकडगखुडुगएशावलिकंठमुत्तमगहगधरच्छगेवेज्जसोणियसुत्तगतिलग -
फुलगसिद्धत्तियकणावालियसिसूर उसमचक्कयत्तलभंगयतुडियहत्थमात्यहरिसकेऊरदलयपालंवपसंब-
अंगुलिजगवलवद्वीणारमालिया चंदसूरमालियाक्चिमेहुलकसावपयरगपरहेरगपायजाल धंटिया-
खिखिणिरयणेरुजालखुड्डियवरनेउरचलणमालिया कणगणिगलजालगमगरमुहविरायमाणनेऊरपचलिय-
सद्वालभूसणधरीश्चो, दसद्वयणरागरइयरत्तमणहरा हयलाल्लायेलवाइरेगे धवले कणगज्जचियंतकम्मे
आगासफालियसरिसप्पहे अंसुए नियत्थाश्चो, आयरेण तुसारगोवखोरहारदगरयपंडुरदुगुल्लसुकुमालसुक्य-
रमणिज्ज उत्तरिज्जाइं, पाउयाश्चो, सब्बोउयसुरभिकुसुमसुरइयविचित्तवरमल्लधारिणीश्चो
सुगंधिचूण्णगरागवरवासपुण्फपूरगविराइया उत्तमवरधूवधूविया सिरिसमाणवेसा दिव्यकुसुममल्लदाम-
पवभंजलिपुडाश्चो चंदविलासिणीश्चो, चंदद्वसमनिलाडा विज्जुघणभिरीइसूरदिष्पंततेश्चहियतर-
संनिकासाश्चो, सिगारागारचार्वेसाश्चो, संगयगयहसियभणियचेट्यविलास सललियसंलावनिउणजुत्तो-
वयारकुसलाश्चो, सुदरथणजहणवयणकरच्चरणनवणलावणरुव्यजोव्यविलासकलियाश्चो सुरबहुश्चो
सिरीसनवणीयमउयसुकुमालतुल्लफासाश्चो, वव्यगयकलिकलुसधोयनिद्वंतरयमलाश्चो, सोमाश्चो कंताश्चो
पियदंसणाश्चो जिणभत्तिदंसणाणुरागेण हरिसियाश्चो श्रोवइया याविजिणसगासं ... ।

उस समय भगवान् महावीर के समीप अनेक समूहों में अप्सराएँ—देवियाँ उपस्थित हुईं। उनकी देहिक कान्ति श्रग्नि में तपाये गये, जल से स्वच्छ किये गये स्वर्ण जैसी थी। वे बाल-भाव को अतिक्रान्त कर—बचपन को लांघकर यौवन में पदार्पण कर चुकी थीं—नवयोवना थीं। उनका रूप अनुपम, सुन्दर एवं सौम्य था। उनके स्तन, नितम्ब, मुख, हाथ, पैर तथा नेत्र लावण्य एवं योवन से विलसित, उल्लसित थे। दूसरे शब्दों में उनके अंग-अंग में सौन्दर्य-छटा लहराती थी। वे निरुपहत-रोग आदि से अवाधित, सरस-शृंगाररस-सिर्क तारुण्य से विभूषित थीं। उनका वह रूप, सौन्दर्य, योवन सुस्थित था, जरा—वृद्धावस्था से विमुक्त था।

वे देवियाँ सुरम्य वेशभूषा, वस्त्र, आभरण आदि से सुसज्जित थीं। उनके ललाट पर पुष्प जैसी ग्राकृति में निर्मित आभूषण, उनके गले में सरसों जैसे स्वर्ण-कणों तथा मणियों से बनी कंठियाँ, कण्ठसूत्र, कंठले, अठारह लड़ियों के हार, नीलड़ियों के अर्द्धहार, बहुविष्ट मणियों से बनी मालाएँ

चन्द्र, सूर्य आदि अनेक आकार की मोहरों की मालाएँ, कानों में रत्नों के कुण्डल, बालियाँ, बाहुओं में त्रुटिक—तोड़े, बाजूबन्द, कलाइयों में मानिक-जड़े कंकण, अंगुलियों में अंगूठियाँ, कमर में सोने की करधनियाँ, पैरों में सुन्दर नूपुर—पंजनियाँ, चूंधरूथुक पायजेवें तथा सोने के कड़ले आदि बहुत प्रकार के गहने सुशोभित थे ।

वे पैंचरंगे, बहुमूल्य, नासिका से निकलते निःश्वास मात्र से जो उढ़ जाएँ—ऐसे अत्यन्त हल्के, मनोहर, सुकोमल, स्वर्णमय तारों से मंडित किनारों वाले, स्फटिक-तुल्य आभायुक्त वस्त्र धारण किये हुए थीं । उन्होंने बर्फ, गोदुरध, मोतियों के हार एवं जल-कण सदृश स्वच्छ, उज्ज्वल, सुकुमार—मुलायम, रमणीय, सुन्दर बुने हुए रेशमी दुपट्टे ओढ़ रखे थे । वे सब ऋतुओं में खिलनेवाले सुरभित पुष्पों की उत्तम मालाएँ धारण किये हुए थीं । चन्द्रन, केसर आदि सुगन्धमय पदार्थों से निर्मित देहरञ्जन—अंगराग से उनके शरीर रञ्जित एवं सुवासित थे, श्रेष्ठ धूप द्वारा धूषित थे । उनके मुख चन्द्र जैसी कान्ति लिये हुए थे । उनकी दीप्ति दिजली की चृति और सूरज के तेज सदृश थी । उनकी गति, हँसी, बोली, नयनों के हावभाव, पारस्परिक आलाप-संलाप इत्यादि सभी कार्य-कलाप नैपूण्य और लालित्ययुक्त थे । वे सुन्दर स्तन, जघन—कमर से नीचे का भाग, मुख, हाथ, पैर, नयन, लावण्य, रूप, यीवन और नेत्र चेष्टाओं—भ्रूभग्निमाओं से युक्त थीं । उनका संस्पर्श शिरोष पुष्प और नवनीत—मवखन जैसा मृदुल तथा कोमल था । वे निष्कलुष, निर्मल, सौम्य, कमनीय, प्रियदर्शन—देखने में प्रिय या सुभग तथा सुरूप थीं । वे भगवान् के दर्शन की उत्कण्ठा से हरित—रोमांचित थीं । उनमें वे सब विशेषताएँ थीं, जो देवताओं में होती हैं ।

जन-समुदाय द्वारा भगवान् का बन्धन

इदं तदेण चंपाए णयरोए सिघाङ्गा-तिग-ञ्जउक्क-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु महया
जणसद्दे इ वा, बहुजणसद्दे इ वा, जणवाए इ वा, जणुल्लावे इ वा, जणवहे इ वा, जणबोले इ वा,
जणकल्लकले इ वा, जणम्मीइ वा, जणुक्कलिया इ वा, जणसम्मियाए इ वा, बहुजणो अण्णमण्णस्त
एवमाइकछइ, एवं भासइ, एवं पणवेइ, एवं परुवेइ—एवं खलु देवाणुपिया ! समणे भगवं भहावीरे
आइगरे, तित्यगरे, सथंसंबुद्धे, पुरिमुत्तमे जाव^१ संपाविजकामे पुव्वाणुपुर्विव चरमाणे, गामाणुगामं
द्वृहज्जमाणे इहमामए, इहसंपत्ते, इह समोसद्दे, इहेव चंपाए णयरोए वाहि पुण्णमद्दे चेइए अहोपडिरुवं
उरगहं उगिगिहत्ता संजमेण तथसा श्रव्याणं भावेमाणे चिहरइ । तं महफलं खलु भो देवाणुपिया !
तहारुवाणं श्ररहंताणं भगवंताणं णामगोवस्त वि सवणयाए, किमंग पुण अभिगमण-वंदण-णमंसण-
पडिपुच्छण-पञ्जुवासणयाए ? एगस्त वि आरिथस्स धम्मयस्स सुवयणस्स सवणयाए, किमंग पुण
विउलस्स अदुस्स गहणयाए ? तं गच्छामो ण देवाणुपिया ! समणे भगवं भहावीरं चंदामो, णमंसामो,
सवकारेमो सम्भाणेमो, कलसाण, मंगल, वेश्य, चेहयं [विणएण] पञ्जुवासामो, एयं णे वेच्चभवे इहमवे
य हियाए, सुहाए, खमाए, निसेयसाए, आणुगामियताए भविस्सइत्ति कट्टु बहुवे उरगा, उभयुता,
भोगा, भोगपुत्ता एवं दुपडोयारेण राइणा, (इवखागा, नाथा, कोरवा) खस्तिया, माहणा, भडा,
जोहा, पसत्थारो, मल्लई, लेच्छई, लेच्छईपुत्ता, अण्णे य बहुवे राइसर-तलवर-माडंबिय-कोडुंबिय-इब्ब-
सेद्वि-सेणावह-सत्यवाहृप्पभित्तयो अपेगद्या चंदणवत्तियं, अपेगद्या पूवणवत्तियं, एवं सवकारवत्तियं,
सम्माणवत्तियं, दंसणवत्तियं, कोडुहसवत्तियं, अपेगद्या अटुविजिष्ठयहेउं आस्सुयाइं सुणेस्सामो, सुयाइं

१. शूत्र संख्या २० में आये हुए भगवान् भहावीर के सभी विशेषण प्रथमाविभक्ति एकवचनान्त कर थहाँ लगाए ।

निस्तंकियाइ करिस्सामो, अप्येगहया अद्वाई हेकइ कारणाइ वागरणाइ पुच्छस्सामो, अप्येगहया सब्बओ समंता मुँडे भवित्ता अग्राराओ अणगारियं पञ्चइस्सामो, पञ्चाणुद्बहयं सत्तसिक्खावहयं दुबाललविहं गिहिधम्मं एडिवजिस्सामो, अप्येगहया जिणभत्तिरागेण, अप्येगहया जीयमेयंति कट्टु ष्टाया, कयबलि-कम्बा, कयकोउयमंगलपायचिछत्ता, सिरसा कंठे मालकडा, आविद्धभणिसुवण्णा, कणियहारझहार-तिसर-पालंबपलंबमाण-कडिसुत-सुकथलोहाभरणा, अपरध्वयरित्तिया, धंदगोत्तमायसरोरा, अप्ये-गहया हयगया एवं गवगया, रहगया, सिवियागया, संवमाणियागया, अप्येगहया पायविहारचारेण पुरिसवगुरापरिविखत्ता भहया उक्किद्दुसोहणाय-बोल-कलकलरवेण पञ्चुडिभय-महासमुद्रवभूयं पिव करेमाणा चंपाए णघरीय भज्जसंभज्जेण णिगच्छत्ति, णिगच्छत्ता जेणेव पुण्णभद्दे चेहए, तेणेव उवागच्छत्ति, उवागच्छत्ता समणस्स भगवाओ महावीरस्स अद्वरसामंते छत्तादीए तित्थयराइसेसे पासंति, पासित्ता जाणवाहणाइ ठवेति, ठवेत्ता जाणवाहणेहित्तो पञ्चोहुहंति, पञ्चोहुहित्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे, तेणेव उवागच्छत्ति, उवागच्छत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुलो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करित्ता वंशंति, णमस्संति, वंदित्ता, णमंस्सित्ता णच्चासणे णाइद्वारे सुस्सूसमाणा, णमंसमाणा, अभिमुहा विणएणं पंजलिउडा पञ्जुवासंति ।

इद—उस समय चंपा नगरी के सिघाटकों—तिकोने स्थानों, त्रिकों—तिराहों, चतुष्कों—चौराहों, चत्वरों—जहाँ चार से अधिक रास्ते मिलते हों ऐसे स्थानों, चतुमुखों—चारों और मुख या द्वारयुक्त देवकुलों, राजमार्गों, गलियों से मनुष्यों की बहुत आवाज आ रही थी, बहुत लोग शब्द कर रहे थे, आपस में कह रहे थे, फुसफुसाहट कर रहे थे—घोमे स्वर में बात कर रहे थे । लोगों का बड़ा जमघट था । वे बोल रहे थे । उनकी बातचीत की कलकल—मनोज्ज छवनि सुनाई देती थी । लोगों की मानो एक लहर सी उमड़ी आ रही थी । छोटी-छोटी टोलियों में लोग फिर रहे थे, इकट्ठे हो रहे थे । बहुत से मनुष्य आपस में आख्यान—चर्चा कर रहे थे, अभिभाषण कर रहे थे, प्रजापित कर रहे थे—जता रहे थे, प्रलृपित कर रहे थे—एक दूसरे को बता रहे थे—

देवानुप्रियो ! आदिकर—अपने युग में धर्म के आव प्रवर्तक तीर्थंकर—साधु-माध्वी-श्रावक-श्राविका रूप, धर्मतीर्थ—धर्मसंघ के प्रतिष्ठापक, स्वयंसंबुद्ध—स्वयं बिना किसी अन्य निमित्त के बोध प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम—सिद्धि-मतिरूप स्थान की प्राप्ति हेतु समुद्यत भगवान् महावीर यथाक्रम आगे से आगे विहार करते हुए, ग्रामानुग्राम विचरण करते हुए—एक गांव से दूसरे गांव का स्पर्श करते हुए यहाँ आये हैं, संप्राप्त हुए हैं—समवसृत हुए हैं—पवारे हैं । यहाँ चंपा नगरी के बाहर पूर्ण भद्र चैत्य में यथोचित—श्रमणचर्या के अनुरूप स्थान ग्रहण कर संयम और नप से आत्मा को अनुभावित करते हुए विराजित हैं । हम लोगों के लिए यह बहुत ही लाभप्रद है । देवानुप्रियो ! ऐसे अहंत भगवान् के नाम-गोत्र का सुनना भी बहुत बड़ी बात है, फिर अभिगमन—सम्मुख जाना, वन्दन, नमन, प्रतिपृच्छा—जिज्ञासा करना—उनसे धर्मतत्त्व के सम्बन्ध में पूछना, उनकी पर्युपासना करना—उनका साक्षिध्य प्राप्त करना—इनका तो कहना ही क्या ! सद्गुणनिष्पत्ति, सद्धर्मंभय एक सुवचन का श्रवण भी बहुत बड़ी बात है; फिर विपुल-विस्तृत शर्थ के ग्रहण की तो बात ही क्या ! अतः देवानुप्रियो ! अच्छा हो, हम जाएँ और श्रमण भगवान् महावीर को वन्दन करें, नमन करें, उनका सत्कार करें, सम्मान करें । भगवान् कल्याण है, मंगल है, देव है, तीर्थस्वरूप है । उनकी पर्युपासना करें । यह (वन्दन, नमन) आदि इस भव में—वर्तमान जीवन में, परभव में जन्म-जन्मान्तर में हमारे लिए हितप्रद सुखप्रद, क्षान्तिप्रद तथा निश्रेयस्प्रद—मोक्षप्रद सिद्ध होगा ।

यों चिन्तन-विमर्श करते हुए बहुत से उपर्यों—आरक्षक अधिकारियों, उपपुत्रों, भोगों—राजा के मन्त्रिमण्डल के सदस्यों, भोगपुत्रों, राजन्यों—राजा के परामर्शकमण्डल के सदस्यों, (इष्वाकुवंशीयों, ज्ञातवंशीयों, कुरवंशीयों) क्षत्रियों—क्षत्रिय वंश के राजकर्मचारियों, ब्राह्मणों, सुभटों, योद्धाओं—युद्धोपजीवी सेनिकों, प्रशास्ताओं—प्रशासनाधिकारियों, मल्लकियों—मल्ल गणराज्य के सदस्यों, लिच्छवियों—लिच्छवि गणराज्य के सदस्यों तथा अन्य अनेक राजाओं—माण्डलिक नरपतियों, ईश्वरों—ऐश्वर्यशाली एवं प्रभावशाली पुरुषों, तलवरों—राजसम्मानित विशिष्ट नागरिकों, माडंविकों—जागीरदारों या भूस्वामियों, कीटुम्बिकों—बड़े परिवारों के प्रमुखों, इन्हों—वैभवशाली जनों, श्रेष्ठियों—सम्पत्ति और भुद्ध्यवहार से प्रतिष्ठाप्ताप्त सेठों, सेनापतियों एवं सार्थवाहों—अनेक छोटे व्यापारियों को साथ लिये देशान्तर में व्यवसाय करनेवाले समर्थ व्यापारियों, इन सबके पुत्रों में से अनेक वन्दन हेतु, अनेक पूजन हेतु, अनेक सत्कार हेतु, अनेक सम्मान-हेतु, अनेक दर्शन हेतु, अनेक उत्सुकता-पूति हेतु, अनेक अर्थविनिष्चय हेतु—तत्त्वनिर्णय हेतु, अश्रुत—नहीं सुने हुए को सुनेंगे, श्रुत-सुने हुए को संशयरहित करेंगे—तदृगत संशय दूर करेंगे, अनेक इस भाव से, अनेक यह सोचकर कि युक्ति, तर्क तथा विश्लेषणपूर्वक तत्त्व-जिज्ञासा करेंगे, अनेक यह चिन्तन कर कि सभी सांसारिक सम्बद्धों का परिवर्जन कर, भुण्डित होकर—प्रब्रजित होकर अगार-धर्म—गृहस्थ-धर्म से आगे बढ़ अनगार-धर्म—धर्मण-जीवन स्वीकार करेंगे, अनेक यह सोचकर कि पाँच अणुन्नत, सात शिक्षा व्रत—यों बारह व्रत युक्त धावक-धर्म स्वीकार करेंगे, अनेक भक्ति-अनुराग के कारण, अनेक यह सोच कर कि यह अपना वंश-परंपरागत व्यवहार है, भगवान् की सम्मिलिति में आने को उद्यत हुए।

उन्होंने स्नान किया, नित्य—नैमित्तिक कार्य किये, कीरुक—देहसज्जा की दृष्टि से नेत्रों में अंजन आज्ञा, ललाट पर तिलक किया; प्रायशिचत्त—दुःखप्लादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत आदि से मंगलविधान किया, मस्तक पर, गले में मालाएँ धारण कीं, रत्नजड़े स्वर्णभिरण, हार, अर्धहार, तीन लड्डों के हार, लम्बे हार, लटकती हुई करधनियाँ आदि शोभावर्धक अलंकारों से अपने को सजाया, श्रेष्ठ, उत्तम—मांगलिक वस्त्र पहने। उन्होंने समुच्चय रूप में शरीर पर, शरीर के अलग अलग अंगों पर चन्दन का लेप किया।

उनमें से कई घोड़ों पर, कई हाथियों पर, कई शिविकाओं—पद्मेदार पालखियों पर, कई पुरुष-प्रमाण पालखियों पर सवार हुए। अनेक व्यक्ति बहुत पुरुषों द्वारा चारों ओर से घिरे हुए पैदल चल पड़े। वे (सभी लोग) उत्कृष्ट, हर्षोन्नत, सुन्दर, मधुर घोष द्वारा नगरी को लहराते, गरजते विशाल समुद्रसदृश बनाते हुए उसके बीच से गुजरे। बैसा कर, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आये। आकर न अधिक दूर से, न अधिक निकट से भगवान् के तीर्थकर-रूप के विशिष्टघट्योतक छत्र आदि अतिशय—विशेष चिह्न-उपकरण—देखे। देखते ही अपने यान, बाहन, वहाँ ठहराये। ठहराकर यान—गाढ़ी, रथ आदि, बाहन—घोड़े, हाथी आदि से नीचे उतरे। नीचे उत्तर कर, जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आये। वहाँ आकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा की; वन्दन, नमस्कार किया। वन्दन, नमस्कार कर, भगवान् के न अधिक दूर, न अधिक निकट स्थित हो, शुश्रूषा—उनके बचन सुनने की उत्कण्ठा लिए, नमस्कार-मुद्रा में भगवान् महावीर के सामने विन्य-पूर्वक अंजलि बाधे—हाथ जोड़े उनकी पर्युपासना करने लगे—उनका साश्रित्यलाभ लेने लगे।

महाराज कूणिक को सूचना

३९—तए णं से पवित्रिवाडए इमीसे कहाए लद्दृठे समाणे हट्टुटुटु जाव^१ हियए ज्ञाव (कयबलिकम्मे, कथकोडय-मंगल-पायचिक्ते, सुदृष्टपावेसाह, मंगल्लाइ वत्थाई ववरपरिहिए) श्रष्टमहग्नाभरणालंकियसरीरे सयाओ गिहाओ पडिणिकखमइ, सयाओ गिहाओ पडिणिकखमित्ता चंपाणयरि मजभांमजभेण जेणेव बाहिरिया सा चेव हेडुला वत्तव्या जाव^२ मिसीयइ, णिसीहत्ता तस्स पवित्रिवाउयस्स अद्वृत्तेरससयतहस्साइ पौइवाण वलयइ, इलयित्ता सवकारेइ, सम्माणेइ, सरकारित्ता, सम्माणेत्ता पडिविसज्जेइ ।

३९—प्रवृत्ति-निवेदक को जब यह (भगवान् महावीर के पदार्पण की) बात मालूम हुई, वह हृषित एवं परितुष्ट हुआ । उसने स्नान किया, (निष्य-नैमित्तिक कार्य किये, कौतुक—देह-सज्जा की दृष्टि से नेत्रों में अंजन आंजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायशिच्छा—दुःस्वप्नादि-दोषनिवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दही, अक्षत आदि से मंगल-विधान किया, उत्तम, प्रवेश्य—राजसभा में प्रवेशोच्चित—श्रेष्ठ, मांगलिक वस्त्र भलीभांति पहने (थोड़े—संख्या में कम पर बहुमूल्य आभूषणों से शरीर को अलंकृत किया । यों (सजकर) वह अपने घर से निकला । (अपने घर से) निकलकर वह चम्पा नगरी के बीच, जहाँ राजा कूणिक का महल था, जहाँ बहिवंती राजसभा-भवन था वहाँ आया ।

..... राजा सिंहासन पर बैठा । (बैठकर) साके बारह लाख रजत-मुद्राएँ वार्ता-निवेदक को प्रीतिदान—तुष्टिदान या पारितोषिक के रूप में प्रदान की । उत्तम वस्त्र आदि द्वारा उसका सत्कार किया, आदरपूर्ण वचनों से सम्मान किया । यों सत्कृत, सम्मानित कर उसे बिदा किया ।

विवेचन—मध्य के 'जाव' शब्द द्वारा सूचित वृत्तान्त सूत्र संख्या १७-१८-१९-२० के अनुसार जान लेना चाहिए ।

दर्शन-वन्दन की तैयारी

४०—तए णं से कूणिए राया भैभसारपुसे बलवाउयं आमतेइ, आमतेत्ता एवं वयासि—खिपामेव भो देवाणुप्तिया ! आभिसेवकं हत्थिरयणं पडिकप्पेहि, हय-गय-रह-पवरजोहकसियं च चाउरंगिणि सेणं सण्णाहेहि, सुभद्रापमुहाण य देवोणं बाहिरियाए उबट्टाणसालाए पाडियवकपाडियवकाइ जत्तामिमुहाइ जुत्ताइ जाणाइ उबट्टवेहि, चंपं च णयारि समितरवाहिरियं आसिय-सम्मउज-उवलिसं, सिधाङ्ग-तिय-चउइक-चच्चर-चउम्मुह-महापह-पहेसु आसिस-सित्तसुइ-सम्मटु-रत्थंतराव्यवर्णवीहियं, मंचाइमंचकलियं, णाणाविहराग-उच्छ्वाय-जभयपडागाइपडागमंडियं, लाउल्लोहयमहियं, गोसीससरस-रत्थंवण जाव (दहरविण्णपंचंगुलितलं, उवचियचंदणकलसं, चंदणघडमुक्यतोरणं पडिदुवारदेसभायं, आसत्तोसत्तविउलवट्टवायारियमल्लदामकलावं, पंचवण्णसरससुरहिमुक्कपुष्पकुंजोवथारकलियं, काला-गुण-पवरकुंदुरुक्क-तुरुक्क-धूव-मघमधंतगंधुदधुयाभिरामं सुगंधवरगंधगंधियं) गंधवट्टभूयं करेह य, कारवेह य, करेत्ता य कारवेत्ता य एयमाणत्तियं पञ्चत्पिणाहि । णिझजाहिसामि समणं भगवं महावीर अभिवंदए ।

१. देखें सूत्र-संख्या १८

२. देखें सूत्र-संख्या १७, १८, १९, २०

४०—तब भंभसार के पुत्र राजा कूणिक ने बलव्यापृत—सैन्य-व्यापार-परायण—सैन्य सम्बन्धी कार्यों के अधिकारी को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—

देवानुप्रिय ! आभिषेक्य—अभिषेक-योग्य, प्रघान पद पर अधिष्ठित (राजा की सवारी में प्रथोजनीय) हस्ति-रत्न—उत्तम हाथी को सुसज्ज कराओ। घोड़े, हाथी, रज तथा श्रेष्ठ योद्धाओं से परिगठित चाउरंगिणी सेना को तैयार करो। सुभद्रा आदि देवियों—रानियों के लिए, उनमें से प्रत्येक के लिए (अलग-अलग) यात्राभिमुख-गमनोद्यत, जाते हुए यानों- सवारियों को बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थापित करो—तैयार कराकर हाजिर करो। चम्पा नगरी के बाहर और भीतर, उसके संधाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्भुज, राजमार्ग तथा सामान्य मार्ग, इन सबकी सफाई कराओ। वहाँ पानी का छिड़काव कराओ, गोबर आदि का लेप कराओ। नगरी के रथ्यान्तर—गलियों के मध्य-भागों तथा आपण-बीथियों—बाजार के रास्तों की भी सफाई कराओ, पानी का छिड़काव कराओ, उन्हें स्वच्छ व सुहावने कराओ। मंचातिमंच—सीढ़ियों से समायुक्त प्रेक्षागृहों की रचना कराओ। दरहृ-तरहृ के रंगों की, ऊंची, सिंह, चक्र आदि चिह्नों से युक्त छवजाएँ, पताकाएँ तथा अतिपत्ताकाएँ, जिनके पारिपाश्व अनेकानेक छोटी पताकाओं—झंडियों से सजे हों, ऐसी बड़ी पताकाएँ लगवाओ। नगरी की दीवारों को लिपवाओ, पुतवाओ। उत पर गोरोचन तथा सरस—आद्रै लाल चन्दन के पाँचों अंगुलियों और हथेली सहित हाथ के छापे लगवाओ। वहाँ चन्दन-कलश—चन्दन से चूचित मंगल-षट रखवाओ। नगरी के प्रत्येक द्वार भाग को चन्दन-कलशों और तोरणों से सजवाओ। जमीन से ऊपर तक के भाग को छूती हुई बड़ी-बड़ी, गोल तथा लम्बी अनेक पुष्पमालाएँ वहाँ लगवाओ। पाँचों रंगों के सरस—ताजे फूलों से उसे सजवाओ, मुन्दर बनवाओ। काले अगर, उत्तम कुन्दरुक, लोबान तथा धूप की गमगमाती महक से वहाँ के बातावरण को उत्कृष्ट सुरभिमय करवादो, जिससे सुगन्धित धुएँ की प्रचुरता से वहाँ गोल-गोल धूममय छल्ले बनते दिखाई दें।

इनमें जो करने का हो, उसे करके—कर्मकरों, सेवकों, श्रमिकों आदि को आदेश देकर, तत्सम्बन्धी व्यवस्था कर, उसे अपनी देखरेख में संपन्न करवा कर तथा जो दूसरों द्वारा करवाने का हो, उसे दूसरों से करवाकर मुझे सूचित करो कि आज्ञापालन हो गया है—आज्ञानुरूप सब सुसंपन्न हो गया है। यह सब हो जाने पर मैं भगवान् के अभिवंदन हेतु जाऊँ।

४१—तए ण से छलवाजए कूणिएण रणा एवं बुत्ते समाणे हद्दुहुद्दु जाव' हियए करयलपरि-
गमहियं सिरसायत्तं मत्थए अंजलि कट्टु एवं व्यासी—सामित्ति आणाए विणएण व्याणं पडिसुणेह,
पडिसुणित्ता एवं हस्तियवाजयं आमंतेह, आमंतेला एवं व्यासी—छिप्पामेव भो देवाणुप्पिया ! कणियस्स
रक्षो भंभसारपुत्तस्स आभिसेकं हत्यरयणं पडिकप्पेहि, हपगायरहृपवरजोहकलियं चाउरंगिण सेण
सण्णाहेहि, सण्णाहेत्ता एयमाणसियं पच्चपिण्णाहि ।

४२—राजा कूणिक द्वारा यों कहे जाने पर उस सेनानायक ने हर्ष एवं प्रसन्नतापूर्वक हाथ जोड़े, उन्हें सिर के चारों ओर चुमाया, अंजलि को मस्तक से लगाया तथा विनयपूर्वक राजा का आदेश स्वीकार करते हुए निवेदन किया—महाराज की जैसी आज्ञा ।

सेनानायक ने यों राजाजा स्वीकार कर हस्ति-व्यापृत—महावत को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—देवानुप्रिय ! भंभसार के पुत्र महाराज कूणिक के लिए प्रधान, उत्तम हाथी सजाकर शीघ्र तैयार करो। घोड़े, हाथी, रज तथा श्रेष्ठ योद्धाओं से परिगठित चतुरंगिणी सेना के तैयार होने की व्यवस्था कराओ। फिर मुझे आज्ञा-पालन हो जाने की सूचना करो।

४२—तए ण से हृतिवाउए बलवाउयस्स एयमट्ठं सोच्चा आणाए विणएण वयणं पडिसुणेह, पडिसुणिता आभिसेवकं हृतिवरयणं छेयापरियउवएसमइकप्पणाविकप्पेहि सुणिउणेहि उज्जलणेवत्य-हस्थपरिवर्त्य, सुसज्जं धम्भियसण्णद्वद्वकवद्यउप्पीसियकस्थवद्यगेवेयवद्यगलवरमूसणविरायं, अहियतेयजुत्तं, सभज्जियवरकप्पणप्रश्नाद्वं, एलंसभोचूलप्रहुप्रकर्त्यधयारं, चित्परिच्छेष्टपच्छयं, पहरणावरणभरियजुद्वसउजं, सच्छुत्तं, सज्भयं, सघंटं, सपडागं, पंचामेसयपारिमंडियाभिरामं, ओसारिय-जमलजुयलघंटं, विज्जुपिणद्व व कालमेहं, उप्पाद्यपत्वयं व चंकभंतं, मत्तं, महामेहमिय गुलगुलंतं, मणपवणजहणवेगं, भीमं, संगमियाओजं आभिसेवकं हृतिवरयणं पडिकप्पेह, पडिकप्पेत्ता हयगपरह-पवरजोहुकलियं चाउरंगिणि सेणं सण्णाहेह, सण्णाहेत्ता जेणेव बलवाउए, तेणेव उवापच्छह, उवागच्छत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणद्व ।

४२—महावत ने सेनानायक का कथन सुना, उसका आदेश विनय-सहित स्वीकार किया। आदेश स्वीकार कर उस महावत ने, कलाचार्य से शिक्षा प्राप्त करने से जिसकी बुद्धि विविष्ट कल्पनाओं तथा सज्जनाओं में अत्यन्त निपुण—उर्वर थी, उस उत्तम हाथी को उज्ज्वल नेपथ्य—चमकीले वस्त्र, वेषभूषा आदि ढारा शीघ्र सजा दिया। उस सुसज्ज हाथी का धार्मिक उत्सव के अनुरूप शुगार किया, उसके कवच लगाया, कक्षा—बाईने की रसी को उसके वक्षःस्थल से कसा, गले में हार तथा उत्तम आभूषण पहनाये, इस प्रकार उसे सुशोभित किया। वह बड़ा तेजोमय दीखने लगा। सुललित—लालित्ययुक्त या कलापूर्ण कर्णपूरो—कानों के आभूषणों ढारा उसे सुसज्जित किया। लटकते हुए लम्बे भूलों तथा मद की गंध से एकत्र हुए भीरों के कारण वहाँ अंधकार जैसा प्रतीत होता था। भूल पर बेल बूटे कढ़ा प्रच्छुद—छोटा आच्छादक वस्त्र डाला गया। शस्त्र तथा कवचयुक्त वह हाथी युद्धार्थ सज्जित जैसा प्रतीत होता था। उसके छात्र, ध्वजा, घंटा तथा पताका—ये सब यथास्थान योजित किये गये। मस्तक को पाँच कलंगियों से विभूषित कर उसे सुन्दर बनाया। उसके दोनों ओर—दोनों परिपाश्वे में दो घंटियाँ लटकाईं। वह हाथी बिजली सहित काले बादल जैसा दिखाई देता था। वह श्रपने बड़े ढीलडील के कारण ऐसा लगता था, मानो अकस्मात् कोई चलता-फिरता पर्वत उत्पन्न हो गया हो। वह मदोन्मत्त था। बड़े मेघ की तरह वह गुलगुल शब्द ढारा अपने स्वर में मानो गरजता था। उसकी गति मन तथा वायु के वेग को भी पराभूत करने वाली थी। विशाल देह तथा प्रचंड शक्ति के कारण वह भीम—भयावह प्रतीत होता था। उस संग्राम योग्य—बीरवेशान्वित आभिषेक्य हस्तिरत्न को महावत ने सञ्चढ़ किया—सुसज्जित कर तैयार किया। उसे तैयार कर घोड़े, हाथी, रथ तथा उत्तम योद्धाओं से परिगठित सेना को तैयार कराया। फिर वह महावत, जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया और आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४३—तए ण से बलवाउए जाणसालियं सहावेह, सहावेत्ता एवं वयासी—खिष्यामेव भो देवाणुप्पिथा ! सुभद्राएमुहाणं देवीणं बाहिरियाए उबद्वाणसालाए पाडिएकपाडिएककाहं जस्ताभि-मुहाइ जुत्ताहं जाणाहं उबद्ववेह, उबद्ववेत्ता एयमाणत्तियं पच्चप्पिणाहि ।

४३—तदनन्तर सेनानायक ने यानशाला के अधिकारी को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—सुभद्रा आदि रानियों के लिए, उनमें से प्रत्येक के लिए (अलग-अलग) यात्राभिसुख—गमनोद्यत, जुते हुए यान बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थित करो—जुतवाकर, तैयार कर हाजिर करो। हाजिर कर आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दो।

४४—तए ण से जाणसालिए बलबाउथस्स एथमट्ठं आणाए विणएण वयणं पच्चुणेह, नहिसुणेत्ता जेणेव जाणसाला तेणेव उवागच्छइ, तेणेव उवागच्छत्ता जाणाइं पच्चुवेक्खेह, पच्चुवेक्खेत्ता जाणाइं संपमज्जेह, संपमज्जेत्ता जाणाइं सेवट्टेह, संवट्टेत्ता जाणाइं जोणेह, जोणेत्ता जाणाणं दूसे पवोणेह, पवोणेत्ता जाणाइं समलंकरेह, समलंकरेत्ता जाणाइं वरभंडगमंडियाइं करेह, करेत्ता जेणेव बाहुणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छत्ता बाहुणसालं अणुपविसइ, अणुपविसित्ता बाहुणाइं पच्चुवेक्खेह, पच्चुवेक्खेत्ता बाहुणाइं संपमज्जह, संपमज्जित्ता बाहुणाइं जोणेह, जोणेत्ता बाहुणाइं अप्फालेह, अप्फालेत्ता दूसे पवोणेह, पवोणेत्ता बाहुणाइं समलंकरेह, समलंकरेत्ता बाहुणाइं वरभंडग-मंडियाइं करेह, करेत्ता बाहुणाइं जाणाइं जोएह, जोएत्ता पश्चोयलट्टु पश्चोयधरए व समं आउहइ, आडहित्ता बहुमग्गं गाहेह, गाहेत्ता जेणेव बलबाउए तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छत्ता बलबाउथस्स एथमाणत्तियं पच्चपिणइ।

४५—यानशालिक ने सेनानायक का आदेश-वचन विनयपूर्वक स्वीकार किया। स्वीकार कर वह, जहाँ यानशाला थी, वहाँ आया। आकर यानों का निरीक्षण किया। निरीक्षण कर उनका प्रमार्जन किया—आच्छी तरह सफाई की। सफाई कर उन्हें वहाँ से हटाया। वहाँ से हटाकर बाहर निकाला। बाहर निकाल कर उनके दूष्य—आच्छादक वस्त्र—उन पर लगी खोलियाँ दूर कीं। खोलियाँ हटाकर यानों को सजाया। सजाकर उन्हें उत्तम आभरणों से विभूषित किया। विभूषित कर वह जहाँ बाहुणशाला थी, आया। आकर बाहुणशाला में प्रविष्ट हुआ। प्रविष्ट होकर बाहनों (बैल आदि) का निरीक्षण किया। निरीक्षण कर उन्हें संप्रमाजित किया—उन पर लगी हुई धूल आदि को दूर किया। बैसा कर बैसा कर उन्हें बाहुणशाला से बाहर निकाला। बाहर निकाल कर उनकी पीठ थपथपाई। बैसा कर उन पर लगे आच्छादक वस्त्र—झूल आदि हटाये। आच्छादक वस्त्र हटाकर बाहनों को सजाया। सजाकर उन्हें उत्तम आभरणों से विभूषित किया। विभूषित कर उन्हें यानों में—गाड़ियों, रथों आदि में जोता। जोतकर प्रतोत्रयष्टिकाएँ—गाड़ी, रथ आदि हाँकने की लकड़ियाँ या चाबुक तथा प्रतोत्रधर—गाड़ी हाँकने वालों—गाड़ीवानों को प्रस्थापित किया—उन्हें यष्टिकाएँ देकर यान-चालन का कार्य सौंपा। बैसा कर यानों को राजमार्ग पकड़वाया—गाड़ीवान उसकी आज्ञानुसार यानों को राजमार्ग पर लाये। बैसा करवाकर वह, जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया। आकर सेनानायक को आज्ञा-पालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४६—तए ण से बलबाउए णयरगुत्तियं आमंतेह, आमंतेत्ता एवं वयासो—खिप्पामेव मो देवाणुपिणा ! चंपं णयरि सक्षितरवाहिरियं आसित्त जाव । (सम्मज्जित्तवलित्तं, सिघाडगतियचउक्क-चक्करचउम्मुहमहापहपहेसु आसित्तसुइसम्मट्टरत्थंतरावणवीहियं, मंवाइमंचकलियं, णाणाविह-रागउच्छ्वायज्ञयपडागाइपडागमंडियं, लाउह्लोह्यमहियं…………) कारवेत्ता एथमाणत्तियं पच्चपिणाहि ।

४५—फिर सेनानायक ने नगरगुप्ति के नगर की स्वच्छता, सद्व्यवस्था आदि के नियामक, नगररक्षक या कोतवाल को बुलाया। बुलाकर उससे कहा—देवानुप्रिय ! चम्पा नगरी के बाहर और भीतर, उसके संधाटक, त्रिक, चतुष्क, चत्वर, चतुर्मुख, राजमार्ग—इन सबकी सफाई कराओ। वहाँ पानी का छिड़काव कराओ, गोबर आदि का लेप कराओ। (नगरी के रथ्यान्तर—गलियों के मछ्य-भागों तथा आपणवीथियों—बाजार के रास्तों की भी सफाई कराओ, पानी का छिड़काव कराओ, उन्हें स्वच्छ व सुहावने कराओ। मंचातिमंच—सीढ़ियों से समाधुक्त प्रेक्षा-गृहों की रचना कराओ। तरह-तरह के रंगों की, ऊँची, सिंह, चक्र आदि चिह्नों से युक्त घजाएँ, पताकाएँ तथा अतिपत्ताकाएँ, जिनके परिपाश्वं अनेकानेक छोटी पताकाओं—झड़ियों से सजे हों, ऐसी बड़ी पताकाएँ लगवाओ। नगरी की दीवारों को लिपवाओ, पुतवाओ………………) नगरी के बातावरण को उरकुष्ट सौरभमय करवा दो। यह सब करवाकर मुझे सूचित करो कि आज्ञा का अनुपालन हो गया है।

४६—तए ण से अयरगुत्तिए बालबाड्यस्त एयमद्वं शाणाए विषएषं पडिसुण्डे, पडिसुणिला चंपं अर्थारि संविभतरबाहिरियं आसित्त जाव^१ कारवेत्ता, जेणेव बलबाडए सेषेव उवागच्छह, उवागच्छत्ता एयमाणत्तियं पच्छात्पिण्डे।

४७—नगरपाल ने सेनानायक का आदेश विनयपूर्वक स्वीकार किया। स्वीकार कर चम्पा नगरी की बाहर से, भीतर से सफाई, पानी का छिड़काव आदि करवाकर, वह जहाँ सेनानायक था, वहाँ आया। आकर आज्ञापालन किये जा चुकने की सूचना दी।

४८—तए ण से बलबाडए क्रेणियस्त रणो भंभसारपुत्तस्त आभिसेकं हृत्यिरयणं पडिक्षियं पासइ, हयगय जाव (रहपवरजोहकलियं च चाउरंगिण सेण) सण्णाहियं पासइ, सुमहाप-मुहाणं देखीणं पडिजाणाइ उवटुवियाइं पासइ, चंपं णर्थारि संविभतरं जाव^२ गंधवट्टिमूयं कवं पासइ, पासित्ता हह्तुदुचित्तमाणंविए, पीअमणे जाव^३ हियए जेणेव कूणिए राया भंभसारपुत्ते, तेणेव उवागच्छह, उवागच्छत्ता करयल जाव (-परिगहियं सिरसावत्तं मत्थए अंजलि कट्टु) एवं वयासी—कणिपए ण देवाणुपिष्ठाणं आभिसेकके हृत्यिरयण, हयगयरहपवरजोहकलिया य चाउरंगिणी सेणा सच्छाहिया, सुभद्रायमुहाणं य देखीणं बाहिरियाए उवटुगणसालाए पाडिएकहपाडिएककाइ जत्ताभिमुहाइं जुत्ताइं जाणाइं उवटुवियाइं, चंपा णयरी संविभतरबाहिरिया आसित्त जाव^४ गंधवट्टिमूया कया, तं यिलजंतु ण देखायुपिया ! समनं भगवं बहावोर अभिवंदया ।

४९—तदनन्तर सेनानायक ने भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के प्रबान हाथी को सजा हुआ देखा। (घोड़े, हाथी, रथ, उत्तम योद्धाओं से परिगठित) चतुरंगिणी सेना को सत्रह—सुसज्जित देखा। सुभद्रा आदि रानियों के लिए उपस्थापित—तैयार कर लाये हुए यान देखे। यह भी देखा,

१. देखें सूत्र-संख्या ४०

२. देखें सूत्र-संख्या ४० तथा सूत्र-संख्या ४५

३. देखें सूत्र-संख्या १८

४. देखें यही, सूत्र-संख्या ४० तथा सूत्र-संख्या ४५

चम्पा नगरी की भीतर और बाहर से सफाई की जा चुकी है, वह सुगंध से महक रही है। यह सब देखकर वह मन में हृषित, परितुष्ट, आनन्दित एवं प्रसन्न हुआ। भंभसार का पुत्र राजा कूणिक जहाँ था, वह वहाँ आया। आकर हाथ जोड़े, (उन्हें सिर के चारों ओर धूमाया, अंजलि को मस्तक से लगाया) राजा से निवेदन किया—

देवानुप्रिय ! आभिषेक्य हस्तिरत्न तैयार है। घोड़े, हाथी, रथ, उत्तम योद्धाओं से परिपूर्ण चतुरंगिणी सेना सन्तुष्ट है। सुभद्रा आदि रानियों के लिए, प्रत्येक के लिए अलग-अलग जुते हुए यात्राभिमुख—गमनोदयत यान बाहरी सभा-भवन के निकट उपस्थापित—हाजिर हैं। चम्पा नगरी की भीतर और बाहर से सफाई करवा दी गई है, पानी का छिड़काव करवा दिया गया है, वह सुगंध से महक रही है। देवानुप्रिय ! श्रमण भगवान् महावीर के अभिवन्दन हेतु आप पद्धारे ।

४८- तए ण से कृणिए राया भंभसारपुसे बलवाउयस्स अंतिए एयमट्ठं सोऽच्चा, णिसम्म
सहुतुडु जावै हियए, जेणेव अटूणसाला तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता अटूणसालं अणुपविसइ,
अणुपविसिता अणेगवायामजोगवगण-वामदण-मल्लज्ञदुकरणेहि संते, परिस्संते, सयपत्त-सहुसपागेहि
सुगंधतेल्लमाइएहि पोणणिजजेहि दप्पणिजजेहि मयणिजजेहि विहणिजजेहि संविदियगायपह्लायणिजजेहि
अविभगेहि अविभगिए समाणे, तेल्लचम्मंसि पडिपुणदाणिपायसुउमालकोमलतलेहि पुरिसेहि छेएहि,
दबलेहि पत्तट्ठेहि कुसलेहि मेहावीहि निउणसिप्पोषगएहि अविभगणपरिमह्नुदवलणकरणगुणणिमाएहि,
अद्विसुहाए, भस्सुहाए, तयासुहाए, रोमधुहाए चउचित्तहाए संबाहुणाए संबाहुए समाणे, अदगयलेय-
परिस्समे अटूणसालाओ पडिणिक्खमह, पडिणिक्खमिता जेणेव भज्जणघरे तेणेव उवागच्छइ,
उवागच्छिता भज्जणघरं अणुपविसइ, अणुपविसिता समुसजालाउलाभिरामे विचित्तमणिरयणकुट्ठि-
मयले रमणिजजे णहाणमंडवंसि, णाणामणिरयणभत्तचित्तंसि णहाणपीठंसि सुहणिसणे सुदोदाएहि,
गंधोदएहि, पुष्कोदएहि, सुहोदएहि पुणो कल्लाणगपवरमज्जणकिहीए भज्जए, तत्थ कोउयसएहि
महुदिहेहि कल्लाणगपवरमज्जणावसाणे पम्हलसुकुमालमंधकासाहयलूहियगे, सरससुरहिगोसीसचंदणाणु-
लित्तगते, अहयसुमहग्यद्वसरयणसुसंबुए, सुइमालाववणगविलेवणे य अविद्धमणिसुदण्णे, कण्पयहारझ-
हारतिसरयपालंबमाणकडिसुत्तसुणयसेमे, पिणद्धगेविज्जअंगुलिड्जगतलियंगायललियक्याभरणे,
वरकडगतुडियर्थभियभुए, अहियरुवसस्तिरीए, मुद्दियपिगलंगुलोए कुउलउज्जोवियाणे मउडविस-
सिरए, हारोत्थपसुक्यरहयवच्छे, पालंबपलंबमाणपडसुक्यउत्तरिज्जे, णाणामणिकणगरयणविमलमहरि-
हुणिज्जोवियमिसिमिसितविरहयसुसिलिट्टुविसिट्टुलद्वाषिद्विरेवलए कि बहुणा, कण्परुक्खए चेव
अलंकियविभूसिए णरबई सकोरंदमल्लदामेण छत्तेण धरिक्कजमाणोण, चउचामरवालचीहयगे, मंगलजय-
सद्वक्यालोए, मज्जणघराओ पडिणिक्खमह, पडिणिक्खमिता अणेगगणनायग-वंडनायग-राईसर-तलवर-
माउंकिय-कोडुंकिय-इवध-सेद्दु-सेणावइ-सस्थवाह-दूय-संधिवालसर्द्दि संपरिवुडे धवलभहामेहणिभगए इव
गहगणदिधंत-रिक्ख-तारामणाण मज्जे ससिघ्व पिङ्गदंसणे णरबई जेणेव बाहिरिया उवटुणसाला,
जेणेव आभिसेवके हस्तिरयणे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छिता अंजणामिरिकूडसणिभं गयवइ णरबई दुरुढ़े ।

४८- भंभसार के पुत्र राजा कूणिक ने सेनानायक से यह सुना। वह प्रसन्न एवं परितुष्ट हुआ। जहाँ व्यायामशाला थी, वहाँ आया। आकर व्यायामशाला में प्रवेश किया। प्रवेश कर अनेक

प्रकार से व्यायाम किया। अंगों को खींचना, उछलना-कूदना, अंगों को मोड़ना, कुश्ती लड़ना, व्यायाम के उपकरण—मुद्गर आदि घुमाना—इत्यादि क्रियाओं द्वारा अपने को शान्त, परिश्रान्त किया—थकाया, विशेष रूप से थकाया। फिर प्रीणनीय रस, रक्त आदि धातुओं में समता-निष्पादक, दर्पणीय—बलवर्धक, मदनीय—कामोदीपक, वृहणीय—मांसवर्धक, शरीर तथा सभी इन्द्रियों के लिए आह्लादजनक—आनन्दकर पा लाभप्रद शतपाक, सहस्रपाक संज्ञक सुगन्धित तैलों, अध्यंगो—उबटनों प्रादि द्वारा शरीर को भसलवाया।

फिर तैलचम्ब पर—आसन-विशेष पर—वैसे आसन पर, तैल मालिश किये हुए पुरुष को जिस पर बिठाकर संबाहन किया जाता है, देहचंपी की जाती है, स्थित होकर ऐसे पुरुषों द्वारा, जिनके हाथों और पैरों के तलुए अत्यन्त सुकुमार तथा कोमल थे, जो छेक—अवसरज, कलाविद्—बहतर कलाश्रों के जाता, दंक्ष—अविलम्ब कार्य-संपादन में सक्षम, प्राप्तार्थ—अपने व्यवसाय में सुशिक्षित, कुशल, मेघाची—उर्वर प्रतिभाशील, संबाहन-कला में निपुण—तत्सम्बद्ध क्रिया-प्रक्रिया के मरम्भ, अध्यंगन—तैल, उबटन आदि के मर्दन, परिमर्दन—तैल आदि को अंगों के भीतर तक पहुँचाने हेतु किये जाने वाले विशेष मर्दन, उद्भलन—उलटे रूप में—नीचे से ऊपर या उलटे रोओं से किये जाते मर्दन से जो गुण, लाभ होते हैं, उनका निष्पादन करने में समर्थ थे, हृड़ियों के लिए सुखप्रद, मांस के लिए सुखप्रद, चमड़ी के लिए सुखप्रद तथा रोमों के लिए सुखप्रद—यों चार प्रकार से मालिश व देहचंपी करवाई, शरीर को दबवाया।

इस प्रकार थकावट, व्यायामजनित परिश्रान्ति दूर कर राजा व्यायामशाला से बाहर निकला। बाहर निकल कर, जहाँ स्नानघर था, वहाँ प्राया। आकर स्नानघर में प्रविष्ट हुआ। वह (स्नानघर) मोतियों से बनी जालियों द्वारा सुन्दर लगता था अथवा सब और जालियाँ होने से वह बड़ा मनोरम था। उसका प्रांगण तरह-तरह की मणियों, रत्नों से खचित था। उसमें रमणीय स्नान-मंडप था। उसकी भीतों पर अनेक प्रकार की मणियों तथा रत्नों को चिन्नात्मक रूप में जड़ा गया था। ऐसे स्नानघर में प्रविष्ट होकर राजा वहाँ स्नान हेतु अवस्थापित चौकी पर सुखपूर्वक बैठा। शुद्ध, चन्दन आदि सुगन्धित पदार्थों के रस से मिश्रित, पुष्परस-मिश्रित शुभ या सुखप्रद—न ज्यादा उष्ण, न ज्यादा शीतल जल से आनन्दप्रद, अतीव उत्तम स्नान-विधि द्वारा पुनः पुनः—अच्छी तरह स्नान किया। स्नान के अनन्तर राजा ने दृष्टिदोष, नजर आदि के निवारणहेतु रक्षाबन्धन आदि के रूप में अनेक, संकड़ों विश्व-विश्वान संपादित किये। तत्पश्चात् रोएँदार, सुकोमल, काषायित—हरीतकी, विभीतक, आमलक आदि कसंली वनोंवशियों से रंगे हुए अथवा काषाय—लाल या गेहूं रंग के बहत्र से शरीर को पोंछा। सरस—रसमय—आद्र, सुगन्धित गोलोचन तथा चन्दन का देह पर लेप किया। अहत—अदूषित, चूहों आदि द्वारा नहीं कुतरे हुए, निर्मल, द्रुष्टरत्न—उत्तम या प्रधान वस्त्र भवीभाति पहने। पदित्र माला धारण की। केसर आदि का विलेपन किया। मणियों से जड़े सोने के आभूषण पहने। हार—अठारह लड़ों के हार, अर्धहार—नील लड़ों के हार, तथा तीन लड़ों के हार और लम्बे, लटकते कटिसूत—करधनी या कंदोरे से अपने को सुशोभित किया। गले के आभूषण धारण किये। अंगुलियों में अंगूठियाँ पहनी। इस प्रकार अपने सुन्दर अंगों को सुन्दर आभूषणों से सुशोभित किया। उत्तम कंकणों तथा त्रुटियों—तोड़ों—भुजबंधों द्वारा भुजाओं को स्तम्भित किया—कसा। यों राजा की शोभा और अधिक बढ़ गई। मुद्रिकाओं—सोने की अंगूठियों के कारण राजा की अंगुलियाँ पीली लग रही थीं। कुड़लों से सुख उद्योतित था—चमक रहा था। मुकुट से मस्तक

बोप्त—देदीप्यमान था । हारों से ढका हुआ उसका वक्षःस्थल सुन्दर प्रतीत हो रहा था । राजा ने एक सम्बोधन के लिए उत्तरीय (दुष्टट) के रूप में धारण किया । सुयोग्य शिलिप्यों द्वारा मणि, स्वर्ण, रत्न—इनके योग से सुरचित विमल—उज्ज्वल, महार्ह—बड़े लोगों द्वारा धारण करने योग्य, सुशिलिष्ट—सुन्दर जोड़ युक्त, विशिष्ट—उत्कृष्ट, प्रशस्त—प्रशंसनीय आकृतियुक्त वीरवलय—दिव्यकंकण धारण किया । अधिक क्या कहें, इस प्रकार श्रलंकृत—श्रलंकारयुक्त, विभूषित—वेषभूषा, विशिष्ट सज्जायुक्त राजा ऐसा लगता था, मानो कल्पवृक्ष हो । अपने ऊपर लगाये गये कोरंट पुष्टों की मालाओं से युक्त छत्र, दोनों ओर डूलाये जाते चार चंचर, देखते ही लोगों द्वारा किये गये मंगलमय जय शब्द के साथ राजा स्नान-गृह से बाहर निकला । स्तानघर से बाहर निकल कर अनेक गणनायक—जनसमुदाय के प्रतिनिधि, दण्डनायक—आरक्षि-ग्रधिकारी, राजा—माण्डलिक नरपति, ईश्वर—ऐश्वर्यशाली या प्रभावशील पुरुष, तलवर—राजसम्मानित विशिष्ट नागरिक, माझिक—जागीरदार, भूस्वामी, कौटुम्बिक—बड़े परिवारों के प्रमुख, इधर—वैभवशाली, श्रेष्ठी—सम्पत्ति और सुव्यवहार से प्रतिष्ठा प्राप्त सेन, सेनापति, सार्थकाह—अनेक छोटे व्यापारियों को साथ लिये देशान्तर में व्यापार-व्यवसाय करने वाले, दूत—संदेशवाहक, सन्धिपाल—राज्य के सीमान्त-प्रदेशों के अधिकारी—इन सबसे चिरा हुआ वह राजा धबल महामेघ—श्वेत, विशाल बादल से निकले नक्षत्रों, आकाश को देदीप्यमान करते तारों के मध्यवर्ती चन्द्र के सदृश देखने में बड़ा प्रिय लगता था । वह, वहाँ बाहरी सभा-भवन था, प्रधान हाथी था, वहाँ आया । वहाँ आकर अंजनगिर के शिल्पर के समान विशाल, उच्च गजपति पर वह नरपति आरूढ़ हुआ ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में राजा कूणिक के भारीर की मालिश के प्रसंग में शतपाक तथा सहस्रपाक तैलों का उल्लेख हुआ है । वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने अपनी वृत्ति में तीन प्रकार से इनकी व्याख्या की है । उनके अनुसार जो तैल विभिन्न औषधियों के साथ क्रमशः सौ बार तथा हजार बार पकाये जाते थे, वे शतपाक तथा सहस्रपाक तैल कहे जाते थे । दूसरी व्याख्या के अनुसार जो क्रमशः सौ प्रकार की तथा हजार प्रकार की औषधियों से पकाये जाते थे, वे शतपाक एवं सहस्रपाक तैल के नाम से संक्षिप्त होते थे । तीसरी व्याख्या के अनुसार जिनके निमिण में क्रमशः सौ काषायिण तथा हजार काषायिण व्यय होते थे, वे शतपाक एवं सहस्रपाक तैल कहे जाते थे ।

काषायिण प्राचीन भारत में प्रयुक्त एक सिक्का था । वह सोना, चाँदी तथा तीव्रा—इनका पृथक्-पृथक् तीन प्रकार का होता था । स्वर्ण-काषायिण का वजन १६ मासे, रजत-काषायिण का वजन १६ पण (तोलविशेष) और ताम्र-काषायिण का वजन ८० रत्ती होता था ।^१

इस सूत्र में राजा के पारिपाश्विक विशिष्ट पुरुषों में सबसे पहले गणनायक शब्द का प्रयोग हुआ है । तत्कालीन साहित्य में गण शब्द विशेष रूप से जन-समूह के अर्थ में प्रयुक्त दिखाई देता है । यहाँ संभवतः वह ऐसे व्यक्तियों के लिए प्रयुक्त हुआ हो, जो आज की भाषा में स्वायत्त-शासन (Local Self-Government) के—पंचायतों, नगरपालिकाओं आदि के प्रतिनिधि रहे हों ।

प्रस्थान

४९—तए णं तस्त फूणियस्त रणो भंसारपुत्रस्स प्राभिसेवकं हस्थिरथणं दुरुष्टस्स समाप्तस्स

तथाण्डमयाए इमे अद्भुत मंगलमा पुरओ अहाणुपुव्वोए संपट्टिया । तं जहा—सोचत्थिय-सिरिदच्छ
वंदियावस-वद्वाणग-महासण-कलस-मच्छ-इष्पणा ।

तयाण्ंतरं च णं पुण्णकलसभिगारं, दिव्वा य छत्पडागा सचामरा, वंसणरहयमालोयदि-
सणिज्जा बाड्डुयविजयवेजयंतो य, ऊसिया गगणतलमणुलिहंसी पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्टिया ।
तयाण्ंतरं च णं वेहलियभिसंतविमलदंडं, पलंबकोरटमहलबामोवसोभियं, चंदमण्डलणिभं, समूसियं,
विमल आयवत्तं, पवरं सोहासणं वरमणिरयणपादपीडं, सपाड्याजोयसमाडत्तं, बहुकिकरकम्भकरपुरिस-
पायत्तपरिकिखातं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्टियं ।

तयाण्ंतरं च णं बहवे लट्टिगाहा कुंतरगाहा चावगाहा चामरगाहा वासगाहा वोस्यगाहा
फलगगाहा पोडगाहा बोणगाहा कूवगाहा हुडप्पगगाहा पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्टिया ।

तयाण्ंतरं च णं बहवे वंडिणो मुंडिणो सिहंडिणो जडिणो विच्छिणो हासकरा डमरकरा
आडुकरा बादकरा कंवप्पकरा दवकरा कोकुइया किङ्करकरा य, वायंता य गायंता य हसंता य
गच्छंता य भासंता य सावेता य रक्खंता य रवेता य शालोयं च करेमाणा, जयमदं पउंजमाणा पुरओ
अहाणुपुव्वीए संपट्टिया ।

तयाण्ंतरं च णं जक्काणं सरमतिलहायणाणं हरिमेलामउलमलियच्छाणं चंचुच्चिवय-लसिय-
पुलियचल-ववल-चंचलगईणं, लंघण-वग्गण-धावण-घोरण-तिवई-जहणसिविषयगईणं, सलंत-साम-
गललायवरभूसणाणं, मुहभंडग-ओचूलग-धसग-जहिलाण-चामर-गण्ड-परिमणिहयकडीणं, किकरवर-
तरणपरिगहियाणं अद्भुत्यं वरतुरगाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्टियं ।

तयाण्ंतरं च णं ईसोदंताणं ईसोमसाणं ईसोतुंगाणं ईसोज्जलंगविसालधवलदंताणं कंचणकोसो-
पविद्वंताणं कंचणमणिरयणभूसियाणं, वरपुरिसारोहगसंपउत्ताणं अद्भुत्यं गयाणं पुरओ अहाणुपुव्वीए
संपट्टियं ।

तयाण्ंतरं च णं सच्छुत्ताणं सज्जयाणं सघंटाणं सपडागाणं सतोरप्पवराणं सञ्चिद्घोसाणं-
सञ्चिद्धिणीजालपरिकिखताणं हेमवयचित्ततिणिसकणगणिजुतदारुयाणं, कालायससुक्यणेमिजंतकम्पाणं,
सुसिलिद्व-वस्तमंडलधुराणं, आहण्णवरतुरगसंपउत्ताणं, कुसलनरच्छेयसारहिसुसंपग्गहियाणं बत्तीसतोण-
परिमणियाणं सकंकडवडेसगाणं सञ्चावसरपहरणावरण-मरियजुद्धसज्जाणं अद्भुत्यं रहाणं पुरओ अहाणु-
पुव्वीए संपट्टियं । तयाण्ंतरं च णं असि-सत्ति-कुंत तोमर-सूल-लज्ज-भिडिमाल-घणुपाणिसज्जं
पायसाणीयं पुरओ अहाणुपुव्वीए संपट्टियं ।

४९.—तब भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के प्रधान हाथी पर बधार हो जाने पर सबसे पहले
स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वद्वमानक, भद्रासन, कलश, मत्स्य तथा दर्पण—ये आठ मंगल क्रमशः
रखना किये गये ।

उसके बाद जल से परिपूर्ण कलश, झारियाँ, दिव्य छत्र, पताका, चंवर तथा दर्शन-रचित-
राजा के दृष्टिपथ में अवस्थित—राजा को दिखाई देने वाली, आलोक-दर्शनीय—देखने में सुन्दर
प्रतीत होने वाली, हवा से फहराती, उच्छृत-ऊँची उठी हुई, मानो आकाश को छूती हुई-सी
विजय-वैजयन्ती—विजय-छवजा लिये राजपुरुष चले ।

तदनन्तर वैदूर्य—नीलम की प्रभा से देवीप्यमान उज्ज्वल दंडयुक्त, लटकती हुई कोरंट-पुष्पों की मालाओं से सुशोभित, चतुरमहज के सदृश आभास्य, समुच्छृत—ऊँचा फैलाया हुआ निर्मल आतपत्र—धूप से बचाने वाला—छत्र, अति उत्तम सिहासन, श्रेष्ठ मणि-रत्नों से विभूषित—जिसमें मणियाँ तथा रत्न जड़े थे, जिस पर राजा की पादुकाओं की जोड़ी रखी थीं, वह पादपीठ—राजा के पैर रखने का पीढ़ा, चौकी, जो (उक्त वस्तु-समवाय) किङ्करों—ग्राजा कीजिए, क्या करें—हरदम यों आज्ञा-पालन में तत्पर सेवकों, विभिन्न कार्यों में नियुक्त भूत्यों तथा पदातिथों—पैदल चलने वाले लोगों से घिरे हुए थे, क्रमशः आगे रवाना किये गये।

तत्पश्चात् बहुत से लष्टिग्राह—लट्ठीधारी, कुन्तग्राह—भालाधारी, चापग्राह—धनुधारी, चमरग्राह—चंद्र लिये हुए, पाशग्राह—उद्धत घोड़ों, बैलों को नियन्त्रित करने हेतु चाबुक आदि लिये हुए अथवा पासे आदि चूत-सामग्री लिये हुए, पुस्तकग्राह—पुस्तकधारी इन्थ लिये हुए अथवा हिसाब-किताब रखने के बहीखाले आदि लिये हुए, फलकग्राह—काष्ठपट्ट लिये हुए, पीठग्राह—आसन लिये हुए, वीणाग्राह—वीणा धारण किये हुए, कूप्यग्राह-पक्व तैलपात्र लिये हुए, हड्डपयग्राह—द्रम्म नामक सिक्कों के पात्र अथवा ताम्बूल—पान के मसाले, सुपारी आदि के पात्र लिये हुए पुरुष यथाक्रम आगे रवाना हुए।

उसके बाद बहुत से दण्डी—दण्ड धारण करने वाले, मुण्डी—सिरभुण्डे, शिखण्डी—शिखाधारी, बटी—जटाधारी, पिच्छी—भयुरपिच्छ—मोरपंख आदि धारण किये हुए, हासकर—हास-परिहास करने वाले—विदूषक, डमरकर—हल्लेबाज, चाटुकर—खुशामदी—खुशामदयुक्त प्रिय बचन बोलने वाले, बादकर—बादविवाद करने वाले, कन्दर्पकर—कामुक या शृंगारी चेष्टाएँ करने वाले, दबकर—मजाक करने वाले, कोरकुचिक—भाँड आदि, क्रीडाकर—खेल-तमाशे करने वाले, इनमें से कतिपय बजाते हुए—तालियाँ पीटते हुए अथवा बाद्य बजाते हुए, गते हुए, हंसते हुए, नाचते हुए बोलते हुए, सुनाते हुए, रक्षा करते हुए, श्रवलोकन करते हुए, तथा जय शब्द का प्रयोग करते हुए—जय बोलते हुए यथाक्रम आगे बढ़े।

तदनन्तर जात्य—उच्च जाति के—ऊँची नसल के एक सौ आठ घोड़े यथाक्रम रवाना किये गये। वे वेग, शक्ति और स्फूर्ति मय वय—यीवन वय में स्थित थे। हरिमेला नामक वृक्ष की कली तथा मलिलका—चमेली के पुष्प जैसी उनकी आँखें थीं। तोते की चौंच की तरह बक—टेढ़े पैर उठाकर वे शान से चल रहे थे अथवा चञ्चुरित—कुटिल ललित गतियुक्त थे। वे चपल, चंचल चाल लिये हुए थे अथवा उनकी गति विजली के सदृश चंचल—तीव्र थी। गड़े आदि लांघना, ऊँचा कूदना, तेजी से सीधा ढौड़ना, चतुराई से ढौड़ना, भूमि पर तीन पैर टिकाना, जयिनी संज्ञक सर्वातिशायिनी तेज गति से ढौड़ना, चलना इत्यादि विशिष्ट गतिश्रम वे सीखे हुए थे। उनके गले में पहने हुए, श्रेष्ठ आशूषण लटक रहे थे। मुख के आशूषण अवचूलक—मस्तक पर लगाई गई कलंगी, दंपण की आकृति-युक्त विशेष अलंकार, अभिलान—मुखबन्ध या भोरे (मोहरे) बड़े सुन्दर दिखाई देते थे। उनके कटिभाग चामर-दण्ड से सुशोभित थे। सुन्दर, तरुण सेवक उन्हें थामे हुए थे।

तत्पश्चात् यथाक्रम एक सौ आठ हाथी रवाना किये गये। वे कुछ कुछ मत्त—मदमस्त एवं उश्शत थे। उनके दाँत (तरुण होने के कारण) कुछ कुछ बाहर निकले हुए थे। दाँतों के पिछले भाग

कुछ विशाल थे, धबल—अति उज्जवल, श्वेत थे । उन पर सोने के खोल चढ़े थे । वे हाथी स्वर्ण, मणि तथा रत्नों से—इनसे निमित आभरणों से शोभित थे । उत्तम, सुयोग्य महाबत उन्हें चला रहे थे ।

उसके बाद एक सौ शाठ रथ यथाक्रम रवाना किये गये । वे छत्र, छवज—गद्ध आदि चिह्नों से युक्त झण्डे, पताका—चिह्नरहित झण्डे, घण्टे, सुन्दर तोरण, नन्दिघोष—बारह प्रकार की वाञ्छवनि^१ से युक्त थे । छोटी छोटी घंटियों से युक्त जाल उन पर फैलाये हुए—लगाये हुए थे । हिमालय पर्वत पर उत्पन्न तिनिश—शीशम-विशेष का काठ, जो स्वर्ण-खचित था, उन रथों में लगा था । रथों के पहियों के घेरों पर लोहे के पट्टे चढ़ाये हुए थे । पहियों की घुराएँ गोल थी, सुन्दर, सदृढ़ बनी थी । उनमें छंटे हुए, उत्तम श्रेणी के घोड़े जुते थे । सुयोग्य, सुशिक्षित सारथियों ने उनकी बागडोर सम्हाल रखी थी । वे बत्तीस तरकशों से सुशोभित थे—एक एक रथ में बत्तीस बत्तीस तरकश रखे थे । कवच, शिरस्त्राण—शिरोरक्षक टीप, धनुष, बाण तथा अन्यान्य शस्त्र उनमें रखे थे । इस प्रकार वे युद्ध-सामग्री से सुसज्जित थे ।

तदनन्तर हाथों में तलवारें, शक्तियाँ—त्रिशूल, कुन्त—भाले, तोमर—लोह-दंड, शूल, लट्ठियाँ भिन्निमाल—हाथ से फेंके जानेवाले छोटे भाले या गोफिये, जिनमें रखकर पत्थर फेंके जाते हैं तथा धनुष धारण किये हुए सैनिक क्रमशः रवाना हुए—आगे बढ़े ।

विवेचन—चतुरंगिणी सेना, उच्च अधिकारी, संधान्त नागरिक, सेवक, किञ्चुर, भूत्य, राज-वैभव की घनेरुद्धिमजजा के साथ इन सदसे सुसज्जित बहुत बड़े जल्लूस के साथ भगवान् महाबीर के दर्शन हेतु राजगृह-नरेश कूणिक, जो बोढ़ वाड़मय में अजातशत्रु के नाम से प्रसिद्ध है, जो अपने युग का उत्तर भारत का बहुत बड़ा नृपति था, रवाना होता है । जैन आगम-वाड़मय में अन्यत्र भी प्रायः इसी प्रकार के वर्णन हैं, जहाँ सञ्चाट, राजा सामन्त, श्रेष्ठी आदि भौतिक सत्ता, वैभव एवं समृद्धिसम्पन्न पुरुष भगवान् के दर्शनार्थ जाते हैं । प्रश्न होता है, अध्यात्म से अनुप्रेरित हो, एक महान् तंपस्वी, महान् ज्ञानी की सक्षिधि में जाते समय यह सब क्यों आवश्यक प्रतीत होता है कि ऐसी प्रदर्शनात्मक, आडम्बरपूर्ण साजसज्जा के साथ कोई जाए ? सीधा-सा उत्तर है, राजा का रुतबा, गरिमा, शक्तिमत्ता जन-जन के समक्ष परिदृश्यमान रहे, जिसके कारण राजप्रभाव अक्षुण्ण बना रह सके । किसी दृष्टि से यह ठीक है पर यहराई में जाने पर एक बात और भी प्रकट होती है । ऐसे महान् साधक, जिनके पास भौतिक सत्ता, स्वामित्व, समृद्धि और परिघ्रह के नाम पर कुछ भी नहीं है, जो सर्वथा अकिञ्चन होते हैं पर जो कुछ उनके पास होता है, वह इतना महान्, इतना पावन तथा इतना उच्च होता है कि मारे जागतिक वैभवसूचक पदार्थ उसके समक्ष तुच्छ एवं नगम्य है । यथार्थ के जगत् में त्याग के आगे भोग की गणना ही वया ! जहाँ त्याग आत्म-पराक्रम या शक्तिमत्ता का संस्फोट है, परम सशक्त अभिव्यञ्जना है, वहाँ भोग जीवन के दौर्बल्य और शक्तिशूल्यता का सूचक है । अत एव जैसा ऊपर वर्णित हुआ है, भोग त्याग के आगे—समक्ष भुक्ति जाता है । इसलिए कहा जाता है कि जन-जन यह जान सके कि जिस भौतिक विभूति तथा भोगासक्ति में वे मदोन्मत्त रहते हैं, वह सब मिथ्या है, वह वैभव भी, वह मदोन्माद भी । सम्भव है, ऐसा ही कुछ उच्च एवं आदर्श भाव इस परम्परा के साथ जुड़ा हो ।

१. १. भंभा २. मर्दद ३. महल ४. कडंब ५. भल्लरि ६. हुडुका ७. कंसाला । ८. काहल ९. तलिथा १०. वंसो ११. संखो १२. पण्डो म बारमधो ॥ ।

५०—तए ण से कूणिए राया हारोत्थयसुक्यरद्यवच्छे कुंडलउज्जोवियाणो मउडवित्सिरए नरसीहे गरवई णरिवे गरवसहे मण्यरायवसभक्ष्ये ग्रवमहियं रायतेयसक्षीए विष्पमाणे, हस्यवस्थ-धवरगए, सकोरेटमल्लवामेण छत्तेषं धरिउज्जमाणेण, सेयवरथामराहि उद्गवमाणीहि उद्गवमाणीहि वेसमणे खेव गरवई अमरवहसण्णमाए इड्डीए पहियकिसी हव-गय-रह-पवरजोहकलियाए चाउरंगिणीए सेणाए समणुगम्ममाणमगे जेणव पुण्णभवदे खेइए, तेणेव पहारेत्थ गमणाए ॥

५०—तब नरसिंह—मनुष्यों में सिंहसदृश शीर्षशाली, नरपति—मनुष्यों के स्वामी—परिपालक, नरेन्द्र—मनुष्यों के हन्द्र—परम ऐश्वर्यशाली अधिपति, नरवृषभ—मनुष्यों में बृषभ के समान स्वीकृत कायं-भार के निवाहिक, मनुजराजवृषभ—नरपतिमों में वृषभसदृश परम धीर एवं सहिष्णु चक्रवर्ती तुल्य—उत्तर भारत के आधे भाग को साधने में—स्वायत्त करने में संप्रवृत्त, भंभसारपुत्र राजा कूणिक ने जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ जाने का विचार किया, प्रस्थान किया । अश्व, हस्ती, रथ एवं पैदल—इस प्रकार चतुरंगिणी सेना उसके पीछे-पीछे चल रही थी ।

राजा का वक्षस्थल हारों से व्याप्त, सुशोभित तथा प्रीतिकार था । उसका मुख कुण्डलों से उद्धोतित—शूतिमय था । मस्तक मुकुट से देवीपूर्णमान था । राजोचित तेजस्वितारूप लक्ष्मी से वह अत्यन्त दीप्तिमय था । वह उत्तम हाथी पर आरूढ हुआ । कोरंट के पुष्पों की मालाओं से युक्त छत्र उस पर तना था । श्रेष्ठ, श्वेत चंचर ढुलाये जा रहे थे । वैश्वमण—यक्षराज कुबेर, नरपति—चक्रवर्ती, अमरपति—देवराज इन्द्र के तुल्य उसकी समृद्धि सुप्रशस्त थी, जिससे उसकी कीर्ति विश्वुत थी ।

५१—तए ण तस्स कूणियस्त रणो भंभसारपुत्तस्स पुरमो महं आसा, आसवरा, उभमो पासि आगा, आगवरा, पिटुओ रहसंगेलिल ।

५१—भंभसार के पुत्र राजा कूणिक के आगे बड़े-बड़े घोड़े और घुड़सवार थे । दोनों ओर हाथी तथा हाथियों पर सवार पुरुष—महावत थे पीछे रथ-समुदाय था ।

५२—तए ण से कूणिए राया भंभसारपुते अहम्मायमिगारे, पगहियतालयटे, ऊसविय-सेयच्छुते, पवीइयवालवीयणीए, सच्चिद्गुप्तीए, सब्दजुतीए सब्दवलेण, सब्दवसमुवएण, सब्दवाक्तरेण, सब्दविभूईए, सब्दविसूसाए सब्दवसंभवेण, सब्दपुरुषगंधमल्लालंकारेण, सब्दसुडियसद्वसण्णणाएण, महया इड्डीए, महया जुईए, महया छलेण, महया समुदएण, महया वरतुडियजग्गगसमगप्तवाइएण संख-पणव-पवह-मेरि-महल्लरि-जारमुहि-हुडुक-मुरव-मुञ्ज-कुंदुहि-णिरघोसणाहयरवेण चंपाए णयरोए मजसंमजसेण णिरभावद्यह ॥

५२—तदनन्तर भंभसार का पुत्र राजा कूणिक चम्पानगरी के बीचोंबीच होता हुआ आगे बढ़ा । उसके आगे-आगे जल से भरी भारियों लिये पुरुष चल रहे थे । सेवक दोनों ओर पंखे भल रहे थे । ऊपर सफेद छत्र तना था । चंचर ढोले जा रहे थे । वह सब प्रकार की समृद्धि, सब प्रकार की दृति—आभा, सब प्रकार के सैन्य, समुदय—सभी परिजन, समादरपूर्ण प्रयत्न, सर्वविभूति—सब प्रकार के वैभव, सर्वविभूषा—सब प्रकार की वेशभूषा—वस्त्र, आभरण आदि ढारा सज्जा, सर्वसद्भ्रम—स्नेहपूर्ण उत्सुकता, सर्व-पुष्प गन्धमाल्यालंकार—सब प्रकार के फूल, सुगन्धित फदार्थ, फूलों की मालाएं, अलंकार या फूलों की मालाओं से निर्मित आभरण, सर्व तूर्यशब्द-सञ्जिपात—

सब प्रकार के वाचों को छवनि-प्रतिष्ठवनि, महाकृष्ण—अपने विशिष्ट वैभव, महाद्युति—विशिष्ट आभा, महाबल—विशिष्ट सेना महामालुदय—जहाँ विशिष्ट परिवाहिव जन-समुदाय से सुशोभित था तथा शंख, पणव—पात्र-विशेष पर महे हुए ढोल, पटह—बड़े ढोल, छोटे ढोल, भेरी, झालर, खरभुही—वाद्य, हुडुक—वाद्य विशेष, मुरज—ढोलक, मृदंग तथा दुन्दुभि—नगाड़े एक साथ विशेष रूप से बजाए जा रहे थे ।

४३—तए णं तस्स कूणियस्स रणो चंपाए ण्यरीए मज्जंमञ्ज्ञेण निगाच्छमाणस्स बहुवे अत्यस्थिया, कामत्थिया, भोगत्थिया लाभत्थिया किल्विसिया, करोडिया, कारवाहिया, संखिया, खंडिकया, लंगलिया, मुहमंगलिया, बद्धमाणा, पूसमाणया, खंडियगणा ताहि इट्टाहि कंताहि पियाहि मणुण्णाहि मणामिरामाहि हियगमणिज्जाहि बगूहि जयदिजगमंगलसप्तहि अणवरय अभिण्णंदंता य अभित्युण्णंता य एवं व्यासी—जय जय णंदा ! जय जय भदा ! भद्रं ते अजियं जिणाहि, जियं च पालेहि, जियमज्जे वसाहि । इन्होंने इव वेवाणं, चमरो इव असुराणं, धरणो इव नागाणं, चंदो इव ताराणं, भरहो इव मणुयाणं बहुइ वासाइ, बहुइ वाससयाइ, बहुइ वाससहस्राइ अणहसमागो, हड्डुहु वरमाजं पालयाहि, इट्टजणसंपरिद्वुडो चंपाए ण्यरीए अण्णेसि च बहुणं गामागर-ण्यर-खेड-कबबड-बोणमुह-मडंब-पट्टण-आसम-निगम-संवाह-संनिवेसाणं आहेवच्चं, पोरेवच्चं, सामितं, भट्टितं, महसरगतं, आणाईसरसेणावच्चं कारेमाणे, पालेमाणे महयाहयनद्वयवाहयततीतलतालतुङ्गियघणमु-अंगपट्टवाहयरवेण विउलाइ भोगभोगाइ भुजमाणे विहराहिति कट्टु जय जय सहं पउंजंति ।

४३—जब राजा कूणिक चंपा नगरी के बीच से गुजर रहा था, बहुत से अस्थर्थी—धन के अभिलाषी, कामार्थी—सुख या मनोज्ज शब्द तथा सुन्दर रूप के अभिलाषी, भोगार्थी—सुखप्रद गन्ध, रस एवं स्पर्श आदि के अभिलाषी, लाभार्थी—मात्र भोजन आदि के अभिलाषी, किल्विषिक—भांड आदि, कापालिक—खप्पर धारण करने वाले भिक्षु, करबाधित—करपीडित—राज्य के कर आदि से कट्ट पाने वाले, शांखिक—शंख बजाने वाले, चाकिक—चक्रधारी, लंगलिक—हल चलाने वाले कृषक, मुखमांगलिक—मुह से मंगलमय शुभ वचन बोलने वाले या खुशामदी, वर्षमान—ओरों के कन्धों पर स्थितपुरुष, पूष्यमानव—मागध—भाट, चारण आदि स्तुतिगायक, खंडिकगण—छात्र-समुदाय, इष्ट—वाचिक्षत, कान्त—कमनीय, प्रिय—प्रीतिकर, मनोज्ज—मनोनुकूल, मनाम—चित्त को प्रसन्न करने वाली, मनोभिराम—मन को रमणीय लगाने वाली तथा हृदयगमनीय—हृदय में आनन्द उत्पन्न करने वाली वाणों से एवं जय विजय आदि सैकड़ों मांगलिक शब्दों से राजा का अनवरत—बगातार अभिनन्दन करते हुए, अभिस्तवन करते हुए—प्रशस्ति कहते हुए इस प्रकार बोले—जन-जन को आनन्द देने वाले राजन् ! आपकी जय हो, आपकी जय हो । जन-जन के लिए कल्याण-स्वरूप राजन् ! आप सदा जयशील हों । आपका कल्याण हो । जिन्हें नहीं जीता है, उन पर आप विजय प्राप्त करें । जिनको जीत लिया है, उनका पालन करें । उनके बीच निवास करें । देवों में हन्त्र की तरह, असुरों में चमरेन्द्र की तरह, नागों में धरणेन्द्र की तरह, तारों में चन्द्रमा की तरह, मनुष्यों में चक्रवर्ती भरत की तरह आप अनेक वर्षों तक, अनेक शत वर्षों तक, अनेक सहस्र वर्षों तक, अनेक लक्ष वर्षों तक अनवसामग्र—सर्व प्रकार के दोष या विघ्न रहित अथवा संपत्ति, परिवार आदि से सर्वथा सम्पन्न, हृष्ट, तुष्ट रहें और उत्कृष्ट आयु प्राप्त करें । आप अपने इष्ट—प्रिय जन सहित चंपानगरी के तथा अन्य बहुत से ग्राम, आकर—नगक आदि के उत्पत्ति स्थान, नगर—जिनमें कर नहीं लगता हो,

ऐसे शहर, स्टेट-धूल के परकोटों से युक्त गाँव, कर्बट-ग्रामि साधारण कस्बे, द्रोण-मुख—जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से युक्त स्थान, मढ़ब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बड़े नगर, जहाँ या तो जलमार्ग से या स्थलमार्ग से जाना संभव हो, आश्रम—तापसों के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, संवाह—पर्वत की तलहटी में बसे गाँव, सत्तिवेश भौंपड़ियों से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान—इन सबका आधिपत्य, पौरोवृत्त्य—अग्रेसरता या आगेवानी, स्वामित्व, भर्तृत्व प्रसूत्व, महसूरत्व—आदिभायकत्व, आज्ञेश्वरत्व-सेनापत्य—जिसे आज्ञा देने का सर्व अधिकार होता है, ऐसा सेनापत्य—सेनापतित्व—इन सबका सर्वाधिकृत रूप में पालन करते हुए निबाधि—निरन्तर अविच्छिन्न रूप में नृत्य, गीत, वाद्य, वीणा, करताल, तूर्म—तुरही एवं घनमृदंग—बादल जैसी आवाज करने वाले मृदंग के निषुणतापूर्ण प्रयोग द्वारा निकलती मुन्दर छवनियों से आनन्दित होते हुए, बिपुल—प्रकुर—अत्यधिक भोग भोगते हुए मुखी रहें, यों कहकर उन्होंने जय-घोष किया ।

दर्शन-लाभ

५४—तए ण से कूणिए राया भंभसारपुत्ते नयणमालासहस्रेहि वेचिछुज्जमाणे वेचिछुज्जमाणे, हिययमालासहस्रेहि अभिण्डिज्जमाणे अभिण्डिज्जमाणे, उभझुज्जमाणे मणोरहमालासहस्रेहि विचिछुप्यमाणे विचिछुप्यमाणे, वयणमालासहस्रेहि अभियुध्वमाणे अभियुध्वमाणे, कंति-सोहगगुणेहि परिथुज्जमाणे पत्तिज्जमाणे, बहूणे नरनारिसहस्रसाणं दाहिणहृथेण अंजलिमालासहस्रसाइं पडिच्छुमाणे पडिच्छुमाणे, मंजुमंजुणा घोसेण पडिबुज्जमाणे पडिबुज्जमाणे, भवणपतिसहस्राइं समहञ्जुमाणे समहञ्जुमाणे चंपाए नयरीए भज्जसंमज्जेण निरगच्छइ, निरगच्छइत्ता जेणेव पुण्णभद्रे चेहए, तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छता समणस्स भगव्यो महावीरस्स अद्वरसामंते छताईए तित्थयराहसेसे पासइ, पासित्ता अभिसेवकं हृतिथरयणं ठवेह, ठवित्ता अभिसेवक्यो हृतिथरयण्यो पच्चोरहइ, पच्चोरहित्ता अवहृद्दु पंच रायकउहाइं, तं जहा खगं छतं उप्फेसं वाहणायो बालवीर्यणि, जेणेव समणे भगवं महावीरे तेणेव उवागच्छइ, उवागच्छता समणे भगवं महावीरं पंचविहेण अभिगमेण अभिगच्छइ । तं जहा—१ सचित्ताणं दृष्टाणं विश्वोसरणयाए, २ अचित्ताणं दृष्टाणं अविश्वोसरणयाए, ३ एगसाडियं उत्तरासंगकरणेण, ४ चक्षुफासे अंजलिपग्नहेण, ५ मणसो एगत्तीभावकरणेण समणे भगवं महावीरं तिव्युत्तो आयाहिणपयाहिणं करेह, करेत्ता वंदइ, वंदित्ता नमंसइ, नमंसित्ता तिविहाए पञ्जुवासणयाए पञ्जुवासइ, तं जहा—काइयाए, बाइयाए, माणसियाए । काइयाए—ताव संकुहयग्नहृथपाए सुस्स-समाणे णमंसमाणे अभियुहे दिणएणं पंजलित्ते पञ्जुवासइ । बाइयाए—‘जं जं भगवं वागरेह एवमेयं भंते ! तहमेयं भंते ! अवित्तहमेयं भंते ! असंदिद्धमेयं भंते ! इच्छयमेयं भंते ! पडिच्छयमेयं भंते ! इच्छयपडिच्छयमेयं भंते ! से जहेयं तुम्हे वदह’, अपडिकूलमाणे पञ्जुवासइ । माणसियाए—महयासंदेगं जणइसा तिव्यधम्माणुरागरसे पञ्जुवासइ ।

५५—भंभसार के पुत्र राजा कूणिक वा सहस्रों नर-नारी अपने नेत्रों से बार-बार दर्शन कर रहे थे । सहस्रों नर-नारी हृदय से उसका बार-बार अभिनन्दन कर रहे थे । सहस्रों नर-नारी अपने शुभ मनोरथ—हम इनकी सत्तिवेश में रह पाएं, इत्यादि उत्सुकतापूर्ण मनःकामनाएं लिये हुए थे । सहस्रों नर-नारी उसका बार-बार अभिस्तवन—गुणसंकीर्तन कर रहे थे । सहस्रों नर-नारी उसकी

कान्ति—देहदीप्ति, उत्तम सौभाग्य आदि गुणों के कारण—ये स्वामी हमें सदा प्राप्त रहें, बार-बार ऐसी अभिलाषा करते थे।

नर-नारियों द्वारा अपने हजारों हाथों से उपस्थापित अंजलिमाला—प्रणामांजलियों को अपना दाहिना हाथ ऊंचा उठाकर बार-बार स्वीकार करता हुआ, अत्यन्त कोभल वाणी से उनका कुशल पूछता हुआ, घरों की हजारों पत्तियों को लाघता हुआ राजा कूणिक चम्पा नगरी के बीच से निकला। निकल कर, जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आया। आकर भगवान् के न अधिक दूर न अधिक निकट—समुचित स्थान पर रहा। तीर्थकरों के छत्र आदि अतिशयों को देखा। देख कर अपनी सवारी के प्रमुख उत्तम हाथी को ठहराया, हाथी से नीचे उतरा, उतर कर तलबार, छत्र, मुकुट, चंवर—इन राज चिह्नों को अलग किया, जूते उतारे। भगवान् महाबीर जहाँ थे, वहाँ आया। आकर, सचित्त—मजोब पदाथों का व्युत्सर्जन—अलग करना, अचित्त—अजीब पदाथों का अव्युत्सर्जन—अलग न करना, अखण्ड—अनसिले वस्त्र का उत्तरासंग—उत्तरीय की तरह कथे पर ढालकर धारण करना, धर्म-नायक पर दृष्टि पड़ते ही हाथ जोड़ना, मन को एकाग्र करना—इन पांच नियमों के अनुपालनपूर्वक राजा कूणिक भगवान् के सम्मुख गया। भगवान् को तीन बार आदक्षिण—प्रदक्षिणा कर बन्दना की, नमस्कार कर कायिक, वाचिक, मानसिक रूप से पर्युपासना की। कायिक पर्युपासना के रूप में हाथों-पैरों को संकुचित किये हुए—सिकोड़े हुए, शुश्रूषा—सुनने को इच्छा करते हुए, नमन करते हुए भगवान् की ओर मुँह किये, विनय से हाथ जोड़े हुए स्थित रहा। वाचिक पर्युपासना के रूप में—जो-जो भगवान् बोलते थे, उसके लिए “यह ऐसा ही है भन्ते ! यही तथ्य है भगवन् ! यही सत्य है प्रभो ! यही सन्देह-रहित है स्वामी ! यही इच्छित है भन्ते ! यही प्रतीच्छित—स्वीकृत है, प्रभो ! यही इच्छित-प्रतीच्छित है भन्ते ! जैसा आप कह रहे हैं !” इस प्रकार अनुकूल बचन बोलता रहा। मानसिक पर्युपासना के रूप में अपने में अत्यन्त संवेग—मुमुक्षु भाव उत्पन्न करता हुआ नीचे धर्मनुराग से अनुरक्त रहा।

रातियों का सपरिजन आगमन, बन्दन

३५- तए णं तामो सुभद्रप्यमुहामो देवीमो अंतोअंतेउरंसि एहायामो जाव (कथबलिकाम्मामो कथकोउय-मंगल-पायच्छित्तामो), सव्वालंकारविमूसियामो बहूहि खुञ्जाहि चिलाईहि वामणोहि बढभीहि, बडबरीहि बउसियाहि जोणियाहि पह्लवियाहि ईसिणियाहि चारुणियाहि लउसियाहि सिहलोहि दमिलोहि आरबोहि पुलिदोहि पककणोहि बहलोहि मुरुडोहि सबरीहि पारसीहि णाणादेसीहि विदेसपरिमंडियाहि इंगियचितियपत्थियवियाणियाहि, सदेसणेवत्थगत्यवेसाहि चेदियाचक्कवालवरिसधरकं चुइज्जमहत्तरवं दपरिक्षित्तामो अंतेउरामो णिगच्छंति, णिगच्छित्ता जेणेव पाडियकक्जाणाइ, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता पाडियकक्जाणाइ जत्ताभिमुहाइ जुलाइ जाणाइ चुरुहंति, दुरुहित्ता णिगच्छित्ता पाडियकक्जाणाइ संपरिक्षुडामो चंपाए णयरीए मउभंमज्जेण णिगच्छंति, णिगच्छित्ता जेणेव पुण्णभद्रे चेणइ, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणस्स भगवमो महाबीरस्स अद्वरसामंते छत्तादीए तित्थयराइसेसे पासंति, पासित्ता पाडियकक्जाणाइ जाणाइ ठबेति, ठविस्ता जाणेहितो पच्चोरुहंति, पच्चोरुहित्ता बहूहि खुञ्जाहि जाव परिक्षित्तामो जेणेव समणे भगवं महाबीरे, तेणेव उवागच्छंति, उवागच्छित्ता समणं भगवं महाबीरं पंचविहेण अभिगमेण अभिगच्छन्ति । तं जहा—१ सचित्ताणं दव्वाणं विश्वोसरणयाए, २ अचित्ताणं दव्वाणं अविश्वोसरणयाए, ३ विष्मओ-

ण्याए मायलद्वीए, ४ चक्रुकासे अंजलिषमग्नेण, ५ मणसो एगालीभावकरणेण समणं भगवं महावीरं तिक्खुतो आयाहिणं पयाहिणं करेति, वंदति, णमंसंति, वंदिता, णमंसिसा कूणियरायं पुरमोक्तद्दु छिह्याओ खेब सपरिवारग्नो अभिमुहाओ विणएणं पंजलिडडाओ पञ्जुवासंति ॥

५५—तत्पश्चात् सुभद्रा आदि राजियों ने अन्तःपुर में स्नान किया; नित्य-नैमित्तिक कार्य किये। कौतुक—देह-सज्जा की दृष्टि से आँखों में काजल आंजा, ललाट पर तिलक लगाया, प्रायशिचत्त—दुःस्वप्नादि दोष-निवारण हेतु चन्दन, कुंकुम, दधि, अक्षत, आदि से भंगल-विधान किया। वे सभी अलंकारों से विभूषित हुईं।

फिर बहुत सी देश-विदेश की दासियों, जिनमें से अनेक कुबड़ी थीं; अनेक किरात देश की, थीं, अनेक बीमी थीं, अनेक ऐसी थीं, जिनकी कमर भुकी थीं, अनेक बर्बर देश की, बकुश देश की, गूनान देश की, पह्लव देश की, इसिन देश की, चारुकिनिक देश की, लासक देश की, लकुश देश की, सिहल देश की, द्रविड़ देश की, अरब देश की, पुलिन्द देश की, पक्कण देश की, बहल देश की, मुरुड देश की, शबर देश की, पारस देश की—यों विभिन्न देशों की थीं जो स्वदेशी—अपने-अपने देश की वेशभूषा से सजिज्ञ थीं, जो चिन्तित और अभिलिखित भाव को सकेत या चेष्टा मात्र से समझ लेने में विज्ञ थीं, अपने अपने देश के रीति-रिवाज के अनुरूप जिन्होंने बस्त्र आदि धारण कर रखे थे, ऐसी दासियों के समूह से चिरी हुई, वर्षधरों—नपुंसकों कंचुकियों—अन्तःपुर (जनानी ड्योढी) के पहरेदारों—तथा अन्तःपुर के प्रामाणिक रक्षाधिकारियों से चिरी हुई बाहर निकलीं।

अन्तःपुर से निकल कर सुभद्रा आदि राजियाँ, जहाँ उनके लिए अलग-अलग रथ खड़े थे, वहाँ आईं। वहाँ आकर अपने लिए अलग-अलग अवस्थित यात्राभिमुख गमनोदयत, जुते हुए रथों पर सवार हुईं। सवार होकर अपने परिजन वर्ग—दासियों आदि से चिरी हुई चम्पा नगरी के बीच से निकलीं। निकलकर जहाँ पूर्णभद्र चैत्य था, वहाँ आईं। आकर भगवान् महावीर के न अधिक दूर, न अधिक निकट—समुचित स्थान पर ठहरीं। तीर्थकरों के छप्र आदि अतिशयों को देखा। देखकर अपने अपने रथों को रुकवाया। रुकवाकर वे रथों से नीचे उतरीं। नीचे उतरकर अपनी बहुत-सी कुब्जा आदि पूर्वोक्त दासियों से चिरी हुई बाहर निकलीं। जहाँ श्रमण भगवान् महावीर थे, वहाँ आईं। आकर भगवान् के निकट जाने हेतु पौच प्रकार के अभिगमन—नियम जैसे सचित—वहाँ आईं। आकर भगवान् पर दृष्टि पढ़ते ही हाथ जोड़ना तथा मन को एकाग्र करना—विनय से नम्र करना—भुक्ताना, भगवान् पर दृष्टि पढ़ते ही हाथ जोड़ना तथा मन को एकाग्र करना—धारण किये। फिर उन्होंने तीन बार भगवान् महावीर को आदक्षिण-प्रदक्षिणा दी। वैसा कर वन्दन-धारण किया। वन्दन-नमस्कार कर वे अपने पति भगवान् कूणिक को आगे कर अपने परिजनों सहित भगवान् के सम्मुख विनयपूर्वक हाथ जोड़े पर्युपासना करने लगीं।

भगवान् द्वारा धर्म-देशना

५६ एत णं सधणे भगवं महावीरे कूणियस्स रथणो भंभसारपुत्तस्स सुभद्रापमुहाणं देवीणं तीसे य महतिभहालियाए परिसाए इसिपरिसाए, मुणिपरिसाए, जइपरिसाए, देवपरिसाए, अणेगसयाए, अणेगसयवंवाए, श्रणेगसयवंदपरिवाराए, श्रोहबले, श्रहबले, श्रपरिभियबलबीरियतेयमाहृष्य-कंतिज्ञते, सारय-णवस्थणिय-भहुर-गंभीर-कोंचणिगघोस-बुद्धिस्सरे, उरे वित्थडाए कंठे वट्टियाए जिरे

लग्नादिष्णाद् ग्रहारुपाद् स्वरम्भन्त्वा ए लुष्टक्षरसण्णिवाहयाए पुण्णरत्नाए सद्बभासाणुगामिणीए सरस्सहै जोवणणीहारिणा सरेण अद्भुतागहाए भासाए भासइ अरिहा धर्मं परिकहे॒इ । तेसि सब्बेसि आरियमणारियाणं अभिलाए धर्मं आइक्खइ, सावियणं अद्भुतागहा भासा तेसि सब्बेसि आरियमणारियाणं अप्पणो सभासाए परिणामेण परिणमइ ।

तं जहा—अत्थ लोए, अत्थ ग्रहोए, एवं जीवा, अजीवा, बंधे, मोक्षे, पुण्णे, पावे, आसवे, सवरे, वेयणा, णिउजरा, अरिहंता, चक्रवर्ती, ब्रह्मदेवा, वासुदेवा, नरगा, गोरक्षया, तिरिक्खजोणिया, तिरिक्खजोणियोग्रो, माया, पिया, रिसग्रो, देवा, देवलोया, तिद्धि, सिद्धि, परिणिष्ठाणे परिणिष्ठया ।

अत्थ, १ पाणाइवाए, २ मुसावाए, ३ अदिष्णादाणे, ४ मेहुणे, ५ परिगगहे; अत्थ ६ कोहे, ७ माणे, ८ माया, ९ लोभे, अत्थ जाव (१० पेउजे, ११ दोसे, १२ कलहे, १३ अबभाणे, १४ पेसुणे, १५ परपरिवाए, १६ अरक्षरई, १७ मायामोसे,) १८ मिच्छादंसणसल्ल ।

अत्थ पाणाइवायवेरमणे, मुसावायवेरमणे, अदिष्णादाणवेरमणे, मेहुणवेरमणे, परिगगहवेरमणे जाव (कोहवेरमणे, भाणवेरमणे, मायावेरमणे, लोभवेरमणे, पेउजवेरमणे, दोसवेरमणे, कलहवेरमणे, अबभवेरमणे, पेसुणवेरमणे, परपरिवायवेरमणे, अरक्षरइवेरमणे मायामोसवेरमणे) मिच्छादंसणसल्लविवेगे ।

सठवं अतिथभावं अतिथसि वयह, सञ्चवं णत्यभावं णत्यसि वयह, सुचिष्णा कम्मा सुचिष्णफला भवंति, बुचिष्णा कम्मा बुचिष्णफला भवंति, फुसइ पुण्णपावे, पञ्चायंति जीवा, सफले कल्लाणपावए ।

धर्ममाइक्खइ—इणमेव णिगणेष्य पादथणे सञ्चे, अणुत्तरे, केवलिए, संसुद्धे, पङ्किपुण्णे, झेयाउए, सह्लकत्तणे, सिद्धिभगे, सुस्तिभगे, णिवाणभगे, णिउजाणभगे, अवित्तहमविसंधि, सद्बदुक्खापहीणभगे । इहटुया जीवा सिज्जांति, बुज्जांति, मुठ्ठांति, परिणिष्ठायांति, सद्बदुक्खाणमतं करेति ।

एकच्चा पुण एगे भथंतारो पुल्वकम्मावसेसेणं आण्णधरेसु देवलोएसु वेवत्ताए उवबसारो भवंति, महद्विएसु जाव (महज्जडएसु, महब्बलेसु, महायसेसु,) महासुक्लेसु दूरंगइएसु चिरटुइएसु । तेणं तत्थ देवा भवंति महिडुया जाव महज्जुह्या, महब्बला, महायसा, महासुखा) चिरटुइया, हारविराइयवच्छा जाव (कडयतुडियथभियभुया, अंगयकुडलगंडयलकणपीडधारी, विचिसहृत्थाभरणा दिव्येण संघाएण दिव्येण संठाणेण, दिव्याए इह्वौए, दिव्याए जुईए, दिव्याए पभाए, दिव्याए छायाए, दिव्याए अच्चोए, दिव्येण तेएण, दिव्याए लेसाए वस दिसाग्रो उज्जोवेमाणा,) पभासेमाणा, कप्पोवगा, गतिकल्लाणा, आगमेसिभदा जाव (चित्तमाणदिया, पीहसणा, परमसोमणस्तिया, हरिसवसविसप्माण—) पङ्किलवा ।

तमाइक्खइ एवं खलु चउहि ठाणेहि जीवा गोरक्षयत्ताए कम्मं पकरेति, गोरक्षयत्ताए कम्मं पकरेता गोरक्षएसु उवधज्जंति तं जहा—१ महारंभयाए, २ महापरिगगहयाए, ३ यंच्चवियवहेण, ४ कुणिमाहारेण, एवं एएणं अभिलावेण । तिरिक्खजोणिएसु—१ माइत्तलयाए णिथडिल्लयाए, २ अलियवयणेण, ३ उवकंचणयाए, ४ वंचणयाए । मणुस्सेसु—१ पगइभह्याए, २ पगइविणीययाए, ३ साणुक्कोसयाए, ४ अमच्छरियपाए । देवेसु—१ सरागसंजमेण, २ संजमासंजमेण, ३ अकाधणिज्जराए, ४ बालतबोक्मेणं तमाइक्खइ—

जह णरणा गम्भंती जे णरणा जा य वेयणा णरए ।
 सारोरमाणुसाहं दुखाहं तिरिक्खजोणीए ॥१॥
 माणुस्सं च अणिच्चं वाहि-जरा-मरण-वेयणापञ्चरं ।
 देवे य देवलोए देविद्विं देवसोक्खाहं ॥२॥
 णरगं तिरिक्खजोणि माणुसभावं च देवलोगं च ।
 रिद्धे च रिद्धुषसहि छञ्जीवणियं परिकहेइ ॥३॥
 जह जीवा बज्ज्ञेती मुच्चंती जह य संकिलिस्तंति ।
 जह दुखाणं अंतं करेति कई अपडिबद्धा ॥४॥
 अद्वा अट्टियचित्ता जह जीवा दुखसागरमुबैति ।
 जह वेरम्मामुबगया कम्मसमुग्गं विहाडेति ॥५॥
 जह रागेण कङ्गाणं कम्माणं पाथयो फलविवागो ।
 जह य परिहीणकम्मा सिद्धा सिद्धालयमुबैति ॥६॥

५६—तत्पश्चात् श्रमण भगवान् महावीर ने भंभसारपुत्र राजा कूणिक, सुभद्रा आदि रानियों तथा महती परिषद् को धर्मोपदेश किया । भगवान् महावीर की धर्मदेशना सुनने को उपस्थित परिषद् में ऋषि—द्रष्टा—अतिशय ज्ञानी साधु, मुनि—मौनी या वाक् संयमी साधु, यति—चारित्र के प्रति अति यत्नशील श्रमण, देवगण तथा सेकड़ों-सेकड़ों श्रोताओं के समूह उपस्थित थे ।

ओघ बली—अव्यवच्छिन्न या एक समान रहने वाले बल के धारक, अतिबली—अत्यधिक बल सम्पन्न, महाबली—प्रशस्त बलयुक्त, अपरिमित—असीमवीर्य—आत्मक्षत्तिजनित बल, तेज महत्ता तथा कांतियुक्त, शरत् काल के नूतन मेघ के गर्जन, क्रौच पक्षी के निर्घोष तथा नगाड़े की छवनि के समान मधुर गंभीर स्वर युक्त भगवान् महावीर ने हृदय में विस्तृत होती हुई, कंठ में अवस्थित होती हुई तथा मूर्धा में परिव्याप्त होती हुई सुविभक्त अक्षरों को लिए हुए—पृथक् स्व-स्व स्थानीय उच्चारण युक्त अक्षरों सहित, अस्पष्ट उच्चारणबंजित या हकलाहट से रहित, सुव्यक्त अक्षर-सन्निपात—वर्ण-संयोग—बणीं की व्यवस्थित शृंखला लिए हुए, पूर्णता तथा स्वर-माधुरी युक्त, श्रोताओं की सभी भाषाओं में परिणत होने वाली, एक योजन तक पहुँचने वाले स्वर में, अद्वैमागधी भाषा में धर्म का परिकथन किया । उपस्थित सभी आर्य-अनार्य जनों को अग्लान भाव से—विना परिश्रान्त हुए धर्म का आख्यान किया । भगवान् द्वारा उद्गीर्ण अद्वैमागधी भाषा उन सभी आर्यों और अनार्यों की भाषाओं में परिणत हो गई ।

भगवान् ने जो धर्मदेशना दी, वह इस प्रकार है—

लोक का अस्तित्व है, अलोक का अस्तित्व है । इसी प्रकार जीव, अजीव, बन्ध, मोक्ष, पुण्य, पाप, आत्मव, संवर, वेदना, निर्जरा, अहंत्, चक्रवर्ती, बलदेव, वासुदेव, नरक, नैरयिक, तिर्यचयोनि, तिर्यचयोनिक जीव, माता, पिता, ऋषि, देव, देवलोक, सिद्धि, सिद्ध, परिनिवरण—कर्मजनित आदरण के क्षीण होने से आत्मिक स्वस्थता—परम शान्ति, परिनिवृत्त-परिनिवरणयुक्त व्यक्ति—इनका अस्तित्व है । प्राणातिपात—हिसा, मृषावाद—असत्य, अदत्तादान—चोरी, मैथुन और परिग्रह हैं । क्रोध, मान, माया, लौभ, (प्रेम-अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वेष—अव्यक्त मान

व कोष्ठ जनित अप्रिय या अग्रीति रूप भाव, कलह—लड़ाई-भगड़ा, अभ्याख्यान—मिथ्यादोषारोपण, पंशुन्य—चुगली तथा पीठ पीछे किसी के होते-अनहोते दोषों का प्रकटीकरण, परपरिवाद—जिन्दा, रति—मोहनीय-कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असंयम में सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप संयम में अरुचि रखना, मायामृषा—माया या छलपूर्वक भूठ बोलना) यावत् मिथ्यादर्शन शल्य है ।

प्राणातिपातविरमण—हिसा से विरत होना, मृषावादविरमण-असत्य से विरत होना, ग्रदत्तादानविरमण—बोरी से विरत होना, मैथुनविरमण—मैथुन से विरत होना, परिग्रहविरमण—परिग्रह से विरत होना, ऋष से विरत होना, मान से विरत होना, माया से विरत होना, लोभ से विरत होना प्रेम से विरत होना, द्वेष से विरत होना, कलह से विरत होना, अभ्याख्यान से विरत होना, पंशुन्य से विरत होना, पर-परिवाद से विरत होना, अरति-रति से विरत होना,) यावत् मिथ्यादर्शनशल्यविवेक—मिथ्या विश्वास रूप काटे या यथार्थ ज्ञान होना, और त्यागना यह सब है—

सभी अस्तिभाव—अपने-अपने द्रव्य, धोत्र, काल एवं भाव की अपेक्षा से अस्तित्व को लिए हुए हैं । सभी नास्तिभाव—पर द्रव्य, धोत्र काल, भाव की अपेक्षा से नहीं हैं—किन्तु वे भी अपने स्वरूप से हैं । सुचीर्ण—सुन्दर रूप में—प्रशस्तरूप में संपादित दान, शील तप आदि कर्म उत्तम फल देने वाले हैं तथा दुष्चीर्ण—अप्रशस्त—पापमय कर्म अशुभ—दुःखमय फल देने वाले हैं । जीव पुण्य तथा पाप का स्पर्श करता है, बन्ध करता है । जीव उत्पन्न होते हैं—संसारी जीवों का जन्म-मरण है । कल्याण—शुभ कर्म, पाप—अशुभ कर्म फल युक्त हैं, निष्फल नहीं होते ।

प्रकारान्तर से भगवान् धर्म का आख्यान—प्रतिपादन करते हैं—यह निर्गत्यप्रवचन, जिन-शासन अथवा प्राणी की अन्तर्वर्ती अन्तियों को छुड़ाने वाला आत्मानुशासनमय उपदेश सत्य है, अनुत्तर—सर्वोत्तम है, केवल—अद्वितीय है, अथवा केवली—सर्वज्ञ द्वारा भवित है, संशुद्ध—अत्यन्त मुद्ध, सर्वथा निर्दोष है, प्रतिपूर्ण—प्रवचन गुणों में सर्वथा परिपूर्ण है, नैयायिक—न्यायसंगत है—प्रमाण से अवाधित है तथा शल्य-कर्तन—माया आदि शल्यों—काटों का निवारक है, यह सिद्धि या सिद्धावस्था प्राप्त करने का मार्ग—उपाय है, मुक्ति—कर्मरहित अवस्था या निर्लोभिता का मार्ग—हेतु है, निर्वण—सकल संताप रहित अवस्था प्राप्त करने का पथ है, नियण—पुनः नहीं लौटाने वाले—जन्म-मरण के चक्र में नहीं गिराने वाले गमन का मार्ग है, अवितथ—सद्भूतार्थ—वास्तविक, अविसन्धि—पूर्वपरिवरोध से रहित तथा सब दुःखों को प्रहीण—सर्वथा क्षीण करने का मार्ग है । इसमें स्थित जीव सिद्धि-सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं अथवा अणिमा आदि महती सिद्धियों को प्राप्त करते हैं, बुद्ध—ज्ञानी—केवल-ज्ञानी होते हैं, मुक्त-भवेपग्राही—जन्ममरण में लाने वाले कर्माशा से रहित हो जाते हैं, परिनिर्वृत होते हैं—कर्मकृत संताप से रहित—परमक्षान्तिमय हो जाते हैं तथा सभी दुःखों का अन्त कर देते हैं । एकाच्चर्ची—जिनके एक ही मनुष्य-भव धारण करना बाकी रहा है, ऐसे भदन्त—कल्याणात्वित अथवा निर्गत्य प्रवचन के भक्त पूर्व कर्मों के बाकी रहने से किन्हीं देवलोकों में देव के रूप में उत्पन्न होते हैं । वे देवलोक महद्धिक—विपुल ऋद्धियों से परिपूर्ण, (अत्यन्त चुति, बल तथा यशोमय,) अत्यन्त सुखमय दूरगतिक—दूर गति से युक्त एवं चिरस्थितिक—लम्बी स्थिति वाले होते हैं ।

वहाँ देवरूप में उत्पन्न वे जीव अत्यन्त ऋद्धिसम्पन्न (अत्यन्त चुतिसम्पन्न, अत्यन्त बलसम्पन्न, अत्यन्त यशस्वी, अत्यन्त सुखी) तथा चिरस्थितिक—दीर्घ आयुष्ययुक्त होते हैं । उनके वक्षःस्थल हारों

से सुशोभित होते हैं। (वे कटक, त्रुटि, अंगद, कुण्डल, कण्ठभरण आदि अलंकार धारण किये रहते हैं। वे अपने दिव्य संघात, दिव्य संस्थान, दिव्य ऋदि, दिव्य द्युति, दिव्य प्रभा, दिव्य कान्ति, दिव्य आभा, दिव्य तेज तथा दिव्य लेख्या हारा दशों दिशाओं को उद्दोतित करते हैं, प्रभासित करते हैं।) वे कल्पोपग देवलोक में देव-शश्या से युवा रूप में उत्पन्न होते हैं। वे वर्तमान में उत्तम देवगति के धारक तथा भविष्य में भद्र-कल्याण या निर्वाण रूप अवस्था को प्राप्त करने वाले होते हैं। (वे आनन्द, भीति, परम सीमनस्य तथा हर्षयुक्त होते हैं) असाधारण रूपदान् होते हैं।

भगवान् ने आगे कहा—जीव चार स्थानों—कारणों से—नैरयिक—नरक योनि का आयुष्य-बन्ध करते हैं, फलतः वे विभिन्न नरकों में उत्पन्न होते हैं।

वे स्थान या कारण इस प्रकार हैं—१. महाआरम्भ -धोर हिंसा के भाव व कर्म, २. महापरिग्रह—अत्यधिक संग्रह के भाव व वैसा आचरण, ३. पञ्चेन्द्रिय-बृद्ध—मनुष्य, तिर्यच—पशु पक्षी आदि पाँच इन्द्रियों वाले प्राणियों का हनन तथा ४. मांस-भक्षण।

इन कारणों से जीव तिर्यच-योनि में उत्पन्न होते हैं—१. मायापूर्ण निकृति—छलपूर्ण जालसाजी, २. अलीक बचन—असत्य भाषण, ३. उत्कंचनता—भूठी प्रशंसा या खुशामद अथवा किसी मूर्ख व्यक्ति को ठगने वाले धूर्त का समीपवर्ती विचक्षण पुरुष के संकोच से कुछ देर के लिए निश्चेष्ट रहना या अपनी धूर्तता को छिपाए रखना, ४. बंचनता—प्रतारणा या ठगी।

इन कारणों से जीव मनुष्य-योनि में उत्पन्न होते हैं—

१. प्रकृति-भद्रता—स्वाभाविक भद्रता—भलापन, जिससे किसी को भीति या हानि की आशंका न हो, २. प्रकृति-विनीतता—स्वाभाविक विनीतता, ३. सानुकोशता—सदयता, करुणाशीलता तथा ४. अमत्सरता—ईर्ष्या का अभाव।

इन कारणों से जीव देवयोनि में उत्पन्न होते हैं—

१. सरागसंयम—राग या आसक्तियुक्त चारित्र, २. संयमासंयम—देशविरति श्रावकधर्म, ३. अकाम-निर्जरा—मोक्ष की अभिलाषा के बिना या विवशतावश कष्ट सहना, ४. बाल-तप मिथ्यात्मी या अज्ञानयुक्त अवस्था में तपस्या।

तत्पश्चात् भगवान् ने बतलाया जो नरक में जाते हैं, वे वहाँ नैरयिकों जैसी वेदना पाते हैं। तिर्यच योनि में गये हुए वहाँ होने वाले शारीरिक और मानसिक दुःख प्राप्त करते हैं। मनुष्य-जीवन अनित्य है। उसमें व्याधि, वृद्धावस्था, मृत्यु और वेदना आदि प्रचुर कष्ट हैं। देवलोक में देव दैवी ऋद्धि और देवी सुख प्राप्त करते हैं।

भगवान् ने सिद्ध, सिद्धावस्था एवं छह जीवनिकाय का विवेचन किया। जैसे—जीव बंधते हैं—कर्म-बन्ध करते हैं, मुक्त होते हैं, परिक्लेश पाते हैं। कई अप्रतिबद्ध—अनासक्त व्यक्ति दुःखों का अन्त करते हैं, पीड़ा वेदना व आकुलतापूर्ण चित्तयुक्त जीव दुःख-सागर को प्राप्त करते हैं, वे राग्य प्राप्त जीव कर्म-दल को छवस्त करते हैं, रागपूर्वक किये गये कर्मों का फलविषाक पापपूर्ण होता है, कर्मों से सर्वथा रहित होकर जीव सिद्धावस्था प्राप्त करते हैं—यह सब (भगवान् ने) आख्यात किया।

५७—तसेव धर्मं दुष्क्रियं आइक्षः। तं जहा—अगारधर्मम् (च) अणगरधर्मम् च। अणगार-धर्मो ताथ—इह खलु सत्त्वो सत्त्वत्त्वाए भुँडे भवित्ता अगाराओ अणगारियं पठवइयस्स सत्त्वाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, मुसावाय-अविण्णादाण-मेहुण-परिग्नह-राईभोयणाओ वेरमणं। अयमाउसो ! अणगारसामाइए धर्मे पण्णते, एथस्स धर्मस्स सिक्खाए उबट्टिए णिगांथे वा णिगांथी वा विहरभाणे आणाए आराहए भवति ।

अगारधर्मम् दुखालसविहं आइक्षः, तं जहा—१ पंच अणुव्याहं, २ तिणि गुणव्याहं, ३ चत्तारि सिक्खावयाहं । पंच अणुव्याहं तं जहा—१ थूलाओ पाणाइवायाओ वेरमणं, २ थूलाओ मुसावायाओ वेरमणं, ३ थूलाओ अविण्णादाणाओ वेरमणं, ४ सदारसंतोसे, ५ इच्छापरिमाणे । तिणि गुणव्याहं, तं जहा—६ अणत्थदंडवेरमणं, ७ दिसिव्ययं, ८ उवभोगपरिभोगपरिमाणं । चत्तारि सिक्खावयाहं, तं जहा—९ सामाइयं, १० देसावयासियं, ११ पोसहोववासे, १२ अतिहिसंविभागे, अपच्छिमा मारणतिया संलेहणामूसणाराहणा । अयमाउसो ! अगारसामाइए धर्मे पण्णते । एथस्स धर्मस्स सिक्खाए उबट्टिए समणोवासाए वा समणोवासिया वा विहरभाणे आणाए आराहए भवइ ।

५८—आगे भगवान् ने बतलाया—धर्म दो प्रकार का है—अगार-धर्म और अनगार धर्म । अनगार-धर्म में साधक सर्वतः सर्वतिमना—सम्पूर्ण रूप में, सर्वतिमभाव से सावद्य कार्यों का परित्याग करता हुआ मुँडित होकर, गृहवास से अनगार दशा—मुनि-अवस्था में प्रवृजित होता है । वह सम्पूर्णतः प्राणातिपात, मृषावाद, अदत्तादान, मैथुन, परिग्रह तथा रात्रि-भोजन से विरत होता है ।

भगवान् ने कहा—आयुष्मान् ! यह अनगारों के लिए समाचरणीय धर्म कहा गया है । इस धर्म की शिक्षा- अभ्यास या आचरण में उपस्थित—प्रयत्नशील रहते हुए निर्गन्ध—साधु या निर्गन्धी साध्वी आज्ञा (अर्हत्-देशना) के आरोपक होते हैं ।

भगवान् ने अगारधर्म १२ प्रकार का बतलाया—५. अणुव्रत ३ गुणव्रत तथा ४ शिक्षाव्रत । ५ अणुव्रत इस प्रकार हैं—१. स्थूल प्राणातिपात—ब्रह्म जीव की संकल्पपूर्वक की जाने वाली हिसा से निवृत्त होना, २. स्थूल मृषावाद से निवृत्त होना, ३. स्थूल अदत्तादान से निवृत्त होना, ४. स्वदार-सत्तोष- अपनी परिणीता पत्ती तक मैथुन की सीमा, ५. इच्छा- परिग्रह की इच्छा का परिमाण या सीमाकरण ।

३. गुणव्रत इस प्रकार हैं—१. अनर्थदण्ड—विरमण आत्मा के लिए अहितकर या आत्मगुण-घातक निरर्थक प्रवृत्ति का त्याग, २. दिग्घ्रत—विभिन्न दिशाओं में जाने के सम्बन्ध में मर्यादा या सीमाकरण, ३. उपभोग-परिभोग-परिमाण—उपभोग—जिन्हें अनेक बार भोगा जा सके ऐसी वस्तुएं—जैसे वस्त्र आदि तथा परिभोग—उन्हें एक ही बार भोगा जा सके—जैसे भोजन आदि इनका परिमाण सीमाकरण । ४ शिक्षाव्रत इस प्रकार है—१. सामायिक—समता या समत्वभाव की साधना के लिए एक नियत समय (न्यूनतम एक मुहूर्त—४८ मिनट) में किया जाने वाला अभ्यास, २. देशावकाशिक—नित्य प्रति अपनी प्रवृत्तियों में निवृत्ति-भाव की बृद्धि का अभ्यास ३. पौष्ट्रोपवास—अध्यात्म-साधना में अप्रसर होने हेतु यथाविधि आहार, अब्रह्माचर्य आदि का त्याग तथा ४. अतिथि-संविभाग—जिनके आने की कोई तिथि नहीं, ऐसे अनिमंत्रित संयमी साधकों को साध्मिक बन्धुओं को संयमोपयोगी एवं जीवनोपयोगी अपनी अविकृत सामग्री का एक भाव आदरपूर्वक देना, सदा मन में ऐसी भावना बनाए रखना कि ऐसा अवसर प्राप्त हो ।

तितिक्षापूर्वक अन्तिम मरण रूप संलेखण।—तपश्चरण, आमरण, अनशन की आराधनापूर्वक देहस्थाग श्रावक को इस जीवन की साधना का पर्यावरण है, जिसकी एक गृही साधक भावना लिए रहता है।

भगवान् ने कहा—आयुष्मान् ! यह गृही साधकों का आचरणीय धर्म है। इस धर्म के अनुसारण में प्रयत्नशील होते हुए श्रमणोपासक-श्रावक या श्रमणोपासिका—श्राविका आज्ञा के आराधक होते हैं।

परिषद्-विसर्जन

५८—तए ण सा महतिमहालिया मणूसपरिसा समणस्स भगवान्मो महावीरस्स अंतिए धर्मं सोऽव्वा, णिसम्म हृष्टुदु जाव' हियथा उद्गाए उट्ठेइ, उद्गुत्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुसो अर्याहिणं पथाहिणं करेइ, करेता वंदइ णमंसह, वंवित्ता णमंसित्ता अर्थेगद्या मुंडे भवित्ता अगारामो अणगारियं पब्बद्या, अर्थेगद्या पंचाणुच्चद्वयं सत्तसिक्षावद्यं दुवालसविहं गिहिधर्मं पडिवल्ला।

५९—तब वह विशाल मनुष्य-परिषद् श्रमण भगवान् महावीर से धर्मं सुनकर, हृदय में धारण कर, हृष्ट-तुष्ट—अत्यन्त प्रसन्न हुई, चित्त में आनन्द एवं प्रीति का अनुभव किया, अत्यन्त सौम्य मानसिक भावों से युक्त तथा हृषीतिरेक से विकसित-हृदय होकर उठी। उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण-प्रदक्षिणा, वंदन-नमस्कार किया, वंदन-नमस्कार कर उनमें से कई गृहस्थ-जीवन का परित्याग कर मुंडित होकर, अनगार या श्रमण के रूप में प्रव्रजित—दीक्षित हुए। कहयों ने पाँच अणुद्रवत तथा सात शिक्षावत रूप बारह प्रकार का गृहि-धर्मं श्रावक-धर्मं स्वीकार किया।

५९—अवसेसा णं परिसा समणं भगवं महावीरं वंदइ णमंसह, वंवित्ता णमंसित्ता एवं ध्यासो—“सुअवखाए ते भते ! निगंथे पावयणे एवं सुपण्णसे, सुभासिए, सुविणोए, सुभाविए, अणुत्तरे ते भते ! निगंथे पावयणे, धर्मं णं आदक्षमाणा तुझे उवसमं आडक्षह, उवसमं आदक्षमाणा विवेगं आदक्षह, विवेगं आदक्षमाणा वेरमणं आदक्षह, वेरमणं आदक्षमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आदक्षह, णत्थि णं अणो केह समणे वा माहणे वा, जे एरिसं धर्ममाद्विष्टत्तए, किमंग पुण एतो उत्तरसरं ?” एवं विद्वत्ता जामेव दिसं पाउब्भूया, तामेव दिसं पडिगया।

५९—बोध परिषद् ने श्रमण भगवान् महावीर को वंदन किया, नमस्कार किया, वंदन-नमस्कार कर कहा—“भगवन् ! आप द्वारा सुप्राप्त्यात् सुन्दर रूप में कहा गया, सुप्रज्ञप्त—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभावित—हृदयस्पर्शी भाषा में प्रतिपादित किया गया, सुविनीत शिष्यों में सुष्ठु रूप में विनियोजित—अन्तेवासियों द्वारा सहजरूप में अंगीकृत, सुभावित-प्रशस्त भावों से युक्त निर्णय-प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर सर्वश्रेष्ठ है। आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम-कोश आदि के निरोध का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक बाह्य ग्रन्थियों के त्याग को समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विवेचना की। दूसरा कोई श्रमण

या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहाँ ?” यों कहकर वह परिषद् जिस दिशा से आई थी, उसी ओर लौट गई।

६०—तए णं से कूणिए राया भंभसारपुत्ते समणस्स भगवश्चो महावीरस्स अंतिए धर्मं सोच्चा, णिसम्म हद्दुत्तु जाव^१ हियए उद्दाए उद्धेष्ट, उद्दित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेह, करेता वंवद्ध णमंसइ, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—“सुयक्खाए ते भंते ! निगथे पावयणे जाव (धर्मं णं आइक्खमाणा तुवमे उवसमं ग्राइक्खह, उवसमं आइक्खमाणा विवेगं आइक्खह, विवेगं आइक्खमाणा वेरमणं आइक्खह, वेरमणं आइक्खमाणा अकरणं पावाणं कम्माणं आइक्खह, णत्यि णं अण्णे केह समणे वा माहणे वा जे एरिसं धर्ममाइक्खत्तए,) किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं ?” एवं वंदित्ता जामेव दिसं पाउब्भूए, तामेव दिसं पडिगए।

६०—तत्परचात् भंभसार का पुत्र राजा कूणिक श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का शब्द कर हृष्ट, तुष्ट हुआ, मन में आनन्दित हुया। अपने स्थान से उठा। उठकर श्रमण भगवान् महावीर को तीन बार आदक्षिण प्रदक्षिणा की। वैसा कर वन्दन-नमस्कार किया। वन्दन-नमस्कार कर, वह दोला—“भगवन् ! आप द्वारा मुश्राख्यात—सुन्दर रूप में कहा गया, सुप्रज्ञत—उत्तम रीति से समझाया गया, सुभाषित—हृदयस्पर्शी भाषा में प्रतिपादित किया गया, सुविनीत—शिष्यों में सुष्ठु रूप में विनियोजित—अन्तेवासियों द्वारा सहज रूप में अंगीकृत, सुभाषित—प्रशस्त भावों से युक्त निर्यन्थ प्रवचन—धर्मोपदेश, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ है। (आपने धर्म की व्याख्या करते हुए उपशम—ओष्ठ आदि के निरोष्ठ का विश्लेषण किया। उपशम की व्याख्या करते हुए विवेक—बाह्य ग्रन्थियों के त्याग को समझाया। विवेक की व्याख्या करते हुए आपने विरमण—विरति या निवृत्ति का निरूपण किया। विरमण की व्याख्या करते हुए आपने पाप-कर्म न करने की विदेचना की। दूसरा कोई धर्मण या ब्राह्मण नहीं है, जो ऐसे धर्म का उपदेश कर सके)। इससे श्रेष्ठ धर्म के उपदेश की तो बात ही कहाँ ?”

यों कहकर वह जिस दिशा से आया था, उसी दिशा में लौट गया।

६१—तए णं ताम्मो सुभद्रापमुहाश्चो देवीश्चो समणस्स भगवश्चो महावीरस्स अंतिए धर्मं सोच्चा, णिसम्म हद्दुत्तु जाव^२ हियाश्चो उद्दाए उद्दित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुत्तो आयाहिणं पयाहिणं करेति, करेता वंवंति णमंसंति, वंदित्ता णमंसित्ता एवं वयासी—“सुयक्खाए णं भंते ! निगथे पावयणे जाव^३ किमंग पुण एत्तो उत्तरतरं ?” एवं वंदित्ता जामेव दिसि पाउब्भूयाश्चो, तामेव दिसि पडिगयाश्चो।

६१—सुभद्रा आदि रानियाँ श्रमण भगवान् महावीर से धर्म का शब्द कर हृष्ट, तुष्ट हुई, मन में आनन्दित हुई। अपने स्थान से उठी। उठकर श्रमण भगवान् महावीर की तीन बार आदक्षिण-

१. देखें सूत्र-संख्या १८

२. देखें सूत्र-संख्या १८

३. देखें सूत्र-संख्या ६०

प्रदक्षिणा की । वैसा कर भगवान् को बन्दन-नमस्कार किया । बन्दन-नमस्कार कर वे बोलीं—“निर्ग्रन्थं प्रवचनं सुआख्यात है…… सर्वश्रेष्ठ है…… इत्यादि पूर्ववत् ।”

यों कह कर वे जिस दिशा से आई थीं, उसी दिशा की ओर चली गईं ।

इन्द्रभूति गौतम की जिज्ञासा

६२--तेण कालेण तेण समएण समणस्स भगवश्चो महावीरस्स जेट्ठे अतेवासी इवभूई णामं अणगारे गोयमगोत्तेण सत्तुस्सेहे, समचउरंसंठाणसंठिए, बहुररिसहृणारायसंघयणे, कणगपुलगणिघस-पश्चागोरे, उग्यतवे, जित्ततवे, तस्ततवे, महातवे, धोरतवे, उराले, धोरे, धोरगुणे, धोरतवस्सी, धोरबंभचेरवासी, उज्ज्वलमरीरे, संखितविउलतेउलेस्से समणस्स भगवश्चो महावीरस्स अबूरसामते उडंजाण, अहोसिरे, भाणकोट्टोवगए संजमेण तवसा अप्पाण आवेमाण विहुरह ।

६२--उस काल, उस समय अमण भगवान् महावीर के ज्येष्ठ अन्तेवासी गौतमगोत्रीय इन्द्रभूति नामक अनगार, जिनकी देह की ऊँचाई सात हाथी थी, जो समचतुरल-संस्थान संस्थित थे—वेह के चारों अंशों की सुसंगत, अंगों के परस्पर समानुपाती, सम्मुलित और समन्वित रचनामय शरीर के धारक थे, जो वज्ज्ञ-कृष्णभ-नाराच-संहनन—सुदृढ अस्थि-बन्धयुक्त विशिष्ट-देह-रचनायुक्त थे, कसीटी पर खचित स्वर्ण-रेखा की आभा लिए हुए कमल के समान जो गौर वर्ण थे, जो उम्र तपस्वी थे, दीप्त तपस्वी—कर्मों को भस्मसात् करने में अग्नि के समान प्रदीप्त तप करने वाले थे, तप्त तपस्वी—जिनकी देह पर तपश्चर्या की तीव्र भलक व्याप्त थी, जो कठोर एवं विपुल तप करने वाले थे, जो उराल-प्रबल भाधना ने लक्षण धोरगुण—परम उत्तम—जिनको धारण करने में अद्भुत शक्ति चाहिए—ऐसे मुण्डों के धारक, धोर तपस्वी—प्रबल तपस्वी, धोर ब्रह्मचर्यवासी—कठोर ब्रह्मचर्य के पालक, उत्क्षणतशरीर—देहिक सार-संभाल या सजावट से रहित थे, जो विशाल तेजोलेश्या अपने शरीर के भीतर समेटे हुए थे, भगवान् महावीर से न अधिक दूर न अधिक समीप—समुचित स्थान पर संस्थित हो, घुटने ऊँचे किये, मस्तक नीचे किये, ध्यान की मुद्रा में, संयम और तप से ग्रात्मा को भावित करते हुए अवस्थित थे ।

६३--तए एं से भगवं शोधमे जायसड्ढे जायसंसए जायकोऊहल्ले, उप्पणसड्ढे उप्पणसंसए उप्पणकोऊहल्ले, संजायसड्ढे संजायसंसए संजायकोऊहल्ले, समुप्पणसड्ढे समुप्पणसंसए समुप्पण-कोऊहल्ले उट्टाए उट्ठेह, उट्टाए उट्टिस्ता जेणेव समणे भगवं महावीरे तेषेव उवागच्छइ, उवागच्छित्ता समणं भगवं महावीरं तिक्खुस्तो आयाहिणं, पयाहिणं करेह, तिक्खुस्तो आयाहिणं पयाहिणं करेत्ता बंदइ णमंसइ, बंदित्ता णमंसित्ता नच्चासणे नाइद्वूरे सुस्सूसमाणे, णमंसमाणे अभिसुहे विणएणं पंजलिउडे पञ्जुवासभाणे एवं वयासी ।

६३--तब उन भगवान् गौतम के मन में श्रद्धापूर्वक इच्छा पैदा हुई, संशय- अनिर्धारित अर्थ में शंका- जिज्ञासा एवं कुतूहल पैदा हुआ । पुनः उनके मन में श्रद्धा का भाव उमड़ा, संशय उभरा, कुतूहल समुत्तम हुआ । वे उठे, उठकर जहाँ भगवान् महावीर थे, आए । आकर भगवान् महावीर को तीन बार ग्रादधिण-प्रदक्षिणा की, बन्दना-नमस्कार किया । वैसा कर भगवान् के न अधिक समीप न अधिक दूर शुश्रूषा—सुनते की इच्छा रखते हुए, प्रमाण करते हुए, विनयपूर्वक सामने हाथ जोड़े हुए, उनकी पर्याप्तासना-अध्यर्थना करते हुए बोले—

पापकर्म का बन्ध

६४—जीवे णं भंते ! असंजए अविरए अष्टडिहयपञ्चकञ्चायपावकम्मे सकिरिए असंधुडे एगंतदंडे एगंतबाले एगंतसुते पावकम्मं अण्हाइ ?

हंता अण्हाइ ।

६४—भगवन् ! वह जीव, जो असंयत है—जिसने संयम की आराधना नहीं की, जो अविरत है—हिंसा आदि से विरत नहीं है, जिसने प्रत्याख्यान द्वारा पाप-कर्मों को प्रतिहत नहीं किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापों का त्याग नहीं किया, हल्का नहीं किया, जो सक्रिय-कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं से युक्त है—क्रियाएँ करता है, जो असंवृत है—संवर रहित है—जिसने इन्द्रियों का संवरण या निरोध नहीं किया, जो एकान्तदंड युक्त है—जो अपने को तथा औरों को पाप-कर्म द्वारा एकान्ततः—सर्वथा दण्डित करता है, जो एकान्तबाल है—सर्वथा मिथ्या दृष्टि—अज्ञानी है, जो एकान्तसुप्त है—मिथ्यात्व की निद्रा में बिलकुल सोया हुआ है, क्या वह पाप-कर्म से लिप्त होता है—पाप-कर्म का बंध करता है ?

हाँ, गीतम ! करता है ।

६५—जीवे णं भंते ! असंजए जाव (अविरए, अष्टडिहयपञ्चकञ्चायपावकम्मे, सकिरिए, असंधुडे, एगंतदंडे एगंतबाले) एगंतसुते भोहणिज्जं पावकम्मं अण्हाइ ?

हंता अण्हाइ ।

६५—भगवन् ! वह जीव, जो असंयत है—जिसने संयम की आराधना नहीं की, जो अविरत है—हिंसा आदि से विरत नहीं है, जिससे प्रत्याख्यान द्वारा पाप कर्मों को प्रतिहत नहीं किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापों का त्याग नहीं किया, हल्का नहीं किया, जो सक्रिय-कायिक, वाचिक तथा मानसिक क्रियाओं से युक्त है—क्रियाएँ करता है, जो असंवृत है—संवर रहित है—जिसने इन्द्रियों का संवरण या निरोध नहीं किया, जो एकान्तदंडयुक्त है—जो अपने को तथा औरों को पाप कर्म द्वारा एकान्ततः—सर्वथा दण्डित करता है, जो एकान्त-बाल है—सर्वदा मिथ्यादृष्टि—अज्ञानी है, जो एकान्त-सुप्त है—मिथ्यात्व की निद्रा में बिलकुल सोया हुआ है, क्या वह मोहनीय पाप-कर्म से लिप्त होता है—मोहनीय पाप-कर्म का बंध करता है ?

हाँ गीतम ! करता है ।

६६—जीवे णं भंते ! मोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे कि मोहणिज्जं कम्मं बंधइ ? वेयणिज्जं कम्मं बंधइ ?

धोयमा ! मोहणिज्जं पि कम्मं बंधइ, वेयणिज्जं पि कम्मं बंधइ, षण्णत्थ चरिममोहणिज्जं कम्मं वेदेमाणे वेयणिज्जं कम्मं बंधइ, णो मोहणिज्जं कम्मं बंधइ ।

६६—भगवन् ! क्या जीव मोहनीय कर्म का वेदन—अनुभव करता हुआ मोहनीय कर्म का बंध करता है ? क्या वेदनीय कर्म का बंध करता है ?

गौतम ! वह मोहनीय कर्म का बंध करता है, वेदनीय कर्म का भी बंध करता है। किन्तु (सूक्ष्मसंपराय नामक दशम गुणस्थान में) चरम मोहनीय कर्म का वेदन करता हुआ जीव वेदनीय कर्म का ही बंध करता है, मोहनीय का नहीं।

एकान्तबाल : एकान्त सुष्टु का उपपात

६७—जीवे ण भंते ॥ प्रतिज्ञए, अद्विरए, अप्पित्तिहयपच्चवासापात्तिस्मे, सकिरिए, असंबुद्धे, एगंतवंडे, एगंतबाले, एगंतसुते, ओसण्णतसपाणघार्द कालमासे कालं किच्चा णेरइएसु उवबज्जति ? हंता उवबज्जति ।

६७—भगवन् ! जो जीव असंघत—संयमरहित है, अविरत है, जिसने सम्यक्त्वपूर्वक पाप-कर्मों को प्रतिहत नहीं किया है—हलका नहीं किया है, नहीं मिटाया है, जो सक्रिय है—(मिथ्यात्वयुक्त) कार्यिक, वाचिक एवं मानसिक क्रियाओं में संलग्न है, असंबृत है—संवररहित है—अशुभ का निरोध नहीं किये हुए है, एकान्त दण्ड है—पापपूर्ण प्रवृत्तियों द्वारा अपने को तथा श्रीरों को सर्वथा दण्डित करता है, एकान्तबाल है—सर्वथा मिथ्यादूषित है तथा एकान्तसुष्टु-मिथ्यात्व की प्रगाढ़ निद्रा में सोया हुआ है; अस-द्वीन्द्रिय आदि स्पन्दनशील, हिलने डुलनेबाले अथवा जिन्हें ज्ञास का वेदन करते हुए हुआ है; अस-प्राणियों की हिंसा में लगा अनुभव किया जा सके, वैसे जीवों का प्रायः—बहुलतया घात करता है—अस प्राणियों की हिंसा में लगा रहता है, क्या वह मृत्यु-काल आने पर भरकर नैरविकों में उत्पन्न होता है ?

हाँ, गौतम ऐसा होता है ।

६८—जीवे ण भंते ! असंज्ञए अविरए अप्पित्तिहयपच्चवासापात्तिस्मे इप्रो चुए पेत्तु देवे सिया ?

गोयमा ! अत्थेगद्या देवे सिया, अत्थेगद्या णो देवे सिया ।

६८—भगवन् जिन्होंने संयम नहीं साधा, जो अवरित है—हिंसा, असत्य आदि से विरत नहीं है, जिन्होंने प्रत्याख्यान द्वारा पाप-कर्मों को प्रतिहत नहीं किया—सम्यक् श्रद्धापूर्वक पापों का ह्याग कर उन्हें नहीं मिटाया, वे यहाँ से न्युत होकर मृत्यु प्राप्त कर आगे के जन्म में क्या देव होते हैं ? क्या देवयोनि में जन्म लेते हैं ?

गौतम ! कई देव होते हैं, कई देव नहीं होते हैं ।

६९—से केणट्ठेण भंते ! एवं बुच्चह—अत्थेगद्या देवे सिया, अत्थेगद्या णो देवे सिया ?

गोयमा ! जे इसे जीवा गामागर-ण्यर-णिगम-रायहाणि-लेड-फबड-मडंब-दोणमुह-पट्टण-सम-संखाह-सण्णिवेसु अकामत्तण्हाए, अकामछुहाए, अकामदंभचेरवासेण, अकामअण्हणग-सीयाप्यव-वंसमसग-सेय-जल्ल-मल्ल-पंकपरितावेण अप्पत्तरो वा भुजजतरो वा कालं अप्पाणं परिकिलेसंति, अप्पतरो वा भुजजतरो वा कालमासे कालं किच्चा अण्णयरेसु वाणमंतरेसु देवस्तोएसु देवत्ताए उवबत्तारो भवति । तंहि तेसि गई, तंहि तेसि ठिई, तंहि तेसि उवबाए पण्ते ।

तेसि ण भंते ! देवाणं केवद्यं कालं ठिई पण्ता ?

गोप्यमा ! दसवाससहस्राईं ठिई पण्णत्ता ।

अथि णं भंते । तेसि वेषाणं इङ्गी इ वा, जुई इ वा, जसे इ वा, खले इ वा, बीरिए इ वा, पुरिसकारपरककमे इ वा ?

हृता अतिथि ।

ते णं भंते ! देवा परलोगस्स आराहगा ?

णो इणट्ठे सभट्ठे ॥

६९—भगवन् ! आप किस अभिप्राय से ऐसा कहते हैं कि कई देव होते हैं, कई देव नहीं होते ?

गौतम ! जो जीव मोक्ष की अभिलाषा के बिना या कर्म-क्षय के लक्ष्य के बिना ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्पत्तिस्थान, नगर—जिनमें कर नहीं लगता हो ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटों से युक्त गाँव, कर्वट—अति साधारण कस्बे, द्वोणमुख—जल-मार्ग तथा स्थल-मार्ग से युक्त स्थान, मर्डब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बड़े नगर, जहाँ या तो जल मार्ग से या स्थल मार्ग से जाना सम्भव हो, आश्रम—तापसों के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, संवाह-पर्वत की तलहटी में बसे गाँव, सञ्जिवेश भोपड़ियों से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान में तृष्णा—प्यास, क्षुधा—भूख, ब्रह्मचर्य, अस्नान, शीत, आतप, ढांस—मच्छर, स्वेद—पसीना, जल्ल—रज, मल्ल—मैल, जो सुखकर कठोर बन गया हो, पंक—मैल जो पसीने से गोला बना हो—इन परितापों से अपने आपको थोड़ा या अधिक क्लेश देते हैं, कुछ समय तक अपने आप को क्लेशित कर मृत्यु का समय आने पर देह का त्यागकर वे वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी लोक में देव के रूप में पैदा होते हैं । वहाँ उनकी अपनी विशेष गति, स्थिति तथा उपपात होता है ।

भगवन् ! वहाँ उन देवों की स्थिति—आयु कितने समय की बतलाई गई है ?

गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति दश हजार वर्षे की बतलायी गयी है ।

भगवन् ! क्या उन देवों की ऋद्धि—समृद्धि, परिवार आदि सम्पत्ति, दृढ़ि—कांति, यश—कीति, बल—शरीर-निष्पन्न शक्ति, वीर्य—जीव-निष्पन्न प्राणमयी शक्ति, पुरुषकार—पुरुषाभिमान, पौरुष की अनुभूति या पुरुषार्थ तथा पराक्रम—ये सब अपनी अपनी विशेषता के साथ होते हैं ?

हाँ, गौतम ऐसा होता है ।

भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराघक होते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता ।

किलशित-उपपात

७०—से ऐ इसे गामागरणयरणिगमरायहाणिलेष्कब्बलमडंबवोणमुहपट्टणासमसंबाहुसच्चिवेसेसु मणुया भवंति, तं जहा—अंडबद्धगा, णिश्चलबद्धगा, हृडिबद्धगा, चारगबद्धगा, हृथ्यच्छिष्णगा, पायच्छिष्णगा, कणच्छिष्णगा, नक्कच्छिष्णगा, ओटुच्छिष्णगा, जिब्बच्छिष्णगा, सोसच्छिष्णगा, मुखच्छिष्णगा,

मरभच्छिष्णगा, वहकच्छच्छिष्णगा, हियथउप्पाडियगा, णयणुप्पाडियगा, वसणुप्पाडियगा, गेबच्छिष्णगा, तंडुलच्छिष्णगा, कागणिमंसवखाचियगा, ओलंबियगा, लंबियगा, घंसियगा, घोलियगा, फालियगा, पोलियगा, सूलाइयगा, सूलभिष्णगा, खारवस्तिया, वज्ज्ञवस्तिया, सीहुपुच्छियगा, वदग्गि-वहुगा, पंकोसणगा, पंके खुतमा, वलयमयगा, वसदुमयगा, णियाणमयगा, अंतोसलमयगा, गिरि-पडियगा, तहुपडियगा, मरुपडियगा, गिरिपञ्चखंबोलगा, तहुपञ्चखंबोलगा, मरुपञ्चखंबोलगा, जलपवेसिगा, जलणपवेसिगा, बिसभविष्णगा, सत्थोधाडियगा, वेहाणसिया, गिछुपिट्ठुगा, कंतारमयगा, दुष्प्रकञ्च-मयगा, असंक्षिप्तपरिणामा ते कालमासे कालं किच्चार अण्णयरेसु वाणमंतरेसु वेवलोएसु देवत्ताए उवदत्तारो भवति । तहि तेसि गई, तहि तेसि ठिई, तहि तेसि उवचाए पण्णते ।

तेसि णं भंते ! देवाणं केवद्यं कालं ठिई पण्णता ?

गोयमा ! वारसवाससहस्राई ठिई पण्णता !

ग्रत्थं णं भंते ! तेसि देवाणं इद्वीऽप्यथा, दुई द खा, खेद द वा, खेद द वा, वीरिए इ वा, पुरिसक्कारपरिकमे इ वा ?

हंता ग्रत्थ ।

ते णं भंते ! देवा परलोगसस आराहुगा ?

जो इणट्ठे समट्ठे ॥

७०—जो (ये) जीव ग्राम, आकर—नमक आदि के उत्थत्ति-स्थान, नगर,—जिनमें कर नहीं लगता हो, ऐसे शहर, खेट—धूल के परकोटों से युक्त गाँव, कर्वट-अति साधारण कस्बे, द्वोणमुख—जल-मार्ग तथा स्थल मार्ग से युक्त स्थान, मडंब—आस-पास गाँव रहित बस्ती, पत्तन—बन्दरगाह अथवा बड़े नगर, जहाँ या तो जल मार्ग से या स्थल मार्ग से जाना सम्भव हो, आश्रम—तापसों के आवास, निगम—व्यापारिक नगर, संवाह—पर्वत की तलहटी में बसे गाँव, सक्षिवेश-भोणदियों से युक्त बस्ती अथवा सार्थवाह तथा सेना आदि के ठहरने के स्थान में मनुष्य होते हैं—मनुष्य के रूप में जन्म लेते हैं, जिनके किसी अपराध के कारण काठ या लोहे के बन्धन से हाथ पैर बाँध दिये जाते हैं, जो बेड़ियों से जकड़ दिये जाते हैं, जिनके पैर काठ के खोड़े में ढाल दिये जाते हैं, जो कारागार में बन्द कर दिये जाते हैं, जिनके हाथ काट दिये जाते हैं, जिनके पैर काट दिये जाते हैं, कान काट दिये जाते हैं, नाक काट दिये जाते हैं, होठ छेद दिये जाते हैं, जिह्वाएँ काट दी जाती हैं, मस्तक छेद दिये जाते हैं, मुँह छेद दिये जाते हैं, जिनके बायें कन्धे से लेकर दाहिनी काँख तक के देह-भाग मस्तक सहित बिदीण कर दिये जाते हैं, हृदय चीर दिये जाते हैं—कलेजे उखाड़ दिये जाते हैं, आँखों निकाल ली जाती हैं, दाँत तोड़ दिये जाते हैं, जिनके अणडकोष उखाड़ दिये जाते हैं, गद्दन हैं, आँखों निकाल ली जाती हैं, दाँत तोड़ दिये जाते हैं, जिनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, जिनके शरीर का तोड़ दी जाती है, चाबलों की तरह जिनके शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जाते हैं, जिनके शरीर में लटका कोमल मांस उखाड़ कर जिन्हें खिलाया जाता है, जो रससी से बाँध कर कुए खड़े आदि में लटका दिये जाते हैं, बृक्ष की शाखा में हाथ बाँध कर लटका दिये जाते हैं, चन्दन की तरह पत्थर आदि पर चिस दिये जाते हैं, पात्र-स्थित दही की तरह जो मथ दिये जाते हैं, काठ की तरह कुलहाड़े से फाड़ दिये जाते हैं, जो गन्ने की तरह कोल्ह में पेल दिये जाते हैं, जो सूली में पिरो दिये जाते हैं, जो सूली से बीध दिये जाते हैं—जिनके देह से लेकर मस्तक में से सूली निकाल दी जाती है, जो खार के बर्तन

में डाल दिये जाते हैं, जो बद्ध—गीले चमड़े से बोधि दिये जाते हैं, जिनकी जननेन्द्रिय काट दी जाती है, जो दवाग्नि में जल जाते हैं, कीचड़ में डूब जाते हैं, कीचड़ में फंस जाते हैं, संयम से छष्ट होकर या भूख आदि से पीड़ित होकर—परिषहों से घबराकर मरते हैं, जो विषय-परतन्त्रता से पीड़ित या दुःखित होकर मरते हैं, जो सांसारिक इच्छा पूर्ति के साथ अज्ञानमय तपूर्वक मरते हैं, जो अन्तःशाल्य—भावशाल्य—कलुषित भावों के कटि को निकाले बिना या भाले आदि से अपने आपको बेघकर मरते हैं, जो पर्वत से गिरकर मरते हैं अथवा अपने पर बहुत बड़ा पत्थर गिराकर मरते हैं, जो वृक्ष से गिरकर मरते हैं, मरुस्थल या निंजल प्रदेश में मर जाते हैं अथवा मरुस्थल के किसी स्थान से—बड़े टीले आदि से गिरकर मरते हैं, जो पर्वत से झंपापात कर—छलांग लगा कर मरते हैं, वृक्ष से छलांग लगा कर मरते हैं, मरुभूमि की बालू में गिरकर मरते हैं, जल में प्रवेश कर मरते हैं, अग्नि में प्रवेश कर मरते हैं, जहर खाकर मरते हैं, शस्त्रों से अपने आपको बिदीं कर मरते हैं, जो वृक्ष की ढाली आदि से लटककर फौसी लगाकर मरते हैं, जो मरे हुए मनुष्य, हाथी, ऊँट, गधे आदि की देह में प्रविष्ट होकर गीधों की चोचों से विदारित होकर मरते हैं, जो जंगल में खोकर मर जाते हैं, दुभिक्ष में भूख, प्यास आदि से मर जाते हैं, यदि उनके परिणाम संकिळण—अर्थात् आर्त-रीढ़ ध्यान युक्त न हों तो उस प्रकार मृत्यु प्राप्त कर वे वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ उस लोक के अनुरूप उनकी भूति, स्थिति तथा उत्पत्ति होती है, ऐसा बतलाया गया है।

भगवन् ! उन देवों की वहाँ कितनी स्थिति होती है ?

गौतम ! वहाँ उनकी स्थिति बारह हजार वर्ष की होती है।

भगवन् ! उन देवों के वहाँ ऋषि, द्युति, यश, बल, वीर्य तथा पुरुषकार-पराक्रम होता है या नहीं ?

गौतम ! होता है।

भगवन् ! क्या वे देव परलोक के आराधक होते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता—वे देव परलोक के आराधक नहीं होते।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में पहले ऐसे लोगों की चर्चा है, जिन्हें अपराधवश, वैमनस्य या द्वेषवश किन्हीं द्वारा घोर कष्ट दिया जाता है, जिससे वे प्राण छोड़ देते हैं। यदि यों कष्टपूर्वक मरते समय उनके मन में तीव्र आर्त, रीढ़ परिणाम नहीं आते तो उनका वान-व्यन्तर देवों में उत्पन्न होना बतलाया गया है। इसका अभिप्राय यह है कि यद्यपि वे मिथ्यात्मी होते हैं, उन द्वारा कष्ट-सहन भोक्ताभिमुख या कर्मक्षयाभिमुख उच्च भाव से नहीं होता पर उनके परिणामों की इतनी-सी विशेषता रहती है, वे कष्ट सहते हुए आर्त, रीढ़ भाव से अभिभूत नहीं होते, अविचल रहते हुए, अत्यन्त दृढ़ता से उन कष्टों को सहते हुए मर जाते हैं। अतएव उन द्वारा किया गया वह कष्ट-सहन अकाम-निंजरा में आता है, जिसके फलस्वरूप वे देवयोनि प्राप्त करते हैं।

आगे ऐसे लोगों की चर्चा है, जो संयम से पतित हो जाने से या सांसारिक अभीप्साओं या भौतिक कामनाओं की पूर्ति न होने से इतने दुःखित, निराश तथा विषादप्रस्त हो जाते हैं कि जीवन का भार ढो पाना उन्हें अशाव्य प्रतीत होता है। फलतः वे फौसी लगाकर, पानी में डूबकर, पर्वत से

भंपापात कर, ग्राग में कूदकर, जहर खाकर या ऐसे ही किसी अन्य प्रकार से प्राण त्याग देते हैं। यदि दुःख भेलते हुए, मरते हुए उनके परिणाम संक्लेशमय, तो व आर्त-रौद्र ध्यानमय नहीं होते, तो वे मरकर बानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं।

यों प्राण-त्याग करना क्या आत्महत्या नहीं है? आत्महत्या तो बहुत बड़ा पाप है, आत्मघाती देव केसे होते हैं? इत्यादि अनेक शंकाएं यहाँ खड़ी होती हैं।

बात सही है, 'आत्मघाती महापापी' के अनुसार आत्महत्या घोर पाप है, नरक का हेतु है पर यहाँ जो प्रसंग वर्णित है, वह आत्महत्या में नहीं जाता। क्योंकि वैसे मरने वालों की भावना होती है, वह सांसारिक दुःखों से छूट नहीं पा रहा है, उसकी कामनाएं पूर्ण नहीं हो रही हैं। उसका लक्ष्य सध्य नहीं पा रहा है। मरना ही उसके लिए शरण है। पर, वह मरते वक्त भयाकान्त नहीं होता, मन में आकूल तथा उद्दिष्ट नहीं होता। वह परिणामों में अत्यधिक दृढ़ता लिये रहता है। उसके भाव संक्लिष्ट नहीं होते। वह आर्त, रौद्र ध्यान में एकदम निमग्न नहीं होता। इस प्रकार उसके अकामनिर्जरा सद्व जाती है और वह देवथीनि प्राप्त कर लेता है।

जो आत्महत्या करता है, मरते समय वह अत्यन्त कलुषित, क्लिष्ट एवं दूषित परिणामों से ग्रस्त होता है। इसीलिए वह घोर पापी कहा जाता है। वास्तव में आत्महत्या करने वाले के अन्त समय के परिणामों की धारा बड़ी जघन्य तथा निम्न कोटि की होती है। वह घोर आर्त-रौद्र-भाव में निपतित हो जाता है। वह बहुत ही शोक-विह्वल हो जाता है, संभवतः यह सोचकर कि प्राण, जिनसे बढ़कर जगत् में कुछ भी नहीं है, जो सर्वाधिक प्रिय हैं, हाथ ! उनसे वह बंचित हो रहा है। कितनी बड़ी भूल उससे हुई।

अपर स्वर्य मृत्यु स्वीकार करने वाले जिन लोगों की चर्चा है, वे अन्त समय में मन में ऐसे परिणाम नहीं लाते।

मद्र प्रकृति जनों का उपपात

७१—से जे इमे गामागर जाव (गयरणिगमरायहाणिलेडकङ्कुदमदंददोणमुहपृणासमसंवाह) संनिवेसेसु मणुया भवति, तं जहा—पगइभद्गा, पगइवसंता, पगइपतणुकोहमाणमायालोहा, मिउमहृ-संपण्णा, अल्लीणा, विणीया, अम्मापिउसुसूसगा, अम्मापिईणं अणइकमणिजजवयणा, अप्पिच्छा, अप्पारंभा, अप्परिग्गहा, अप्पेणं आरंभेण, अप्पेणं समारंभेण, अप्पेणं आरंभसमारंभेण विर्लिं कप्पेमाणा बहुइं वास। इं आउर्यं पालेति, पालिता कालमासे कालं किच्चा अण्यरेसु वाणमंतरेसु तं चेव सर्वं जवरं ठिई चउद्दसवासहस्राइं।

७१—(वे) जो जीव ग्राम, आकर, नगर, लेट, कर्बंट, द्रोणमुख, मडंब, पत्तन ग्राथम, निगम, संवाह, सञ्जिवेश में मनुष्यरूप में उत्पन्न होते हैं, जो प्रकृतिभद्र-सौम्य व्यवहारशील—परोपकारपरायण, शान्त, स्वभावतः क्रोध, मान, माया एवं लोभ की प्रतनुता—हलकापन लिये हुए—इनकी उग्रता से रहित, मृदु मार्दवसम्पन्न—अत्यन्त कोमल स्वभावयुक्त—अहंकार रहित, आलीन—गुरुजन के आश्रित—आज्ञापालक, विनीत—विनयशील, माता-पिता की सेवा करने वाले, माता-पिता के वचनों का अतिक्रमण—उल्लंघन नहीं करने वाले, अल्पेच्छा—बहुत कम इच्छाएँ, आवश्यकताएँ रखनेवाले, अल्पारंभ—अल्पहिंसायुक्त—कम से कम हिंसा करने वाले, अल्पपरिग्रह—धन, धान्य आदि परिग्रह के

अल्प परिमाण से परितुष्टि, अल्पारंभ-प्रल्पसमारंभ—जीव-हिंसा एवं जीव-परितापन की व्यूनता द्वारा आजीविका चलानेवाले बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। अवशेष वर्णन पिछले सूत्र के सदृश है। केवल इतना अन्तर है—इनकी स्थिति आयुष्यपरिमाण और हजार वर्ष का होता है।

परिवलेशबाधित नारियों का उपचार

७२—से जाओ इमाओ गामगर जाव' संनिवेसेमु इतिथाओ भवंति, तं जहा—अंतो अंतेऽरियाओ, गवपह्याओ, मयपह्याओ, चालविहवाओ, छविङ्गलिलयाओ, माइरकिखयाओ, पिपर-विखयाओ, भायरविखयाओ, कुलघररविखयाओ, समुरकुलरविखयाओ, मित्तनाइनियगसंबंधिरकिख-याओ, पलङ्गहकेसकवखरोमाओ, ववगयधूषपुफगंधमलालंकाराओ, अण्हाणगसेयजल्लभल्लपंकपरिता-वियाओ, ववगयखीर-हहि-णवणीय-सप्ति-तेल्ल-गुल-लोण-महु-मज्ज-मंस-परिचत्तकयाहाराओ, अपि-च्छाओ, अप्यारंभाओ, अप्यपरिग्गहाओ, अप्येण आरभेण, अप्येण समारभेण, अप्येण आरंभसमारभेण विभिन्न क्षेत्रमाणीओ अकामबंभवेरवासेण तामेव पद्मेजजं णाहकमंति, ताओ णं इतिथाओ एवाहरेण विहारेण विहरमाणीओ बहुइ वासाइ (आउयं पालेति, पालिता कालमासे कालं किञ्चचा अप्णयरेमु वागमंतरेमु देवलोएमु देवसाए-उववत्तारीओ भवंति, तहि तेसि गई, तर्हि तेसि ठिई, तर्हि तेसि उववाए पण्णते। तेसि णं भते ! देवाणं केवड्यं कालं ठिई पण्णता ? गोयमा !) चउसट्टि वाससह-स्ताइ ठिई पण्णता ।

७२—(ये) जो ग्राम, सन्निवेश आदि में स्त्रियाँ होती हैं—स्त्रीरूप में उत्पन्न होती हों, जो अन्तःपुर के अन्दर निवास करती हों, जिनके पति परदेश गये हों, जिनके पति मर गये हों, जो बाल्यावस्था में ही विधवा हो गई हों, जो पतियों द्वारा परित्यक्त कर दी गई हों, जो मातृरक्षित हों—जिनका पालन-पोषण, संरक्षण माता द्वारा होता हो, जो पिता द्वारा रक्षित हों, जो भाइयों द्वारा रक्षित हों, जो कुलगृह-पीहर द्वारा—पीहर के अभिभावकों द्वारा रक्षित हों, जो श्वसुर-कुल द्वारा - श्वसुर-कुल के अभिभावकों द्वारा रक्षित हों, जो पति या पिता आदि के मित्रों, अपने हितेषियों माता, नाना आदि सम्बन्धियों, अपने सगोशीय देवर, जेठ आदि पारिवारिक जनों द्वारा रक्षित हों, विशेष परिष्कार-संस्कार के अभाव में जिनके नख, केश, कांख के बाल बढ़ गये हों, जो धूप (धूप, लोबान तथा सुरभित औषधियों द्वारा केश, देह आदि पर दिये जाने वाले, वासित किये जाने वाले धूए), पुष्प, सुगन्धित पदार्थ, मालाएं व्वारण नहीं करती हों, जो अस्नान-स्नानभाव, स्वेद—पसीने, जल्ल—रज, मल्ल—सूखकर देह पर जमे हुए मैल, पंक—पसीने से मिलकर गोले हुए मैल से पारितापित—पीड़ित रहती हों, जो दूध दही मक्खन घृत तैल गुड़ नमक मधु मद्द और मांस रहित आहार करती हों, जिनकी इच्छाएं बहुत कम हों, जिनके धन, धान्य आदि परिग्रह बहुत कम हों, जो अल्प आरम्भ समारंभ—बहुत कम जीव-हिंसा, जीव-परितापन द्वारा अपनी जीविका चलाती हों, अकाम—मोक्ष की अभिलाषा या लक्ष्य के बिना जो ब्रह्मचर्य का पालन करती हों, पति-शय्या का अतिक्रमण नहीं करती हों—उपपति स्वोकार नहीं करती हों—इस प्रकार के आचरण द्वारा जीवनयापन करती हों, वे बहुत वर्षों का आयुष्य भोगते हुए, आयुष्य पूरा कर, मृत्यु काल आनेपर

देह-त्याग कर वानव्यन्तर देवलोकों में से किसी में देवरूप में उत्पन्न होती है। प्राप्त देव-लोक के अनुरूप उनकी गति, स्थिति तथा उत्पत्ति होती है। वहाँ उनकी स्थिति चौसठ हजार वर्षों की होती है।

द्विद्वयादिसेवी मनुष्यों का उपपात

७३—से जे इमे गामागर जाव^१ संनिवेसेसु मणुषा भवति, तं जहा—वगविहया, वगतहया, वगसत्तमा, वगएकारसमा, गोयम्-गोवहय-गिहिधम्म-धम्मचितग-अविरुद्ध-विरुद्ध-वुद्ध-सावगप्प-भितयो, तेसि णं मणुष्याणं जो कर्षयति इमाओ नवरसविगङ्गओ ग्राहारेत्तए, तं जहा—खोर, दहि, जवणीयं, सत्पि, तेलं, फाणियं, भहुं, भज्जं, भंसं, जो ग्रषणत्य एककाए सर्विसविगङ्गए। ते णं मणुषा ग्रणिपच्छां तं चेव भव्यं सवरं चउरासीइ खाससहस्साइ ठिई पण्णसा।

७३—जो ग्राम तथा संस्थिवेश आदि पूर्वोक्त स्थानों में मनुष्य रूप में उत्पन्न होते हैं, जो उदक द्वितीय—एक भात—खाद्य पदार्थं तथा दूसरा जल, इन दो पदार्थों का आहार रूप में सेवन करनेवाले, उदकतृतीय—भात आदि तो पदार्थं हज्जा तीव्रे जल का सेवन करने वाले, उदकसप्तम—भात आदि अह पदार्थं तथा सातवें जल का सेवन करने वाले, उदककादश—भात आदि दश पदार्थं तथा खारहवें जल का सेवन करने वाले, गोतम्—विशेष रूप से प्रशिक्षित ठिंगने बैल द्वारा विविध प्रकार के मनोरंजक प्रदर्शन प्रस्तुत कर भिक्षा मांगने वाले, गोव्रतिक—गो-सेवा का विशेष व्रत स्वीकार करने वाले, गृहधर्मी—गृहस्थधर्म—अतिथिसेवा दान आदि से सम्बद्ध गृहस्थ-धर्म को ही कल्याणकारी मानने वाले एवं उनका अनुसरण करने वाले, धर्मचिन्तक—धर्मशास्त्र के पाठक, सभासद् या कथावाचक, अविरुद्ध—वैनियिक—विनयाश्रित भक्तिमार्गी, विरुद्ध—अक्रियावादी—आत्मा आदि को अस्वीकार कर बाह्य तथा आम्यन्तर दृष्टियों से क्रिया-विरोधी, वृद्ध—तापस, श्रावक—धर्मशास्त्र के श्रोता, ग्राह्यण आदि, जो दूध, दही, मक्खन, घृत, तेल, गुड, मधु, मद्य तथा मांस को अपने लिए अकर्त्त्य—अग्राह्य मानते हैं, सरसों के तैल के सिवाय इनमें से किसी का सेवन नहीं करते, जिनकी आकर्क्षाएं बहुत कम होती हैं, —ऐसे मनुष्य पूर्व वर्णन के अनुरूप भरकर वानव्यन्तर देव होते हैं। वहाँ उनका आयुष्य ८४ हजार वर्ष का बतलाया गया है।

विशेचन—प्रस्तुत सूत्र में ऐसे लोगों की चर्चा है, जो सम्यक्त्वी नहीं होते पर किन्हीं विशेष कठिन व्रतों का आचरण करते हैं, अपनी मान्यता के अनुसार अपनी विशेष साधना में लगे रहते हैं, जो कम से कम सुविधाएं और अनुकूलताएं स्वीकार करते हैं, कष्ट भेलते हैं, वे वानव्यन्तर देवों में उत्पन्न होते हैं, ऐसा बतलाया गया है।

यहाँ आया हुआ गोव्रतिक शब्द विशेष रूप से विमर्शयोरय है, वैदिक परम्परा में गाय को बहुत पूज्य माना गया है, उसे देव-स्वरूप कहा गया है। अतएव गो-उपासना का एक विशेष क्रम भारत में रहा है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के दूसरे सर्ग में इस सम्बन्ध में विस्तार से वर्णन किया है। अयोध्याश्रिपति महाराज दिलीप के कोई सन्तान नहीं थी। उनके गुरु महर्षि वशिष्ठ ने कहा कि कामधेनु की देटी नन्दिनी की सेवा से उन्हें पुत्र-प्राप्ति होगी। राजा

१. देखें सूत्र-संछ्या ७१

दिलीप ने सप्तनीक गुरु के आश्रम में रहते हुए, जहाँ नन्दिनी थी, उसकी बहुत सेवा की। उसको परम उपास्य देवता और शाराद्य मानकर तन मन से उसकी सेवा में राजा और रानी जुट गये। महाकवि ने बड़े सुन्दर शब्दों में लिखा है—

“नन्दिनी जब खड़ी होती, राजा खड़ा होता, जब वह चलती, राजा चलता, जब वह बैठती, राजा बैठता, जब वह पानी पीती, राजा पानी पीता। अधिक क्या, राजा काया की तरह नन्दिनी के पीछे-पीछे चलता ।”^१

बृत्तिकार आचार्य अभ्यदेवसूरि ने भी प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या में गोद्रत की विशेष रूप से चर्चा की है। उन्होंने लिखा है—

“गायों के गाँव से बाहर निकलने पर गोद्रतिक बाहर निकलते हैं। वे जब चलती हैं, वे चलते हैं अथवा वे जब चरती हैं—घास खाती हैं, वे भोजन करते हैं। वे जब पानी पीती हैं, वे पानी पीते हैं। वे आती हैं, तब वे आते हैं। वे सो जाती हैं, तब वे सोते हैं ।”^२

महाकवि कालीदास तथा आचार्य अभ्यदेवसूरि द्वारा प्रकट किये गये भावों की तुलना करने पर दोनों की सन्निकटता स्पष्ट प्रतीत होती है।

जैसा प्रस्तुत सूत्र में संकेत है, विनयाश्रित भक्तिवादी उपासना की भी भारतवर्ष में एक विशिष्ट परम्परा रही है। इस परम्परा से सम्बद्ध उपासक हर किसी को विनतभाव से प्रणाम करना अपना धर्म समझते हैं। आज भी यत्र-तत्र न्रज आदि में कुछ ऐसे ध्यक्ति दिखाई देते हैं, जो सभी को प्रणाम करने में तत्पर देखे जाते हैं।

वानप्रस्थों का उपयात

७४—से जे इसे गंगाकूलगा वाणपत्था तावसा भवति, सं जहा—होसिया, पोसिया, कोसिया, जल्लई, सङ्कुई, थालई, हुंबउद्वा, वंसुखलिया, उम्मज्जगा, सम्मज्जगा, निम्मज्जगा, संपक्ष्माला, दिविष्णगकूलगा, उत्तरकूलगा, संखधमगा, कूलधमगा, मिगलुद्वगा, हस्थितावसा, उद्वंदगा, दिसापो-मिखणो, वाकवासिणो, विलवासिणो, वेलंवासिणो, जलवासिणो, रुक्खभूलिया, अंखुमविखणो,

१. स्थितः स्थितामुच्चलितः प्रयातां,
निवेदुषीमासनबन्धीरः,
जलाभिसाधी जलमाददानां,
स्थायेव तां भूपसिरन्वगच्छत् ॥

—रघुवंशमहाकाव्य २. ६

२. गोद्रतं येषामस्ति ते गोद्रतिकाः। ते हि गोपु ग्रामाक्षिर्मच्छतीषु निर्गच्छन्ति, चरन्तीषु चरन्ति, पिवन्तीषु

पिवन्ति, आयन्तीष्वायान्ति, शयनासु च शेरेते इति, उक्तं च—

“गावीहि समं निभगमपवेमसयणासणाइ पकरेति ।

भुजंति जहा गावी तिरिक्षिवासं विहाविता ॥”

—श्रीपातिकसूत्र वृत्ति पत्र ८९, ९०

वाउभक्षणो, सेवालभक्षणो, मूलाहारा, कंदाहारा, तयाहारा, पत्ताहारा, पुष्काहारा, बीजाहारा, परिसङ्गिकदमूलतयपत्तपुष्कलाहारा, जलाभिसेयकदिणगायभूया, आयावणाहि, पंचगितावेहि, इंगालसोलिलयं, कण्डुसोलिलयं, कटुसोलिलयं पित्र अप्याख्यं करेमाण। वहुई वासाहं परियागं पाउण्ठति, वहुई वासाहं परियागं पाउणिता कालमासे कालं किञ्चना उषकोसेण जोइसिएसु देवेनु देवताए उववत्तारो भवति । पलिग्रोबमं वाससयसहस्रमवमहियं ठिई ।

आराहुगा ?

णो इष्टदेण सम्भृणे । सेसं तं चेष्ट ।

७४- गंगा के किनारे रहने वाले वानप्रस्थ तापस कई प्रकार के होते हैं - जैसे—होतृक-ग्रन्थि में हवन करने वाले, पोतृक—वस्त्र धारण करने वाले, कीतृक—पृथ्वी पर सोने वाले, यज्ञ करने वाले, श्राद्ध करने वाले, पात्र धारण करने वाले, कुण्डी धारण करने वाले श्रमण, फल-भोजन करने वाले, उन्मज्जक—पानी में एक बार ढुबकी लगाकर नहाने वाले, सम्मज्जक—बार-बार ढुबकी लगाकर नहाने वाले, निमज्जक—पानी में कुछ देर तक डूबे रहकर स्नान करने वाले, संप्रक्षालक—मिट्टी आदि के द्वारा देह को रगड़कर स्नान करने वाले, दक्षिणकूलक—नभा के दक्षिणा तट पर रहने वाले, उत्तरकूलक—गंगा के उत्तरी तट पर निवास करने वाले, शंखधमायक—तट पर शंख बजाकर भोजन करने वाले, कूलधमायक—तट पर खड़े होकर, शब्द कर भोजन करने वाले, मृगलुब्धक—व्याधों की तरह हिरण्यों का मांस खाकर जीवन चलाने वाले, हस्तितापस—हाथी का वध कर उसका मांस खाकर बहुत काल व्यतीत करने वाले, उद्घटक—दण्ड को ऊँचा किये धूमने वाले, दिशाप्रोक्षी—दिशाओं में जल छिड़ककर फल-फूल इकट्ठे करने वाले, वृक्ष की छाल को वस्त्र की तरह धारण करने वाले, बिलबासी—बिलों में भूगर्भ गृहों में या गुफाओं में निवास करसे थाले, वेलबासी—समुद्रतट के समीप निवास करने वाले, जलबासी—पानी में निवास करने वाले, वृक्षमूलक—वृक्षों की जड़ में निवास करने वाले, अन्तुभक्षी—जल का आहार करने वाले, वायुभक्षी—वायु का ही आहार करने वाले, शेवालभक्षी—काई का आहार करने वाले, मूलाहार—मूल का आहार करने वाले, कन्दाहार—कन्द का आहार करने वाले, त्वचाहार—वृक्ष की छाल का आहार करने वाले, पत्राहार—वृक्ष के पत्तों का आहार करने वाले, पुष्पाहार—फूलों का आहार करने वाले, बीजाहार—बीजों का आहार करने वाले, अपने आप गिरे हुए, पृथक् हुए कन्द, मूल, छाल, पत्र, पुष्प तथा फल का आहार करने वाले, पंचाग्नि की आतापत्ता से—अपने चारों ओर अग्नि जलाकर तथा पाँचवें सूर्य की आतापत्ता से अपनी देह को अंगारों में पकी हुई-सी, भाड़ में भूनी हुई-सी बनाते हुए बहुत वर्षों तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन करते हैं । बहुत वर्षों तक वानप्रस्थ पर्याय का पालन कर मृत्यु-काल आने पर देह त्याग कर के उत्कृष्ट ज्योतिष्क देवों में देव रूप में उत्पन्न होते हैं । वहाँ उनकी स्थिति एक लाख वर्ष श्रद्धिक एक पल्योपम-प्रमाण होती है ।

क्या वे परलोक के आराधक होते हैं ?

नहीं, ऐसा नहीं होता ।

अवशेष वर्णन पूर्व की तरह जानना चाहिए ।

शिवेचन—प्रस्तुत सूचन में प्रयुक्त पल्योपम शब्द एक विशेष, अति दीर्घं काल का सूचक है। जैन बाह्यमय में इसका बहुलता से प्रयोग हुआ है।

पल्य या पल्ल का अर्थ कुआ या अनाज का बहुत बड़ा कोठा है। उसके आधार पर या उसकी उपमा से काल-गणना की जाने के कारण यह कालावधि 'पल्योपम' कही जाती है।

पल्योपम के तीन भेद हैं—१. उद्धार-पल्योपम, २. अद्वा-पल्योपम, ३. क्षेत्र-पल्योपम।

उद्धार-पल्योपम—कल्पना करें, एक ऐसा अनाज का बड़ा कोठा या कुआ हो, जो एक योजन (चार कोस) लम्बा, एक योजन चौड़ा और एक योजन गहरा हो। एक दिन से सात दिन की आयु वाले नवजात योगिलिक शिशु के बालों के अत्यन्त छोटे टुकड़े किए जाएं, उनसे ठूंस-ठूंस कर उस कोठे या कुए को अच्छी तरह दबा-दबा कर भरा जाय। भराव इतना सघन हो कि अग्रिन उन्हें जलान सके, चक्रवर्ती की सेना उन पर से निकल जाय तो एक भी कण इधर से उधर न हो सके, गंगा का प्रवाह वह जाय तो उन पर कुछ असर न हो सके। यों भरे हुए कुए में से एक-एक समय में एक-एक बाल-खंड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ खाली हो, उस काल-परिमाण को उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। उद्धार का अर्थ निकालना है। बालों के उद्धार या निकाले जाने के आधार पर इसकी संज्ञा उद्धार-पल्योपम है। यह संख्यात समय प्रमाण माना जाता है।

उद्धार-पल्योपम के दो भेद हैं—सूक्ष्म एवं व्यावहारिक। उपर्युक्त वर्णन व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम का है। सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम इस प्रकार है—

व्यावहारिक उद्धार-पल्योपम में कुए को भरने में योगिलिक शिशु के बालों के टुकड़ों की जो चर्चा आई है, उनमें से प्रत्येक टुकड़े के असंख्यात अदृश्य खंड किए जाएं। उन सूक्ष्म खंडों से पूर्ववर्णित कुआ ठूंस-ठूंस कर भरा जाय। वैसा कर लिए जाने पर प्रतिसमय एक-एक खंड कुए में से निकाला जाय। यों करते-करते जितने काल में वह कुआ, बिलकुल खाली हो जाय, उस काल-अवधि को सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम कहा जाता है। इसमें संख्यात वर्ष-कोटि परिमाण-काल माना जाता है।

अद्वा-पल्योपम—अद्वा देशी शब्द है, जिसका अर्थ काल या समय है। आगम के प्रस्तुत प्रसंग में जो पल्योपम का जिक्र आया है, उसका आशय इसी पल्योपम से है। इसकी गणना का अम इस प्रकार है—योगिलिक के बालों के टुकड़ों से भरे हुए कुए में से सी सी वर्ष में एक एक टुकड़ा निकाला जाय। इस प्रकार निकालते-निकालते जितने काल में वह कुआ बिलकुल खाली हो जाय, उस कालावधि को अद्वा-पल्योपम कहा जाता है। इसका परिमाण संख्यात वर्ष कोटि है।

अद्वा-पल्योपम भी दो प्रकार का होता है—सूक्ष्म और व्यावहारिक। यहाँ जो वर्णन किया गया है, वह व्यावहारिक अद्वा-पल्योपम का है। जिस प्रकार सूक्ष्म उद्धार-पल्योपम में योगिलिक शिशु के बालों के टुकड़ों के असंख्यात अदृश्य खंड किए जाने की बात है, तत्सदृश यहाँ भी वैसे ही असंख्यात अदृश्य केश-खंडों से वह कुआ भरा जाय। प्रति सी वर्ष में एक खंड निकाला जाय। यों निकालते-निकालते जब कुआ बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, वह सूक्ष्म अद्वा-पल्योपम कोटि में आता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात वर्ष कोटि माना गया है।

क्षेत्र-पल्योपम-—ऊपर जिस कूप या धान के विशाल कोठे की चर्चा है, योगलिक के बाल खंडों से उपर्युक्त रूप में दबा-दबा कर भर दिये जाने पर भी उन खंडों के बीच में आकाश प्रदेश—रित्क स्थान रह जाते हैं। वे खंड जाहे कितने ही खोटे हों, आखिर वे रूपी या मूर्त हैं, आकाश अरूपी या अमूर्त है। स्थूल-रूप में उन खंडों के बीच रहे आकाश-प्रदेशों की कल्पना नहीं की जा सकती, पर सूक्ष्मता से सोचने पर वैसा नहीं है। इसे एक स्थूल उदाहरण से समझा जा सकता है—कल्पना करें, अनाज के एक बहुत बड़े कोठे को कूष्माणी-कुम्हड़ों से भर दिया गया। इसमें यदि देखने में लगता है, वह कोठा भरा हुआ है, उसमें कोई स्थान खाली नहीं है, पर यदि उसमें नीबू भरे जाएं तो वे अच्छी तरह समा सकते हैं, क्योंकि सटे हुए कुम्हड़ों के बीच में स्थान खाली जो है। यों नीबुओं से भरे जाने पर भी सूक्ष्म रूप में और खाली स्थान रह जाता है, बाहर से वैसा लगता नहीं। यदि उस कोठे में सरसों भरना जाहें तो वे भी समा जायेंगे। सरसों भरने पर भी सूक्ष्म रूप में और स्थान खाली रहता है। यदि नदी के रजःकण उसमें भरे जाएं, तो वे भी समा सकते हैं।

दूसरा उदाहरण दीवाल का है। चुनी हुई दीवाल में हमें कोई खाली स्थान प्रतीत नहीं होता पर, उसमें हम अनेक खूटियाँ, कीले गाढ़ सकते हैं। यदि बास्तव में दीवाल में स्थान खाली नहीं होता तो यह कभी संभव नहीं था। दीवाल में स्थान खाली है, मोटे रूप में हमें मालूम नहीं पड़ता। अस्तु ।

क्षेत्र-पल्योपम की चर्चा के अन्तर्गत योगलिक के बालों के खंडों के बीच-बीच में जो आकाश-प्रदेश होने की बात है, उसे भी इसी दृष्टि से समझा जा सकता है। योगलिक के बालों के खंडों को संस्पृष्ट करने वाले आकाश-प्रदेशों में से प्रत्येक को प्रति समय निकालने की कल्पना की जाय। यों निकालते-निकालते जब सभी आकाश-प्रदेश निकाल लिए जाएं, कुशा बिलकुल खाली हो जाय, वैसा होने में जितना काल लगे, उसे **क्षेत्र-पल्योपम** कहा जाता है। इसका काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है।

क्षेत्र-पल्योपम दो प्रकार का है—व्यावहारिक एवं सूक्ष्म। उपर्युक्त विवेचन व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम का है।

सूक्ष्मक्षेत्र-पल्योपम इस प्रकार है—कुए में भरे योगलिक के केश-खंडों से स्पृष्ट तथा अस्पृष्ट सभी आकाश—प्रदेशों में से एक-एक समय में एक-एक प्रदेश निकालने की यदि कल्पना की जाय तथा यों निकालते-निकालते जितने काल में वह कुशा समय आकाश-प्रदेशों से रित्क हो जाय वह काल परिमाण सूक्ष्म—**क्षेत्र-पल्योपम** है। इसका भी काल-परिमाण असंख्यात उत्सर्पिणी अवसर्पिणी है। व्यावहारिक क्षेत्र-पल्योपम से इसका काल असंख्यात गुना अधिक होता है।

प्रदर्जित शमणों का उपयात

७५—से जे इमे जाव^१ सज्जिवेसेसु पञ्चइया समणा भवंति, तं जहा—कंवपिया, कुवकुइया, मोहरिया, गीयरहपिया, नच्चणसोला, से ण एण विहारेण विहरमाणा बहुइं बासाइं सामणपरियायं पाउण्ति, बहुइं बालाइं सामणपरियायं पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयअपदिकंता कालमासे

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

कालं किञ्चाऽ उष्कोसेण सोहम्मे कथ्ये कंदप्पिएसु देवेसु देवताएँ उच्चतारो भवन्ति । तं हि तेसि गई, सेसां तं चेष्ट पश्चरं पलिअवमं वासतयसहस्रमध्यियं ठिई ।

७५—(ये) जो ग्राम, राज्ञिवेश आदि में मनुष्य रूप में उत्पन्न होते हैं, प्रवृजित होकर अनेक रूप में श्रमण होते हैं—

जैसे कान्दपिक—नानाविधि हास-परिहास या हँसी-मजाक करने वाले, कीकुचिक—भी, शाँख, मुँह, हाथ पैर आदि से भाड़ों की तरह कुत्सित चेष्टाएँ कर हँसाने वाले, मौखिक-असम्बद्ध या ऊटपटांग बोलने वाले, गीतरतिप्रिय गानयुक्त कीड़ा में विशेष अभिहचिशील अथवा गीतप्रिय लोगों को चाहने वाले तथा नर्तनशोल—नाचने की प्रकृति वाले, जो अपने-अपने जीवन-क्रम के अनुसार आचरण करते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-जीवन का पालन करते हैं, पालन कर अन्त समय में अपने पाप-स्थानों का आलोचन-प्रलिङ्गण नहीं करते ॥ गुह के समक्ष आलोचना कर दोष-निवृत्त नहीं होते, वे मृत्युकाल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सीधर्म-कल्प में—प्रथम देवलोक में—हास्य-कीड़ा-प्रधान देवों में उत्पन्न होते हैं । वहाँ उनकी गति आदि अपने पद के अनुरूप होती है । उनकी स्थिति एक लाख वर्ष अधिक एक पल्पोपम की होती है ।

परिव्राजकों का उपपात

७६—से जे इमे जावै^१ सन्निवेसेसु परिव्वाया भवन्ति, तं जहा—संखा, जोगी, काविला, भित्तिव्वा, हंला, परमहंसा, बहुउव्वगा, कुलिव्वया, कण्हपरिव्वाया । तथ्य खलु इमे अद्व माहण-परिव्वायगा भवन्ति । तं जहा—

कण्हे य करकंडे य अंबडे य परासरे ।
कण्हे दीक्षायणे चेव देवगुत्ते य नारए ॥

तथ्य खलु इमे अद्व खलियपरिव्वाया भवन्ति, तं जहा—

सीलई ससिहारे(य), नगई भगई लि य ।
विवेहे रायाराया, राया रामे बलेति य ॥

७६—जो ग्राम……… सन्निवेश आदि में अनेक प्रकार के परिव्राजक होते हैं, जंसे— सांख्य—पुष्प, प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पञ्चतन्मात्राएँ, एकादण इत्तिय, पंचमहाभूत—इन पञ्चीस^२ तत्त्वों में श्रद्धाशील, योगी—हठ योग के अनुष्ठाता, कापिल-महर्षि कपिल को अपनी परम्परा का आद्य प्रवर्तक मानने वाले, निरीष्वरवादी सांख्य मतानुयायी, भाग्यव—भूगु कृषि की परम्परा के अनुसरी, हंस, परमहंस, बहूदक तथा कुटीचर संजक चार प्रकार के यति एवं कृष्ण परिव्राजक—नारायण में भक्तिशील विशिष्ट परिव्राजक आदि ।

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

२. पञ्चविंशतितत्त्वज्ञो, वत्र तत्राथमें वसन् ।

जटी मुण्डी शिखी वागि, मुच्यते नात्र संजयः ॥ १. माध्यकारिका १. गोडपादभाष्य

उनमें आठ ब्राह्मण-परिवाजक—ब्राह्मण जाति में दीक्षित परिवाजक होते हैं, जो इस प्रकार हैं—१. कर्ण, २. करकण्ट, ३. अम्बड, ४. पाराशर, ५. कृष्ण, ६. द्वैपायन, ७. देवगुप्त तथा ८. चारद।

उनमें आठ क्षत्रिय-परिवारक—क्षत्रिय जाति में से दीक्षित परिवारक होते हैं—१. शीलधी, २. शशिघ्नर (शशिधारक), ३. लग्नक, ४. भृतक, ५. विदेह, ६. राजराज, ७. राजराम तथा ८. बल।

गहन श्रद्धयन तथा गवर्षणा का आवश्यकता है। वृत्तिकार आचार्य अभयदेवसूरि ने चार यति परिद्वाजकों का वृत्ति में जो परिचय दिया है, उसके अनुसार हंस परिद्वाजक उन्हें कहा जाता था, जो पर्वतों की कस्तराओं में, पर्वतीय मार्गों पर, परमहंस उन्हें कहा जाता था, जो नदियों के तटों पर, नदियों के संगम-स्थानों पर निवास करते थे, जो देह-त्याग के समय परिद्वेष बस्त्र, कौपीन (लंगोट), तथा कुश-डाभ के बिछोने का परित्याग कर देते थे, वंसा कर प्राण त्यागते थे। जो गाँव में एक रात तथा नगर में पांच रात प्रवास करते थे, प्राप्त भोगों को स्वीकार करते थे, उन्हें बहुदक कहा जाता था। जो गृह में वास करते हुए कोध, लोभ, मोह और अहंकार का त्याग किये रहते थे, वे कुटीश्वर या कुटीचर कहे जाते थे।¹

लोभ, मोह और अहकार का त्याग। कथा ८३३ व, १ अप्रृष्ट ।

इस सूत्र में आठ प्रकार के ब्राह्मण-परिव्राजक तथा आठ प्रकार के धन्त्रिय-परिव्राजकों की दो गाथाओं में चर्चा की गई है। वृत्तिकार ने उनके सम्बन्ध में केवल इतना-सा संकेत किया—
 “कण्डवादयः षोडश परिव्राजका लोकतोऽवसेष्याः” ।^{१२}

अर्थात् इन सोलह परिवाजकों के सम्बन्ध में लोक से जानकारी प्राप्त करनी चाहिए। ऐसा प्रतीत होता है, वृत्तिकार के समय तक ये परम्पराएँ लगभग लुप्त हो गई थीं। इनका कोई साहित्य उपलब्ध नहीं था।

क्षत्रिय परिवाजकों में एक शशिधर, या शशिधारक नाम आया है। नाम से प्रतीत होता है, ये कोई ऐसे परिवाजक रहे हों, जो मस्तक पर चन्द्रमा का आकार या प्रतीक धारण करते हों। आज अपने शैवों में 'जंगम' संज्ञक परम्परा के लोग प्राप्त होते हैं, जो अपने आराध्य देव शिव के अभुरूप भी शैवों में प्रतीक के साथ-साथ चन्द्र का प्रतीक भी धारण किये रहते हैं। कुछ इसी प्रकार की स्थिति शशिधरों के साथ रही हो। निश्चित रूप से कुछ कहा नहीं जा सकता।

१. औपराहिकासु वृत्ति पत्र ९२

२. औपचारिकसूत्र वृत्ति पत्र ९२

७७—ते णं परिवाया रित्वेद-यजुवेद-सामवेद-अहृष्टवेद-इतिहासपञ्चमाणं, निष्ठण्टु-
छट्टाणं, संगोवंगाणं सरहस्साणं चउण्हं वेदाणं सारथा पारगा धारगा, सङ्गवी, सट्टितंत्तविसारथा,
संखाणे, सिक्काकप्ये, वागरणे, छंदे, निरुत्ते, जोड्सामयणे, अण्णेसु य बहूनु वंभण्णएसु य सत्थेसु
परिवाएसु य नएसु सुपरिणिट्या यावि होत्था ।

७८—वे परिवाजक ऋक्, यजु, साम, अथवं—इन चारों वेदों, पाँचवें इतिहास, छठे निष्ठण्टु
के अध्येता थे । उन्हें वेदों का संगोपांग रहस्य बोध्युर्वक ज्ञान था । वे चारों वेदों के सारक—
ग्रन्थापन द्वारा सम्प्रवर्तक अथवा स्मारक—ओरों को स्मरण कराने वाले, पारग—वेदों के पारगामी,
धारक—उन्हें स्मृति में बनाये रखने में सक्षम तथा वेदों के छहों अंगों के ज्ञाता थे । वे षष्ठितत्त्व—
में विशारद या निपुण थे । संख्यान—गणित विद्या, शिक्षा—छवनि विज्ञान—वेद मन्त्रों के उच्चारण
के विशिष्ट विज्ञान, अल्प—याज्ञिक कर्मकाण्डविधि, व्याकरण—शब्दशास्त्र, छन्द—पिगलशास्त्र,
निरुत्त—वैदिक शब्दों के निर्वचनात्मक या व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या-ग्रन्थ, ज्योतिष शास्त्र तथा अन्य
व्याहृण्य—ब्राह्मणों के लिए हितावह शास्त्र अथवा ब्राह्मण-ग्रन्थ—वैदिक कर्मकाण्ड के प्रमुख विषय में
विद्वानों के विचारों के संकलनात्मक ग्रन्थ—इन सब में सुपरिनिष्ठत-सुपरिपक्व ज्ञानयुक्त होते हैं ।

७९—ते णं परिवाया दाणधम्मं च सोयधम्मं च तित्थाभिसेयं च आघवेमाणा, पणवेमाणा,
परुदेमाणा विहरति । अं णं अम्हं कि चि असुई भवह, तं णं उवएण य मट्टियाए य पक्खालियं
सुई भवति । एवं खलु अम्हे चोक्खा, चोक्खायारा, सुई, सुहसमायारा भविता अभिसेयजलपूयप्याणो
प्रविघेण सर्गं गमिस्सामो ।

८०—वे परिवाजक दान-धर्म, शोच-धर्म, दैहिक शुद्धि एवं स्वच्छतामूलक आचार
तीर्थीभिषेक-तीर्थस्थान का जनसमुदाय में आच्यान करते हुए—कथन करते हुए, प्रज्ञापन करते
हुए—विशेष रूप से समझाते हुए, प्ररूपण करते हुए—युक्तिपूर्वक स्थापित या सिद्ध करते हुए विच-
रण करते हैं । उनका कथन है, हमारे मतानुसार जो कुछ भी अशुचि—अपवित्र प्रतीत हो जाता है,
वह मिट्टी लगाकर जल से प्रक्षालित कर लेने पर—धो लेने पर गवित्र हो जाता है । इस प्रकार हम
स्वच्छ-निर्मल देह एवं वेष युक्त तथा स्वच्छाचार-निर्मल आचार युक्त हैं, शुचि—गवित्र, शुच्या-
चार—गवित्राचार युक्त हैं, अभिषेक-स्नान द्वारा जल से अपने आपको गवित्र कर निविष्टतया
स्वर्ग जायेंगे ।

८१—तेसि णं परिवायगाणं जो कप्पह अगढं च तत्त्वायं वा नदं वा वाचि वा पुष्खरिणि वा
दोहियं वा गुंजालियं वा सरं वा सागरं वा ओगाहित्तए, णण्णत्थ अद्वाणगमणेण । जो कप्पह सगडं वा
जाव (रहं वा जाणं वा जुगं वा गिल्लि वा घिल्लि वा पवहणं वा सीयं वा) संदमाणियं वा दुरुहित्ता
णं गच्छित्तए । तेसि णं परिवायगाणं जो कप्पह आसं वा हत्थि वा उट्टं वा गोणं वा महिसं वा खरं
वा दुरुहित्ता णं गमित्तए, णण्णत्थ बलाभिग्रोगेण । तेसि णं परिवायगाणं जो कप्पह नडपेच्छा इ वा
जाव (नट्टगपेच्छा इ वा, जल्लपेच्छा इ वा, मल्लपेच्छा इ वा, मुट्टियपेच्छा इ वा, वेलंबयपेच्छा इ वा
पवगपेच्छा इ वा, कहगपेच्छा इ वा, लासगपेच्छा इ वा, आइवखगपेच्छा इ वा, लंखपेच्छा इ वा,
मंखपेच्छा इ वा, तृणहल्लपेच्छा इ वा, तुंबबीणियपेच्छा इ वा, भुयगपेच्छा इ वा) मागहपेच्छा इ वा
पेच्छित्तए । तेसि परिवायगाणं जो कप्पह हरियाणं लेसणया वा, घटुणया वा, र्थभणया वा लूसणया

वा, उप्याहणवा वा करित्तए । तेसि परिव्यायगाणं णो कप्पइ इत्थिकहा इ वा, भत्तकहा इ वा, देसकहा इ वा, रायकहा इ वा, चोरकहा इ वा, जणवयकहा इ वा, अणतथवंडे करित्तए । तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ अयपायाणि वा, तउअपायाणि वा, तंबपायाणि वा, जसदपायाणि वा, सीसगपायाणि वा, रूपपायाणि वा, सुवण्णपायाणि वा, अण्णयराणि वा बहुमुल्लाणि धारित्तए, णण्णत्थ अलाउपाएण वा वाल्याएण वा अट्टियापाएण वा । तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ अयबंधणाणि वा जाव (तउअबंधणाणि वा, तंबबंधणाणि वा, जसदबंधणाणि वा, सीसगबंधणाणि वा, रूपबंधणाणि वा, सुवण्णबंधणाणि वा अण्णबंधणि वा) । बहुमुल्लाणि धारित्तए । तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ हारं वा, अहुहारं वा, एगावलि वा, मुत्तावलि वा, कणगावलि वा, रयणगावलि वा, मुरवि वा, कंठमुरवि वा पालंबं वा, तिसरयं वा, कङ्गिसुलं वा दसमुहिष्माणंतंगं वा, कडयाणि वा, तुडियाणि वा, अंगयाणि वा, केङ्गराणि वा, कुंडलाणि वा, मजङ्गं वा, चूलामणि वा पिण्डित्तए, णण्णत्थ एगेणं तंबिएणं पद्धित्तएणं । तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ गंथिमवेदिभपूरिमसंघाइसे चउविवहे मल्ले धारित्तए, णण्णत्थ एगेणं कण्णपूरेणं । तेसि णं परिव्यायगाणं णो कप्पइ अगलुएण वा, खंदणेण वा, कुंकुमेण वा, गायं अणुर्लिपित्तए, णण्णत्थ एककाए गंगामहियाए ।

७९—उन परिव्राजकों के लिए भाग्य में चलते समय के सिवाय अवट—कुए, तालाब, नदी, बापी—बावड़ी—चतुष्कोण जलाशय, पुष्करिणी गोलाकार या कमलयुक्त बावड़ी, दीर्घिका—सारणी-क्यारी, विशाल सरोवर, गुंजालिका—वक्राकार बना तालाब तथा जलाशय में प्रवेश करना कल्प्य नहीं है अर्थात् वे मार्ग-गमन के सिवाय इनमें प्रवेश नहीं करते, ऐसा उनका व्रत है ।

शकट—गाड़ी (रथ, यान, युध्य—पुरातनकालीन गोल्ल देश में सुप्रसिद्ध दो हाथ लम्बे चौड़े ढोली जैसे यान, गिलिल—दो आदमियों द्वारा उठाई जाने वाली एक प्रकार की शिदिका, शिलिल—दो घोड़ों की बगड़ी या दो खच्चरों से खींचा जाता यान, शिविका—पर्देदार पालखी) तथा स्यन्दमानिका—पुरुष-प्रमाण पालखी पर चढ़कर जाना उन्हें नहीं कल्पता । उनके लिए यह वर्जित है ।

उन परिव्राजकों को छोड़े, हाथी, ऊँट, बंल, भैसे तथा गधे पर सवार होकर जाना— चलना नहीं कल्पता—वैसा करना उनके लिए वर्जित है । इसमें बलाभियोग का अपवाद है अर्थात् जबर्दस्ती कोई बैठा दे तो उनकी प्रतिज्ञा खण्डित नहीं होती ।

उन परिव्राजकों को नटो—नाटक दिखाने वालों के नाटक, (नर्तकों—नाचने वालों के नाच, रससी आदि पर चढ़कर कलाबाजी दिखाने वालों के खेल, पहलवानों की कुशित्यां मौजिष्टक या मुक्केबाजों के प्रदर्शन, मसखरों की मसखरियां, कथकों के कथालाप, उछलने या नदी आदि के तैरने का प्रदर्शन करने वालों के खेल, बीर रस की गाथाएं या रास गाने वालों के बीर गीत, शुभ अणुभ बातें बताने वालों के करिश्मे, बांस पर चढ़कर खेल दिखाने वालों के खेल, चित्रपट दिखाकर आजीविका चलाने वालों की करतूतें, तूण नामक तन्तु-बाद्य बजाकर आजीविका कमाने वालों के करतब, पूर्णो बजाने वालों के गीत, ताली बजाकर मनोविनोद करने वालों के विनोदपूर्ण उपक्रम) तथा स्तुति-गायकों के प्रशस्तिमूलक कार्य-कलाप आदि देखना, सुनना नहीं कल्पता ।

उन परिव्राजकों के लिए हरी बनस्पति का स्पर्श करना, उन्हें परस्पर घिसना, हाथ आदि

द्वारा अवरुद्ध करना, शाखाओं, पत्तों आदि को ऊँचा करना या उन्हें मोड़ना, उखाड़ना कर्त्त्य नहीं है ऐसा करना उनके लिए निषिद्ध है ।

उन परिव्राजकों के लिए स्त्री-कथा, भोजन-कथा, देश-कथा, राज-कथा, चोर-कथा, जनपद-कथा, जो अपने लिए एवं दूसरों के लिए हानिप्रद तथा निरर्थक है, करना कल्पनीय नहीं है ।

उन परिव्राजकों के लिए तूंबे, काठ तथा मिट्टी के पात्र के सिवाय लोहे, रंगे, तांबे, जमद, शीशे, चाँदी या सोने के पात्र या दूसरे बहुमूल्य धातुओं के पात्र धारण करना कर्त्त्य नहीं है ।

उन परिव्राजकों को लोहे, (रंगे, तांबे, जमद, शीशे, चाँदी और सोने) के या दूसरे बहुमूल्य बन्ध—इन से बंधे पात्र रखना कर्त्त्य नहीं है ।

उन परिव्राजकों को एक धातु से—गेहूं से रंगे हुए—गेहूए वस्त्रों के सिवाय तरह-तरह के रंगों से रंगे हुए वस्त्र धारण करना नहीं कल्पता ।

उन परिव्राजकों को तांबे के एक पवित्रक—अंगूठी के अतिरिक्त हार, अर्धहार, एकावली, मुक्तावली, कनकावली, रत्नावली, मुखी—हार विशेष, कण्ठमुखी—कण्ठ का आभरण विशेष, प्रालम्ब—लंबी माला, त्रिसरक—तीन लड्डों का हार, कटिसूत्र—करधनी, दशमुद्रिकाएं, कटक—कड़े, श्रुटित—तोड़े, अंगद, केयूर—बाजूबन्द कुण्डल—कर्णभूषण, मुकुट तथा चूडामणि रत्नमय शिरोभूषण—शीर्षफूल धारण करना नहीं कल्पता ।

उन परिव्राजिकों को फूलों से बने केवल एक कर्णपूर के सिवाय गृथकर बनाई गई मालाएं, लघेट कर बनाई गई मालाएं, फूलों की परस्पर संयुक्त कर बनाई मालाएं या संहित कर परस्पर एक दूसरे में उलझा कर बनाई गई मालाएं ये चार प्रकार की मालाएं धारण करना नहीं कल्पता ।

उन परिव्राजकों को केवल गंगा की मिट्टी के अतिरिक्त अगर, चन्दन या केसर से शरीर को लिप्त करना नहीं कल्पता ।

८०—तेसि यं परिव्रायगाणं कर्पद्म माग्नहए पत्थए जलस्स परिगाहित्तए, से वि य बहमाणे जो चेव यं अवहमाणे, से वि य यिमिओद्देवए, जो चेव यं कहमोद्देवए, से वि य बहुप्पसण्णे, जो चेव यं अवहुप्पसण्णे से वि य परिपूए, जो चेव यं अपरिपूए, से वि य यं दिण्णे, जो चेव यं अदिण्णे, से वि य यिवित्तए, जो चेव यं हृत्थ-पाय-बह चमस-पवखालणट्टए सिणाइत्तए वा ।

तेसि यं परिव्रायगाणं कर्पद्म माग्नहए आदए जलस्स परिगाहित्तए, से वि य बहमाणे, जो चेव यं अवहमाणे, (से वि य यिमिओद्देवए, जो चेव यं कहमोद्देवए, से वि य बहुप्पसण्णे, जो चेव यं अवहुप्पसण्णे, से वि य परिपूए, जो चेव यं अपरिपूए, से वि य यं दिण्णे, जो चेव यं अदिण्णे, से वि य हृत्थ-पाय-बह-चमस-पवखालणट्टयै, जो चेव यं यिवित्तए सिणाइत्तए वा ।

८०—उन परिव्राजकों के लिये मगध देश के तोल के अनुसार एक प्रस्थ जल लेना कल्पता है । वह भी बहता हुआ हो, एक जगह बंधा हुआ या बन्द नहीं अर्थात् बहता हुआ एक प्रस्थ-परिमाण जल उनके लिये कल्प्य है, तालाब आदि का बन्द जल नहीं । वह भी यदि स्वच्छ हो तभी ग्राह्य है, कीचड़पुक्त हो तो ग्राह्य नहीं है । स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—साफ और निमंल हो,

तभी ग्राह्य है अन्यथा नहीं। वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो उनके लिए कल्प्य है, अनछाना नहीं। वह भी यदि दिया गया हो—कोई दाता उन्हें दे, तभी ग्राह्य है, बिना दिया हुआ नहीं। वह भी केवल पीने के लिए ग्राह्य है, हाथ पैर, चर्ख—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुड़खी या चम्मच घोने के लिए या स्नान करने के लिए नहीं।

उन परिवाजकों के लिए मागध तोल के अनुसार एक आढक जल लेना कल्पता है। वह भी वहता हुआ हो, एवं जगह बंधा हुआ या बन्द नहीं अर्थात् वहती हुई नदी का एक आढक-परिमाण जल उनके लिए कल्प्य है, तालाब आदि का बन्द जल नहीं। (वह भी यदि स्वच्छ हो तभी ग्राह्य है, कीचड़युक्त हो तो ग्राह्य नहीं है। स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—बहुत साफ और निर्मल हो तभी ग्राह्य है अन्यथा नहीं। वह परिपूत—वस्त्र से छाना हुआ हो तो उनके लिए कल्प्य है, अनछाना नहीं। वह भी यदि दिया गया हो—कोई दाता उन्हें दे, तभी ग्राह्य है, बिना दिया हुआ नहीं।) वह भी केवल हाथ, पैर, चर्ख—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुड़खी या चम्मच घोने के लिए ग्राह्य है, पीने के लिए या स्नान करने के लिए नहीं।

विवेचन— ग्रायुर्वेद के ग्रन्थों में प्राचीन माप-तोल के सम्बन्ध में चर्चाएँ हैं। प्राचीन काल में मागधमान तथा कलिगमान—दो तरह के माप-तोल प्रचलित थे। मागधमान का अधिक प्रचलन और मान्यता थी। विशेष रूप मगध (दक्षिण विहार) में प्रचलित होने के कारण यह मागधमान कहलाता था। शताब्दियों तक मगध प्रशासनिक दृष्टि से उत्तर भारत का मुख्य केन्द्र रहा। अतएव मागधमान का मगध के अतिरिक्त भारत के अन्यान्य प्रदेशों में भी प्रचलन हुआ। भावप्रकाश में मान के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा है।

वहाँ महर्षि चरक की आधार मानकर मागधमान का विवेचन करते हुए परमाणु से प्रारम्भ कर उत्तरोत्तर बढ़ते हुए मानों—परिमाणों की है। वहाँ बतलाया गया है—

“तीस परमाणुओं का एक त्रसरेणु होता है। उसे बंशी भी कहा जाता है। जाली में पड़ती हुई सूर्य की किरणों में जो छोटे-छोटे सूक्ष्म रजकण दिखाई देते हैं, उनमें प्रत्येक की संख्या त्रसरेणु या बंशी है। छह त्रसरेणु की एक मरीचि होती है। छह मरीचि की एक राजिका या राई होती है। तीन राई का एक सरसों, आठ सरसों का एक जी, चार जी कि एक रत्ती, छह रत्ती का एक मासा होता है। मासे के पर्यायवाची हेम और धानक भी हैं। चार मासे का एक शाण होता है, धरण और टक इसके पर्यायवाची हैं। दो शाण का एक कोल होता है। उसे क्षुद्रक, बटक एवं द्रड़क्षण भी कहा जाता है। दो कोल का एक कर्ण होता है। पाणिमानिक, अक्ष, पिचु, पाणितल, किचित्पाणि, तिन्दुक, विडाल-पदक, षोडशिका, करमध्य, हंसपद, सुवर्ण, कवलग्रह तथा उदुम्बर इसके पर्यायवाची हैं। दो कर्ण का एक अर्धपल (आधा पल) होता है। उसे शुक्ति या अष्टमिक भी कहा जाता है। दो शुक्ति का एक पल होता है। मुष्टि, आञ्ज, चतुर्थिका, प्रकृच, षोडशी तथा बिल्व भी इसके नाम हैं। दो पल की एक प्रसूति होती है, उसे प्रसूत भी कहा जाता है। दो प्रसूतियों की एक अंजलि होती है। कुडव, अर्ध शरावक तथा अष्टमान भी उसे कहा जाता है। दो कुडव की एक मानिका होती है। उसे शराव तथा अष्टपल भी कहा जाता है। दो शराव का एक प्रस्थ होता है अर्थात् प्रस्थ में ६४ तोले होते हैं। पहले ६४ तोले का ही सेर माना जाता था, इसलिए प्रस्थ को सेर का पर्यायवाची माना जाता है। चार

प्रस्थ का एक आढक होता है, उसको भाजन, कांस्य-पात्र तथा छीसठ पल का होने से चतुःषष्ठिपल भी कहा जाता है।^१

भावप्रकाश में आगे बताया गया है कि चार आढक का एक द्रोण होता है। उसको कलश, नल्दण, अर्मण, उन्मान, घट तथा राशि भी कहा जाता है। दो द्रोण का एक शूर्प होता है, उसको कुंभ भी कहा जाता है तथा ६४ शरावक का होने से चतुःषष्ठिशरावक भी कहा जाता है।^२

८१—ते णं परिवायगा एयारुवेणं विहारेण विहरमाणा बहूदं वासाहं परियावं पातर्णति, बहूदं वासाहं परियावं पातर्णिता कालमासे कालं किञ्चना उक्षोसेण बंधतोए कस्ये देवताए उबवत्तारो भवन्ति। तहि तेसि गई, तहि तेसि ठिई। वस सागरोवमाहं ठिई पण्णता, सेसं तं चेष्ट।

८१—वे परिनामक इस प्रकार के आचार या चर्या द्वारा विचरण करते हुए, बहुत वर्षों तक परिनामक-पर्यायि का—परिनामक-धर्म का पालन करते हैं। बहुत वर्षों तक वैसा कर मृत्युकाल आने पर देह त्याग कर उत्कृष्ट श्रहालोक कल्प में देव रूप में उत्पन्न होते हैं। तदनुरूप उनकी गति और स्थिति होती है। उनकी स्थिति या आयुष्य दस सागरोपम कहा गया है। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

१. चरकस्य मर्त वैदीराद्येयस्मान्मतं ततः।
विहाय सर्वभानानि भाग्धं मानमुच्यते॥
त्रसरेणुद्धृष्टे प्रोक्तस्त्रिशता परमाणुभिः।
त्रसरेणुस्तु पर्यायनाम्ना वंशी निगद्यते॥
जालान्तरात्मैः सूर्यकरैर्वेशी विलोक्यते।
मद्वंशीभिर्मरीचिः स्यात्ताभिः पद्मभिष्व राजिका॥
तिसृष्टी राजिकाभिष्व सर्वपः प्रोक्ष्यते बुधैः।
यत्रोऽप्तसार्वपः प्रोक्षो गुञ्जा रथात्तत्त्वुष्ट्यम्॥
षड्भिस्तु रक्तिकाभिः स्यात्माषको हेमधानकौ।
मार्वैश्चतुर्भिः शाणः स्याद्वरणः स निगद्यते॥
टड़ः स एव कथितस्तद्वद्यं कोल उच्चते।
क्षुद्रको बटकश्चैव दण्डकणः स निगद्यते॥
शरावाभ्यां भवेत्प्रस्थश्चतुः प्रस्थस्तथाऽऽदकः।
भाजनं कांस्यपात्रं च चतुःषष्ठिपलश्च मः॥

कोलद्वयन्तु कर्षः स्यात्स प्रोक्तः पाणिमानिका।
अभः पिचुः पाणितलं किञ्चित्पाणिश्च तिन्दुकम्॥
विडालपदकं चैव तथा षोडशिका मता।
करमध्यो हंसपदं मुवर्णं कवलग्रहः॥
उदुम्बरश्च पर्यायः कर्षमेव निगद्यते।
स्यात्कषमियामद्वपलं शुक्रिरष्टमिका तथा॥
शुक्रिम्याद्वच पलं ज्येष्ठं मुष्टिराज्ञं चतुर्थिका।
प्रकुञ्जः षोडशी बिल्वं पलमेवात्र कीर्त्यते॥
पलाभ्यां प्रसूतिर्ज्येष्ठा प्रसूतञ्जल निगद्यते।
प्रसूतिभ्यामञ्जिः स्यात्कुडवोऽप्तशरावकः॥
शरावोऽप्तपलं तद्वज्ञेयमन्त्र विनक्षणः॥

—भावप्रकाश, पूर्व खण्ड, द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण—२-४

२. चतुभिराद्वकेद्रोणः कलशो नल्वणोऽर्जणः।
उन्मानञ्च घटो राशिद्रोणपर्यायसंज्ञितः॥
शूर्पम्याद्वच भवेद् द्रोणी बाहो गोणी च सा सृजता।
द्रोणाभ्यां शूर्पकुम्भी च चतुःषष्ठिशरावकः॥

—भावप्रकाश, पूर्व खण्ड, द्वितीय भाग, मानपरिभाषा प्रकरण १५, १६

अम्बदृ परिवाजक के सात सौ अन्तेवासी

द२—तेण कालेण तेण समएण श्राम्भदस्त्वा परिव्वायगस्त्वा सत्त अन्तेवासिसथाईं गिम्हकालसम्प्रयसि जेद्वामूलमासंमि गंगाए महानईए उभश्चोक्तुलेण कंपिलपुराम्बो प्रवराम्बो पुरिमतालं नगरं संघटिया विहाराए ।

द२—उस काल—बत्तमान अवस्थिणी के बौधे आरे के अन्त में, उस समय—जब भगवान् महावीर सदेह विद्यमान थे, एक बार जब श्रीष्मशृङ्खु का समय था, जेठ का महीना था, अम्बदृ परिवाजक के सात सौ अन्तेवासी—शिष्य गंगा महानदी के दो किनारों से काम्पिल्यपुर नामक नगर से पुरिमताल नामक नगर को रवाना हुए ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में काम्पिल्यपुर तथा पुरिमताल नामक दो नगरों का उल्लेख हुआ है ।

काम्पिल्यपुर भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था । महाभारत आदि पर्व (१३७.७३), उद्योग पर्व (१८९.१३, १९२.१४), शान्ति पर्व (१३९.५) में काम्पिल्य का उल्लेख आया है । आदिपर्व तथा उद्योग पर्व के अनुसार यह उस समय के दक्षिण पांचाल प्रदेश का नगर था । यह राजा द्रुपद की राजधानी था । द्रोपदी का स्वयंवर यहीं हुआ था ।

तायाधम्मकहाम्बो (१६ वें अध्ययन) में भी पांचाल देश के राजा द्रुपद के यहाँ काम्पिल्यपुर में द्रोपदी के जन्म आदि का वर्णन है ।

भगवान् महावीर के समय काम्पिल्यपुर अरथन्त समृद्ध नगर था । भगवान् के देश प्रसुख उपासकों में से एक कुट्ठकीलिक वहीं का निवासी था, जिसका उपासकदशांग सूत्र के छठे अध्ययन में वर्णन है ।

इस समय यह बदायूँ और फर्हखाबाद के बीच बूढ़ी गंगा के किनारे कम्पिल नामक ग्राम के रूप में विद्यमान है । यह नगर कभी जैनधर्म का प्रमुख केन्द्र था ।

द३—तए ऊं लेसि परिव्वायगाणं तीसे अगामियाए, द्विष्णायायाए, बोहमद्वाए अड्डवीए कंचि देशंतरमणुपस्ताणं से पुत्रगहिए उदए अणुपुब्देण परिभुजमाणे झीणे ।

द३—वे परिवाजक चलते-चलते एक ऐसे जंगल में पहुँच गये, जहाँ कोई गाँव नहीं था, न जहाँ व्यापारियों के काफिले, गोकुल—गायों के समूह, उनकी निगरानी करने वाले गोपालक आदि का ही आवागमन था, जिसके मार्ग बड़े विकट थे । वे जंगल का कुछ भाग पार कर पाये थे कि चलते समय श्रपने साथ लिया हुआ पानी पीते-पीते कमशः समाप्त हो गया ।

द४—तए ऊं से परिव्वायगा झीणोद्दगा समाणा तष्ट्वाए पारबम्भाणा उदगदातारमपस्तमाणा अण्णम्भाणं सद्वावेति, सद्वावित्ता एवं व्यासी—

द४—तब वे परिवाजक, जिनके पास का पानी समाप्त हो चूका था, प्यास से व्याकुल हो गये । कोई पानी देने वाला दिखाई नहीं दिया । वे परस्पर एक दूसरे को संबोधित कर कहने लगे—

८५—“एवं खलु वेषाणुपिया ! अम्हे इमोसे अगामिश्चाए जाव (छिणोक्षायाए, शीहमत्राए) अडबीए कंचि देसंतरभणुपत्ताणं से उदाए जाव (अणुपुष्वेण परिभुजमाणे) भीणे । तं सेयं खलु वेषाणुपिया ! अम्हं इमोसे अगामियाए जाव^१ अडबीए उदगदातारस्स सबवश्चो समंता मागणगवेसणं करित्तए” त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेति, पडिसुणिता नीसे लगासियाए जाव^२ अडबीए उदगदातारस्स सबवश्चो समंता मागणगवेसणं करेति, करित्ता उदगदातारभलभमाणा दोच्चंपि अण्णमण्णं सद्वावेत्ता एवं वयासी---

८६—देवानुप्रियो ! हम ऐसे जंगल का, जिसमें कोई गाँव नहीं है, (जिसमें व्यापारियों के काफिले तथा गोकुल आदि का आवागमन नहीं है, जिसके रास्ते बड़े विकट हैं) कुछ ही भाग पार कर पाये कि हमारे पास जो पानी था, (पीते-पीते ऋमशः) समाप्त हो गया । अतः देवानुप्रियो ! हमारे लिए यही श्रेयस्कर है, हम इस ग्रामरहित वन में सब दिशाओं में चारों ओर जलदाता की मार्गणा-गवेषणा —खोज करें ।

उन्होंने परस्पर ऐसी चर्चा कर यह तय किया । ऐसा तय कर उन्होंने उस गाँव रहित जंगल में सब दिशाओं में चारों ओर जलदाता की खोज की । खोज करने पर भी कोई जलदाता नहीं मिला । फिर उन्होंने एक दूसरे को संबोधित कर कहा —

८७—“इह णं वेषाणुपिया ! उदगदातारो णत्य, तं णो खलु कप्पह अम्हं अदिणं गिणहित्तए, अदिणं साइज्जित्तए, तं मा णं अम्हे इयाणिं ग्रावहकालं पि अदिणं गिणहामो, अदिणं साइज्जामो, मा णं अम्हं तबलोवे भविसइ : तं सेयं खलु अम्हं वेषाणुपिया ! तिवंडयं कुंडियाश्चो य, कंचणियाश्चो य, करोडियाश्चो य, भिसियाश्चो य, छणालए य, अंकुसए य, केसरियाश्चो य, पवित्तए य, गणेत्तियाश्चो य, छत्तए य, वाहणाश्चो य, पाउयाश्चो य, धाउरसाश्चो एवंते एडित्ता गंगं महाणहं शोगाहित्ता बालुयासंथारए संथरित्ता संलेहणाभूसियाणं, भत्तपाणपडियाइविख्याणं, पाश्रोवगयाणं कालं अणवकंखमाणाणं विहरित्तए” त्ति कट्टु अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणेति, अण्णमण्णस्स अंतिए एयमट्ठं पडिसुणिता तिवंडयं जाव (कुंडियाश्चो य, कंचणियाश्चो य, करोडियाश्चो य, भिसियाश्चो य, छणालए य, अंकुसए य, केसरियाश्चो य, पवित्तए य, गणेत्तियाश्चो य, छत्तए य, वाहणाश्चो य, पाउयाश्चो य, धाउरसाश्चो य) एवंते एडेति, एडित्ता गंगं महाणहं शोगाहेति, शोगाहित्ता बालुआ-संथारए संथरंति, संथरित्ता बालुयासंथारयं त्रुहहिति, त्रुहहिता पुरत्थाभिमुहा संपलियंकनिसणा करयल जाव^३ कट्टु एवं वयासी—

८८—देवानुप्रियो ! यहाँ कोई पानी देनेवाला नहीं है । अदत्त—विना दिया हुआ लेना, सेवन करना हमारे लिए कल्प्य—गाह्य नहीं है । इसलिए हम इस समय आपत्तिकाल में भी अदत्त का ग्रहण न करें, सेवन न करें, जिससे हमारे तप—ब्रत का लोप—भंग न हो । अतः हमारे लिए यही श्रेयस्कर है कि, हम त्रिदण्ड—तीन दंडों या वृक्ष-शाखाओं को एक साथ बाँधकर या मिलाकर बनाया गया एक दंड,

-
१. देखें सूत्र यही ।
 २. देखें सूत्र यही ।
 ३. देखें सूत्र-संख्या ४७ ।

कुण्डिकाएँ-कमंडलु, काङ्चनिकाएँ—हृद्राक्ष-मालाएँ, करोटिकाएँ—मृत्तिका या मिट्टी के पात्र-विशेष, वृषिकाएँ—बैठने की पटहियां, बण्नालिकाएँ—त्रिकाण्डिकाएँ, अंकुश—देव पूजा हेतु वृक्षों के पत्ते संचीण, संगृहीत करने में उपयोग में लेने के अंकुश, केशरिकाएँ—प्रसार्जन के निमित्त—सफाई करने, पोंछने से धारण करने की रुद्राक्ष-मालाएँ—सुमिरिनियाँ, छत्र—छाते, पेरों में धारण करने की पादुकाएँ, काठ में धारण करने की रुद्राक्ष-मालाएँ—ध्रोतियाँ एकान्त में छोड़कर गंगा की खड़ाऊएँ, धातुरक्त—गेहूं से रंगी हुई—गेहूं रंग की शाटिकाएँ—ध्रोतियाँ एकान्त में छोड़कर गंगा महानदी में (गंगा के बालुका भाग में) बालू का संस्तारक—बिछौना तैयार कर (गंगा महानदी को संस्तारक पार कर) सलेखनापूर्वक—देह और मन को तपोमय स्थिति में संलीन करते हुए—शरीर एवं कषायों हो—विराधक संस्कारों एवं भावों को क्षीण करते हुए आहार-पानी का परित्याग कर, कटे हुए वृक्ष को—विराधक संस्कारों एवं भावों की आकृक्षा न करते हुए संस्थित हों। जैसी निष्ठेष्टावस्था स्वीकार कर मृत्यु की आकृक्षा न करते हुए संस्थित हों।

परस्पर एक दूसरे से ऐसा कह उन्होंने यह तय किया। ऐसा तय कर उन्होंने त्रिदण्ड आदि अपने सप्तकरण एकान्त में डाल दिये। वैसा कर महानदी गंगा में प्रवेश किया। फिर बालू का संस्तारक तैयार किया। संस्तारक तैयार कर वे उस पर आँख—श्रवस्थित हुए। अब स्थित होकर पूर्वाभिमुख हो पश्चासन में बैठे। बैठकर दोनों हाथ जोड़े और बोले—

द७—“नभोत्थु णं अरहंताणं जाव (भगवंताणं, आइगराणं, तिरथगराणं, सर्पसंबुद्धाणं, पुरिसुत्तमाणं, पुरिससोहाणं, पुरिसवरपुंडरीयाणं, पुरिसवरगंघहस्थीणं, लोगुत्तमाणं, लोगनाहाणं, लोगहियाणं, लोगपर्वद्वाणं, लोगपञ्जजोयगराणं, अभयदयाणं, चक्षुवयाणं भगवदयाणं, सरणदयाणं जीवदयाणं, बोहिदयाणं, धर्मदयाणं, धर्मदेसयाणं, धर्मनायगाणं, धर्मसारहीणं, धर्मवरचाउरतं-ज्ञवक्षद्वीणं, दीक्षो, ताणं, सरणं, गई, पड़हा, अप्यडिह्यवरनाणदंसणधराणं दियदृछउभाणं, जिणाणं, जावयाणं, तिणाणं, तारयाणं, बुढाणं, बोहपाणं, मुत्ताणं, भोयगाणं, सद्वरण्णाणं, सद्वदरिसीणं, सिवमयलमध्यमण्णतमक्षयमध्यवावाहमपुणरावत्तं, सिद्धिगहणामध्यज्ञं, ठाणं) संपत्ताणं। नभोत्थु णं समणस्स मगवओ महावीरस्स जाव^१ संपादितकामस्स, नभोत्थु णं अस्मद्दस्स परिव्यायगस्स अम्हं समणस्स मगवओ महावीरस्स जाव^१ संपादितकामस्स, नभोत्थु णं अस्मद्दस्स परिव्यायगस्स अम्हं धर्मायरियस्स धर्मोद्वेसगस्स।

पुढ़िय णं अम्हेहि अस्मद्दस्स परिव्यायगस्स अंतिए थूलगपाणाहवाए पच्चवक्षाए जावज्जीवाए, मुसावाए अदिण्णावाणे पच्चवक्षाए जावज्जीवाए, सब्वे मेहुणे पच्चवक्षाए जावज्जीवाए, थूलए परिग्नहे असावाए अदिण्णावाणे पच्चवक्षाए जावज्जीवाए, सब्वे मेहुणे पच्चवक्षाए जावज्जीवाए, अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सब्वं पाणाइवायं पच्चवक्षाए जावज्जीवाए, इयाणि अम्हे समणस्स भगवओ महावीरस्स अंतिए सब्वं पाणाइवायं पच्चवक्षामो जावज्जीवाए, एवं जाव (सब्वं मुसावायं पच्चवक्षामो जावज्जीवाए, सब्वं अदिण्णावाणं पच्चवक्षामो जावज्जीवाए, सब्वं मेहुणं पच्चवक्षामो जावज्जीवाए) सब्वं परिग्नहं पच्चवक्षामो जावज्जी-पच्चवक्षामो जावज्जीवाए, सब्वं कोहं, माणं, मायं, लोहं, पेउजं, दोसं, कलहं, अडभवक्षाणं, पेसुणं, परपरिवायं, अरहरहं, चाए, सब्वं कोहं, माणं, मायं, लोहं, पेउजं, दोसं, कलहं, अडभवक्षाणं, पेसुणं, परपरिवायं, अरहरहं, मायायोसं, मिल्लादंसणसल्लं, अकरणिङ्गं जोगं पच्चवक्षामो जावज्जीवाए, सब्वं असणं, पाणं, खाइमं, साइयं—चतुर्दिव्यहं पि आहारं पच्चवक्षामो जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं हट्ठं, कंतं, पिण्यं, मणुष्णं, साइयं—चतुर्दिव्यहं पि आहारं पच्चवक्षामो जावज्जीवाए। जं पि य इमं सरीरं हट्ठं, कंतं, पिण्यं, मणुष्णं, साइयं, पेउजं, येउजं, वेसासियं, संमयं, अहुमयं, अणुमयं, भंडकरंडगसमाणं, मा णं सीयं, मा णं उण्हं, मा अणामं, पेउजं, येउजं, वेसासियं, संमयं, अहुमयं, अणुमयं, भंडकरंडगसमाणं, मा णं चोरा, मा णं चंसा, मा णं भसगा, मा णं बाइयपित्तियं-णं खुहा, मा णं पिषासा, मा णं बाला, मा णं चोरा, मा णं चंसा, मा णं भसगा, मा णं बाइयपित्तियं-

संनिवाइयविविहा रोगायंका, परीसहोवसम्या फुसंतु ति कद्दु एवंविणं चरमेहि ऊसासणीसासेहि
ज्ञोसिरामि” ति कद्दु संलेहणाभूसणाभूसिया भत्पाणपडियाइविखया पाओवगत्या कालं ग्रन्थकंखमाणा
विहरति ।

८७—अर्हत्—इन्द्र आदि द्वारा पूजित अथवा कर्मशक्तियों के नाशक, भगवान्—आध्यात्मिक
ऐश्वर्य सम्पन्न, आदिकर—अपने युग में धर्म के आध्य प्रवर्तक, तीर्थकर—साधु-साध्वी-श्रावक-श्राविका
रूप जहुडिता धर्मदीर्घ—हृषीसंग के प्रवर्तक, सच्चित्तदुद्ध—स्वयं—विना किसी अन्य निमित्त के बोध-
प्राप्त, पुरुषोत्तम—पुरुषों में उत्तम, पुरुषसिंह—प्रात्मशोर्य में पुरुषों में सिंह-सदृश, पुरुषवरपुण्डरीक—
सर्व प्रकार की मलिनता से रहित होने के कारण पुरुषों में श्रेष्ठ ईवेत कमल के समान अथवा मनुष्यों में
रहते हुए कमल की तरह निलेप, पुरुषवर-गन्धहस्ती—उत्तम गन्धहस्ती के सदृश—जिस प्रकार गन्धहस्ती
के पहुँचते ही सामान्य हाथी भाग जाते हैं, उसी प्रकार किसी धोध में जिनके प्रवेश करते ही दुष्कृति,
महामारो आदि अनिष्ट दूर हो जाते हैं, अर्थात् अतिशय तथा प्रभावपूर्ण उत्तम व्यक्तित्व के धनी,
लोकोत्तम—लोक के सभी प्राणियों में उत्तम, लोकनाथ—लोक के सभी भव्य प्राणियों के स्वामी—उन्हें
सम्यक् दर्शन सन्मार्ग प्राप्त कराकर उनका योग-क्षेम^१ साधने वाले, लोकहितकर—लोक का कल्याण
करने वाले, लोकप्रदीप—शान्तरूपी दीपक द्वारा लोक का अज्ञान दूर करने वाले अथवा लोकप्रतीप—
लोक-प्रवाह के प्रतिकूलगामी—आध्यात्मपथ पर गतिशील, लोकप्रधारोत्कर—लोक, अलोक, जीव, अजीव
आदि का स्वरूप प्रकाशित करने वाले अथवा लोक में धर्म का उद्योत फैलाने वाले, अभयदायक—सभी
प्राणियों के लिए अभयप्रद—संपूर्णतः अहिंसक होने के कारण किसी के लिए भय उत्पन्न नहीं करने वाले,
चक्रुदायक—आन्तरिक नेत्र या सद्ज्ञान देने वाले, मार्गदायक—सम्यक्ज्ञान, दर्शन, चारित्र रूप साधना-
पथ के उद्बोधक, शारणदायक—जिज्ञासु, भुमुक्षु जनों के लिए आश्रयभूत, जीवनदायक—आध्यात्मिक
जोवन के संबल, बोधिदायक—सम्यक् बोध देने वाले, धर्मदायक—सम्यक् चारित्ररूप धर्म के दाता,
धर्मदेशक—धर्मदेशना देने वाले, धर्मनायक, धर्मसारथि—धर्मरूपी रथ के चालक, धर्मवर चातुरन्त-
चक्रवर्ती—चार अन्त—सीमायुक्त गृह्यवी के अधिपति के समान धार्मिक जगत् के चक्रवर्ती, दीप—दीपक
सदृश समस्त वस्तुओं के प्रकाशक अथवा दीप—संसार-समुद्र में डूबते हुए जीवों के लिए दीप के समान
बचाव के आधार, त्राण—कर्म-कदम्बित भव्य प्राणियों के रक्षक, शरण—आश्रय, गति एवं प्रतिष्ठा
स्वरूप, प्रतिधात, बाधा या आवरण रहित उत्तम ज्ञान, दर्शन आदि के धारक, व्यावृत्तच्छद्मा—अज्ञान
आदि आवरण रूप छद्म से अतीत, जिन—राग अद्विदि के जेता, ज्ञायक—राग आदि भावात्मक सम्बन्धों
के ज्ञाता अथवा ज्ञापक—राग आदि को जीतने का पथ बताने वाले, तीर्ण—संसार-सागर को पार कर
जाने वाले, तारक—संसार-सागर से पार उत्तारने वाले, बुद्ध—बोधप्रद या जानने योग्य का बोध
प्राप्त किए हुए, बोधक—ओरों के लिए बोधप्रद, सर्वज्ञ सर्वदर्शी, शिव—कल्याणभव, अचल—स्थिर,
निष्पद्धव, अन्तरहित, अयरहित, बाधारहित, अपुनरावर्तन—जहाँ से फिर जन्म-मरण रूप संसार
में आगमन नहीं होता, ऐसी सिद्धि-गति—सिद्धावस्था नामक स्थिति प्राप्त किये हुए—सिद्धों
को नमस्कार हो ।

भगवान् महावीर को, जो सिद्धावस्था प्राप्त करने के समुद्धत हैं, हमारा नमस्कार हो ।

१. अप्राप्तस्य प्राप्तेण योगः—जो प्राप्त नहीं है, उसका प्राप्त होना योग कहा जाता है ।

प्राप्तस्य रक्षणं क्षेमः—प्राप्त की रक्षा करना क्षेम है ।

हमारे घर्मचार्य, धर्मपदेशक अम्बड परिवाजक को नमस्कार हो। पहले हमने अम्बड परिवाजक के पास—उनके साक्ष्य से स्थूल प्राणातिपात—स्थूल हिंसा, मृषावाद—असत्य, चोरी, सब प्रकार के अब्लहाचर्य तथा स्थूल परिग्रह का जीवन भर के लिए प्रत्याख्यान त्याग किया था। सब प्रकार के अब्लहाचर्य तथा स्थूल परिग्रह का जीवन भर के लिए प्रत्याख्यान त्याग किया था। इस समय भगवान् महावीर के साक्ष्य से हम सब प्रकार की हिंसा, सब प्रकार के असत्य, सब प्रकार की चोरी, सब प्रकार के अब्लहाचर्य तथा सब प्रकार के परिग्रह का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

सब प्रकार के क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रेम—अप्रकट माया व लोभजनित प्रिय या रोचक भाव, द्वेष—अव्यक्त मान व क्रोधजनित अप्रिय या अप्रीति रूप भाव, कलह—लड़ाई-झगड़ा, अस्थाख्यान—मिथ्या दोषारोपण, पैशुन्य—चुभली तथा पीठ पीछे किसी के होते—अनहोते दोषों का प्रकटीकरण, परपरिवाद—निन्दा, रति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप असंयम में सुख मानना, रुचि दिखाना, अरति—मोहनीय कर्म के उदय के परिणाम-स्वरूप संयम में अरुचि में सुख मानना, रुचि दिखाना, माया या अलपूर्वक भूठ बोलना तथा मिथ्यादर्शन-शर्त्य—मिथ्या विश्वास रूप काटे का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

अकरणीय योग—न करने योग्य भन, बचन तथा शरीर की प्रवृत्ति—किया का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं। अशन—अन्तादि निष्पन्न भोज्य पदार्थ, पान—पानी, खादिम—खाद्य—फल, मेवा आदि पदार्थ, स्वादिम—स्वाद्य—पान, सुपारी, इलायची आदि मुख्यासकर पदार्थ—इन चारों का जीवन भर के लिए त्याग करते हैं।

यह शरीर, जो इष्ट—बलभ, कान्त—काम्य, प्रिय—प्यारा, मनोज—सुन्दर, मनाम—मन में बसा रहने वाला, प्रेय—अतिशय प्रिय, प्रेज्य—विशेष मान्य, स्थेयमय—अस्थिर या विनश्वर होते हुए भी अज्ञानवश स्थिर प्रतीत होने वाला, वैश्वासिक—विश्वसनीय, सम्मत—अभिमत, बहुमत—बहुत माना हुआ, अनुमत, गहनों की पेटी के समान प्रीतिकर है, इसे सर्दी न लग जाए, गर्मी न लग जाए, यह भूखा न रह जाए, प्यासा न रह जाय, इसे सांप न डस ले, चोर उपद्रुत न करें—कष्ट न पहुँचाएं डांस न काटें, मच्छर न काटें, बात, पित्त, (कफ) सज्जिपात आदि से जनित विविध रोगों द्वारा, तरकाल मार डालने वाली बीमारियों द्वारा यह पीड़ित न हो, इसे परिषह—भूख, प्यास आदि कष्ट, उपसर्ग—देवादि-कृत संकट न हों, जिसके लिए हर समय ऐसा ध्यान रखते हैं, उस शरीर का हम चरम—अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास तक व्युत्सर्जन करते हैं—उससे अपनी ममता हटाते हैं।

संलेखना द्वारा जिनके शरीर तथा कषाय दोनों ही कृश हो रहे थे, उन परिवाजकों ने आहार-पानी का परित्याग कर दिया। कटे हुए कृक्ष की तरह अपने शरीर को चेष्टा-शून्य बना लिया। मृत्यु की कामना न करते हुए शान्त भाव से वे अवस्थित रहे।

दद—सए ण से परिव्वाया बहुइं भत्ताइं अणसणाए छेदेति छेदिता आसोइयपिकंता, समाहिपत्ता, कालमासे कालं किच्चा बंभलोए कल्पे देवत्ताए उषवर्णा। तेहि तेसि गई, वससागरोद्ध-माइं ठिई पञ्जता, परलोगस्त आराहगा, सेसं तं चेद।

दद—इस प्रकार उन परिवाजकों ने बहुत से भक्त—चारों प्रकार के आहार अनशन द्वारा छिप किए—अनशन द्वारा चारों प्रकार के आहारों से सम्बन्ध तोड़ा यथवा बहुत से भोजन-काल

अनशन द्वारा व्यतीत किये । बैसा कर दोषों की आलोचना की—उनका निरीक्षण-परीक्षण किया, उनसे प्रतिक्रान्त—परावृत्त हुए—हटे, समाधि-दशा प्राप्त की । मृत्यु-समय आने पर देह त्यागकर ब्रह्मलोक कल्प में वे देव रूप में उत्पन्न हुए । उनके स्थान के अनुरूप उनकी गति बतलाई गई है । उनका शायुष्य दश सागरोपम कहा गया है । वे परलोक के आराधक हैं । अवशेष वर्णन पहले की तरह है ।

विवेचन—सूत्र संख्या ७४ से ८८ के अन्तर्गत जिन तापस साधक, परिवाजक आदि का वर्णन है, उनके आचार-व्यवहार, जीवन-क्रम तथा साधना-पद्धति का सूक्ष्मता से परिशीलन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि भगवान् महावीर के समय में, उसके आसपास साधकों के कतिपय ऐसे समुदाय भी थे, जिन्हें न तो सर्वथा वैदिक मतानुयायी कहा जा सकता है और न पूर्णतः निर्गन्ध-परम्परा से सम्बद्ध ही । उनके जीवन के कुछ आचार ऐसे थे—जिनका सम्बन्ध वैदिक साधना-पद्धति की किन्हीं परम्पराओं से जोड़ा जा सकता है । उनको साधना का शौच या बाह्य शुद्धिमूलक क्रम एक ऐसा ही रूप था, जिसका सामीक्ष्य वैदिक धर्म से है । अनशनमय घोर तप, भिक्षा-विधि, अदत्त का ग्रहण आदि कुछ ऐसी स्थितियाँ थीं जो जैन साधनापद्धति के सम्बन्धित हैं । इन साधकों में कतिपय ऐसे भी थे, जो अन्ततः जैन श्रद्धा स्वीकार कर लेते थे, जैसा अस्त्रण परिवाजक के शिष्यों ने किया ।

आचार्य हरिभद्रसूरि रचित 'समराहच्च-कहा' आदि उत्तरवर्ती ग्रन्थों में भी तापस साधकों तथा परिवाजकों की चर्चाएँ आई हैं । लगता है, साधना के क्षेत्र में एक ऐसी समन्वय-प्रधान पद्धति काफी समय तक चलती रही पर आगे चलकर वह ऐसी लुप्त हुई कि आज उन साधकों के विषय में विशेष कुछ परिज्ञात नहीं है । उनकी विचारधारा, साधना तथा सिद्धांत आदि के सम्बन्ध में न कोई स्वतन्त्र साहित्य ही प्राप्त है और न कोई अन्यविष्ट ऐतिहासिक सामग्री ही ।

धर्म, अध्यात्म, साधना एवं दर्शन के क्षेत्र में अनुसन्धान-रत मनीषी, शोधार्थी, अध्ययनार्थी इस ओर ध्यान दें, गहन अध्ययन तथा गवेषणा करें, अज्ञात एवं अप्राप्त तथ्यों को प्राकटित देने का प्रयत्न करें, यह सर्वथा बाज़नीय है ।

चमत्कारी अस्त्रण परिवाजक

८९—बहुजने णं भंते ! अण्णमण्णस्स एवमाहुक्खाह, एवं भासइ, एवं पहुचेह—एवं खलु अंबडे परिवायए कंपिल्लपुरे णयरे घरसए आहारभाहरेह, घरसए वसहिं उचेह, से कहुमेयं भंते ! एवं ?

९०—भगवन् ! बहुत से लोग एक दूसरे से आख्यात करते हैं—कहते हैं, भाषित करते हैं—विशेष रूप से बोलते हैं, तथा प्रहृष्टि करते हैं—जापित करते हैं—बतलाते हैं कि अस्त्रण परिवाजक का मिल्लपुर नगर में सौ घरों में आहार करता है, सौ घरों में निवास करता है । अर्थात् एक ही समय में वह सौ घरों में आहार करता हुआ तथा सौ घरों में निवास करता हुआ देखा जाता है । भगवन् ! यह कैसे है ?

९०—गोयमा ! जं णं से बहुजने अण्णमण्णस्स एवमाहुक्खाह जाव (एवं भासइ) एवं पहुचेह—एवं खलु अंबडे परिवायए कंपिल्लपुरे जाव (घरसए आहारभाहरेह) घरसए वसहिं उचेह, सच्चे

णं एमद्ठं अहंपि णं गोयमा ! एवमाइकलामि जाव (भासेमि) एवं प्ररुतेमि, एवं खलु अम्बडे परिव्यायए जाव (कंपिल्लपुरे णगरे घरसए आहारमाहरेह, घरसए) वसहि उवेह ।

९०—बहुत से लोग आपस में एक दूसरे से जो ऐसा कहते हैं, (बोलते हैं) प्ररूपित करते हैं कि अम्बड परिव्राजक काम्पिल्यपुर में सौ घरों में आहार करता है, सौ घरों में निवास करता है, यह सच है । गौतम ! मैं भी ऐसा हो कहता हूँ, (बोलता हूँ) प्ररूपित करता हूँ कि अम्बड परिव्राजक यावत् (काम्पिल्यपुर नगर में एक साथ सौ घरों में आहार करता है, सौ घरों में) निवास करता है ।

९१—से केणद्ठे णं भते ! एवं बुच्चह—अम्बडे परिव्यायए जाव^१ वसहि उवेह ?

९१—अम्बड परिव्राजक के सम्बन्ध में सौ घरों में आहार करने तथा सौ घरों में निवास करने की जो बात कही जाती है, भगवन् ! उसमें क्या रहस्य है ?

९२—गोयमा ! अम्बडस्स णं परिव्यायगस्स पगइमहयाए जाव (पगइउवसंतप्याए, पगइ-पतणुकोहमाणभायासोहप्याए, मिउम्भद्वसंपण्याए अल्लोण्याए,) विणोष्याए छट्ठंछट्ठेण अनिविक्षेण तयोकम्भेण उड्ढं बाहाशो पगित्तिभय पगित्तिभय सूराभिमुहस्स आयावणभूमीए आयावेमाणस्स सुधेण परिणामेण, पसत्त्वेहि अजभवसाणेहि, पसत्त्वाहि लेसाहि विसुज्भमाणीहि अभ्या क्याइ तदावरणिक्षजाणं कम्माणं खश्रीवसमेण ईहावूहाभागणगवेसणं करंमाणस्स बोरियलद्वीए, वेउविवयलद्वीए, ओहिणाण-लद्वीए समुपण्णाए जणविम्हाणहेउं कंपिल्लपुरे णगरे घरसए जाव^२ वसहि उवेह । से तेणद्ठेण गोयमा ! एवं बुच्चह—अम्बडे परिव्यायए कंपिल्लपुरे णगरे घरसए जाव^३ वसहि उवेह ।

९२—गौतम ! अम्बड प्रकृति से भद्र—सौम्यव्यवहारशील—परोपकारपरायण एवं शान्त है । वह स्वभावतः क्रोध, मान, माया, एवं लोभ को प्रतिनुता—हलकापन लिए हुए है—इतकी उग्रता से रहित है । वह मृदुमार्दवसम्पन्न अत्यन्त कोमल स्वभावयुक्त अहंकाररहित, आलीन—गुरुजनों का आज्ञापालक तथा विनयशील है । उसके बेले बेले का—दो दो दिनों का उपवास करते हुए, अपनी भुजाएँ ऊँची उठाये, सूरज के सामने मुँह किए आतापना-भूमि में आतापना लेते हुए तप का अनुष्ठान किया । फलतः शुभ परिणाम—पुण्यात्मक अन्तःपरिणति, प्रशस्त अद्यवसाय—उत्तम मनः संकल्प, विशुद्ध होती हुई प्रशस्त-लेश्याओं—पुद्गल द्रव्य के संसर्ग से होने वाले आत्मपरिणामों या विचारों के कारण, उसके बीर्य-लब्धि, वैक्रिय-लब्धि तथा अवधिज्ञान-लब्धि के आवरक कर्मों का क्षयोपशम हुआ । ईहा—यह क्या है, यों है या दूसरी तरह से है, इस प्रकार सत्य अर्थ के आलोचन में अभिमुख बुद्धि, अपोह—यह इसी प्रकार है, ऐसी निश्चयात्मक बुद्धि, मार्गण—अत्यवयधर्मोन्मुख चिन्तन—अमुक के होने पर अमुक होता है, ऐसा चिन्तन, गवेषण—व्यतिरेकघर्मोन्मुख चिन्तन—अमुक के न होने पर अमुक नहीं होता, ऐसा चिन्तन करते हुए उसको किसी दिन बीर्य-लब्धि—विशेष शक्ति, वैक्रिय-लब्धि—अनेक रूप बनाने का सामर्थ्य तथा अवधिज्ञानलब्धि—अतीन्द्रिय रूपी पदार्थों को सीधे आत्मा द्वारा जानने को योग्यता प्राप्त हो गई । अतएव जन-विस्मापन हेतु—लोगों को आश्चर्य-चकित करने के लिए इनके द्वारा वह काम्पिल्यपुर में एक ही समय में सौ घरों में आहार

१. देखें सूत्र-संख्या ९०

२-३. देखें सूत्र-संख्या ९०

करता है, सौ घरों में निवास करता है। गौतम ! वस्तुस्थिति यह है। इसीलिए अम्बड़ परिव्राजक के द्वारा काम्पिल्यपुर में सौ घरों में आहार करने तथा सौ घरों में निवास करने की बात कही जाती है।

१३—पहुंच भंते ! अम्बड़े परिव्रायए देवाणुप्पियाण अंतिए मुंडे अदित्ता श्रागारामो अणगारियं पव्वहइत्तए ?

१३—भगवान् ! क्या अम्बड़ परिव्राजक आपके पास मुण्डत होकर—दीक्षित होकर श्राग-अवस्था से अनगार-अवस्था—महाब्रतमय श्रमण-जीवन प्राप्त करने में समर्थ है ?

१४—णो इणट्ठे समट्ठे, गोथमा ! अम्बड़े परिव्रायए समणोधासए अभिगयजोधाजीवे जाव (उबलछपुण्णपावे, श्रासव-संवर-निज्जर-किरिया-श्रहिगरण-बंध-मोक्ख-कुसले, असेहृजे, देवासुर-नाग-सुवर्ण-जक्ख-रक्खस-किण्णर-किपुरिस-नारुल-गंधव्व-महोरगाइएहि देवगणेहि निभगंधाओ पावयणात्तो अणइकमणिज्जे, निगंधे पावयणे णिस्संकिए, णिवकंखिए, निधिवतिगिष्ठे, लद्धट्ठे, गहियट्ठे, पुच्छियट्ठे, अभिगयट्ठे, विणच्छियट्ठे, अद्विमिजपेमाणुरागरत्ते, अयमादसो ! निगंधे पावयणे अट्ठे अयं परमट्ठे, सेसे अणट्ठे, चाउहसद्गुद्विद्व-पुण्णमासोणीसु पडिपुण्णं पोसहं सममं अणुपालेत्ता समणे निगंधे फासुएसणिज्जेणं असप्पाणखाइमसाइमेण, वत्थपडिमाहकबलपायमुद्धणेणं, ओसहमेसज्जेणं पादिहारिणं य पीडफस्पसेज्जासंथारएण पडिलाभेषाणं) अप्पाणं भावेमाणे विहरइ, णवरं ऊसिय-फलिहे, अवंगुणदुवारे, चियतंतेउरघरदारपवेत्ती, एवं णं खुच्चह।

१४—गौतम ! ऐसा संभव नहीं है—वह अनगार धर्म में दीक्षित नहीं होगा। अम्बड़ परिव्राजक श्रमणोपासक है, जिसने जीव, अजीव आदि पदार्थों के स्वरूप को अच्छी तरह समझ लिया है, (पुण्ण और पाप का भेद जान लिया है, आसव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण—जिसके आधार से क्रिया की जाए, बन्ध एवं मोक्ष को जो भलीभांति अवगत कर चुका है, जो किसी दूसरे की सहायता का अनिच्छुक है—आत्म-निर्भर है, जो देव, असुर, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किन्नर, किपुरुष, गरुड़, गन्धर्व, महोरग आदि देवताओं द्वारा निर्ग्रन्थ-प्रबचन से अनतिक्रमणीय—न विचलित किए जा सकने योग्य है, निग्रन्थ-प्रबचन में जो निःशंक—शंका रहित, निष्कांक—आत्मोत्थान के सिवाय अन्य आकांक्षा-रहित, निविच्चिकित्स—संशय-रहित, लब्धर्था—धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किये हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्ठार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, विनिविच्चितार्थ—निश्चित रूप में आत्मसात् किये हुए है एवं जो अस्थि और मज्जा पर्यन्त धर्म के प्रति प्रेम व अनुराग से भरा है, जिसका यह निश्चित विश्वास है कि यह निग्रन्थ प्रबचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजनभूत हैं, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या तथा पूर्णिमा को जो परिपूर्ण पोषध का अच्छी तरह अनुपालन करता हुआ, श्रमण-निग्रन्थों को प्रासुक—अचित्त या निर्जीव, एषणीय—उन द्वारा स्वीकार करने योग्य—निर्देष, अशन, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोन्दृश, औषध, भेषज, प्रातिहारिक—लेकर बापस लौटा देने योग्य वस्तु पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, विद्धाने के लिए धास आदि द्वारा श्रमण-निग्रन्थों को प्रतिलाभित करता हुआ आत्मभावित है।

विशेष यह है—उच्छ्रुत-स्फटिक—जिसके घर के किवाड़ों में आगल नहीं लगी रहती हो, अपावृतद्वार—जिसके घर का दरवाजा कभी बन्द नहीं रहता हो, त्यक्तान्तःपुर गृह द्वार प्रवेश—शिष्ट जनों के आवागमन के कारण घर के भीतरी भाग में उनका प्रवेश जिसे अप्रिय नहीं लगता हो—प्रस्तुत पाठ के साथ आने वाले ये तोन विशेषण यहाँ प्रयोज्य नहीं हैं—लागू नहीं होते। क्योंकि अम्बड़ परिवाजक-पर्याय से श्रमणोपासक हुआ था, गृही से नहीं, वह स्वयं भिक्षु था। उसके घर था ही नहीं। ये विशेषण अन्य श्रमणोपासकों के लिए लागू होते हैं।

९५—अम्बडस्स णं परिवायगस्स थूलए पाणाहवाए पच्चक्खाए जावज्जीवाए जाव (थूलए मुसावाए, थूलए अदिण्णावाणे, थूलए) परिम्भरे णवरं सब्बे मेहुणे पच्चक्खाए जावज्जीवाए।

९६—किन्तु अम्बड परिवाजक ने जीवनभर के लिए स्थूल प्राणातिपात—स्थूल हिसा (स्थूल मृषावाद—स्थूल असत्य, स्थूल अदत्तादान—स्थूल चौर्य, स्थूल), परिश्रह तथा सभी प्रकार के अब्रहृचर्य का प्रत्याख्यान है।

९७—अम्बडस्स णं परिवायगस्स णो कप्पइ ग्रव्वसोय्यमाजमेत्तंषि जलं सवराहु उत्तरितए णण्णत्थ आद्वाणगमणेण। अम्बडस्स णं णो कप्पइ सगडं वा एवं तं चेष माणियवर्वं णञ्जस्थ एगाए गंगामहियाए। अम्बडस्स णं परिवायगस्स णो कप्पइ आहारमिमए वा, उद्देशिए वा, मीसजाए इ वा, अरभोयरए इ वा, पूइकम्मे इ वा, कीयगडे इ वा, पामिच्चे इ वा, अणिसिट्ठे इ वा, अभिहुडे इ वा, ठइस्तए वा, रहस्तए वा, कंतारभत्ते इ वा, दुकिमक्खभत्ते इ वा, गिलाणभत्ते इ वा, बद्लियामत्ते इ वा, पाहुणगमस्ते इ वा, भोत्तए वा, पाहस्तए वा। अम्बडस्स णं परिवायगस्स फो कप्पइ मूसभोयणे वा जाव (कंदभोयणे, कसभोयणे, हरियभोयणे, पक्षभोयणे) बीयधोयणे वा भोत्तए वा पाहस्तए वा।

९८—अम्बड परिवाजक को मार्गगमन के अतिरिक्त गाढ़ी की धुरी-प्रमाण जल में भी शीघ्रता ने उत्तरना नहीं कल्पता। अम्बड परिवाजक को गाढ़ी आदि पर सवार होना नहीं कल्पता। यहीं से लेकर गंगा की मिट्टी के लेप तक का समय बर्णन पहले आये बर्णन के अनुरूप समझ लेना चाहिए।

अम्बड परिवाजक को आधाकर्मिक तथा श्रीदेशिक—छह काय के जीवों के उपमर्दनपूर्वक साधु के निमित्त बनाया गया भोजन, मिश्रजात—साधु तथा गृहस्थ दोनों के उद्देश्य ने तैयार किया गया भोजन, अठ्यवपूर—साधु के लिए अधिक मात्रा में निष्पादित भोजन, पूतिकर्म—आधाकर्मी आहार के अंश से मिला हुआ भोजन, क्रोतकृत—खरीदकर लिया गया भोजन, प्रामित्य—उधार लिया हुआ भोजन, अनिसृष्ट—गृह-स्वामी था घर के मुखिया को बिना पूछे दिया जाता भोजन, अभ्याहृत—साधु के सम्मुख लाकर दिया जाता भोजन, स्थापित—अपने लिए पृथक् रखा हुआ भोजन, रचित—एक विशेष प्रकार का उद्दिष्ट—अपने लिए संस्कारित भोजन, कान्तारभत्त—जंगल पार करते हुए घर से अपने पाथेर के रूप में लिया हुआ भोजन, दुर्भिक्षभत्त—दुर्भिक्ष के समन भिक्षुओं तथा अकाल-पीडितों के लिए बनाया हुआ भोजन, ग्लानभत्त—बीमार के लिए बनाया हुआ भोजन अथवा स्वयं बीमार होते हुए आरोग्य हेतु दान रूप में दिया जाने वाला भोजन, बादल आदि से चिरे दिन में—दुदिन में दरिद्र जनों के लिए तैयार किया गया भोजन, प्राघूर्णक-भत्त—अतिथियों—पाहुनों के लिए तैयार किया हुआ भोजन अम्बड परिवाजक को खाना-पीना नहीं कल्पता।

इसी प्रकार अस्मद्द परिवाजक को मूल, (कन्द, फल, हरे तृण,) बीजमय भोजन खाना-पीना नहीं करता ।

९७—अस्मद्दस्स णं परिष्वायगस्स चउच्चिहे अणदुदंडे पच्छक्खाए जावउज्जीवाए । तं जहा—
अवउभाणायरिए, पभायायरिए, हिसप्पयाणे, पावकमोबएसे ।

९८—अस्मद्द परिवाजक ने चार प्रकार के अनर्थदण्ड—बिना प्रयोजन हिसा तथा तन्मूलक अशुभ कार्यों का परित्याग किया । वे इस प्रकार हैं—१. अपध्यानाचरित, २. प्रमादाचरित, ३. हिस-प्रदान, ४. पापकर्मोपदेश ।

विवेचन——बिना किसी उद्देश्य के जो हिसा की जाती है, उसका समावेश अनर्थदण्ड में होता है । यद्यपि हिसा तो हिसा ही है, पर जो लोकिक दृष्टि से आवश्यकता या प्रयोजनवश की जाती है, उसमें तथा निरर्थक की जाने वाली हिसा में बड़ा भेद है । आवश्यकता या प्रयोजनवश हिसा करने को जब व्यक्ति बाध्य होता है तो उसकी विवशता देखते उसे व्यावहारिक दृष्टि से क्षम्य भी माना जा सकता है पर प्रयोजन या मतलब के बिना हिसा आदि का आचरण करना सर्वथा अनुचित है । इसलिए उसे अनर्थदण्ड कहा जाता है । प्रस्तुत सूत्र में सूचित चार प्रकार के अनर्थदण्ड की संक्षिप्त व्याख्या इस प्रकार है—

अपध्यानाचरित——अपध्यानाचरित का अर्थ है दुश्चिन्तन । दुश्चिन्तन भी एक प्रकार से हिसा ही है । वह आत्मगुणों का घात करता है । दुश्चिन्तन दो प्रकार का है—ग्रात्तिष्ठान तथा रोद्रष्यान । अभीप्सित वस्तु, जैसे धन-संपत्ति, संतति, स्वस्थता आदि प्राप्त न होने पर एवं दारिद्र्य, हणता, श्रियजन का विरह आदि अनिष्ट स्थितियों के होने पर मन में जो क्लेशपूर्ण विकृत चिन्तन होता है, वह ग्रात्तिष्ठान है । कोशावेश, शाश्वत-भाव और वैमनस्य आदि से प्रेरित होकर दूसरे को हानि पहुँचाने आदि की बात सोचते रहना रोद्रष्यान है । इन दोनों तरह से होने वाला दुश्चिन्तन अपध्यानाचरित रूप अनर्थदण्ड है ।

प्रमादाचरित——अपने धर्म, दायित्व व कर्तव्य के प्रति अजागरूकता प्रमाद है । ऐसा प्रमादो व्यक्ति अक्षर अपना समय दूसरों की निन्दा करने में, गम्य मारने में, अपने बड़प्पन की शेखी बघारते रहने में, अपलील बातें करने में बिताता है । इनसे सम्बद्ध मन, बचन तथा शरीर के विकार प्रमादाचरित में आते हैं ।

हिस-प्रदान——हिसा के कार्यों में साक्षात् सहयोग करना, जैसे चौर, डाकू तथा शिकारी आदि को हथियार देना, आश्रय देना तथा दूसरी तरह से सहायता करना । ऐसा करने से हिसा को प्रोत्साहन और सहारा मिलता है, अतः यह अनर्थदण्ड है ।

पापकर्मोपदेश——ओरों को पाप-कार्य में प्रवृत्त होने में प्रेरणा, उपदेश या परामर्श देना । उदाहरणार्थ, किसी शिकारी को यह बतलाना कि अमुक स्थान पर शिकार-योग्य पशु-पक्षी उसे प्राप्त होंगे, किसी व्यक्ति को दूसरों को तकलीफ देने के लिए उत्तेजित करना, पशु-पक्षियों को पीड़ित करने के लिए लोगों को दुष्प्रेरित करना । इन सबका पाप-कर्मोपदेश में समावेश है ।

९८—अस्मद्दस्स कप्पइ मागहए अढाढाए जलस्स पडिग्गाहितए, से वि य वहमाणए, जो चेव
णं अवहमाणए जाव (से वि य शिमिग्रोदए, जो चेव णं कहमोदए, से वि य बहुप्पसणे, जो चेव णं

श्रवण्युपसन्णे) से वि य परिपूर्ण, जो चेत्ना यं अपरिपूर्ण, से वि य सावज्ञो त्ति काठं जो चेत्ना यं अणवज्ञे, से वि य जीवा ति काठं, जो चेत्ना यं अजीवा, से वि य दिष्णे, जो चेत्ना यं अदिष्णे, से वि य हृष्टपाय-चहचमसपक्खालण्डुयाए पिबित्तए वा, जो चेत्ना यं सिणाइत्तए। अम्बडस्स कल्पह मागहए य आढए जलस्स पङ्गिभाहित्तए, से वि य बहमाणए जाव^१ जो चेत्ना यं अविष्णे, से वि य सिणाइत्तए जो चेत्ना यं हृष्टपायचहचमसपक्खालण्डुयाए पिबित्तए वा।

९८—अम्बड को मागधमान (मगध देश के तोल) के अनुसार आघात आढक जल लेना कल्पता है। वह भी प्रवहमान—बहता हुआ हो, अप्रवहमान—न बहता हुआ नहीं हो। (वह भी यदि स्वच्छ हो, तभी आहु है, कीचड़ युक्त हो तो ग्राह्य नहीं है। स्वच्छ होने के साथ-साथ वह बहुत प्रसन्न—बहुत साफ और निर्मल हो, तभी ग्राह्य है, अत्यथा नहीं।) वह परिपूर्त—वस्त्र से छाना हुआ हो तो कल्प्य है, अनछाना नहीं। वह भी सावद्य—अवद्य या पाप सहित समझकर, निरवद्य समझकर नहीं। सावद्य भी वह उसे सजीव—जीव सहित समझकर ही लेता है, अजीव—जीव रहित समझकर नहीं। सावद्य भी वह उसे सजीव—जीव सहित समझकर ही लेता है, न दिया हुआ नहीं। वह भी हाथ, पैर, चरु—भोजन का पात्र, चमस—काठ की कुड़छी—चमच धोने के लिए या पीने के लिए ही कल्पता है, नहाने के लिए नहीं।

अम्बड को मागधमान के अनुसार एक आढक पानी लेना कल्पता है। वह भी बहता हुआ, यावत् दिया हुआ ही कल्पता है, बिना दिया नहीं। वह भी स्नान के लिए कल्पता है, हाथ, पैर, चरु, चमस, धोने के लिए या पीने के लिए नहीं।

९९—अम्बडस्स जो कल्पह अण्डत्तिथया वा, अण्डत्तिथयदेवयाणि वा, अण्डत्तिथयपरिम-हियाणि वा चेहयाइं वंवित्तए वा, जमंसित्तए वा, जाव (सक्कारित्तए वा, सम्माणित्तए वा,) पञ्जुदासित्तए वा, णण्णत्य अरिहंतचेहयाइं वा।

१००—अर्हत् या अर्हत्-चेत्यों के अतिरिक्त अम्बड को अन्यगूढिक—निर्यन्थ-घर्मसंघ के अतिरिक्त अन्य संघों से सम्बद्ध पुरुष, उनके देव, उन द्वारा परिगृहीत—स्वीकृत चेत्य^२—उन्हें वन्दन करना, नमस्कार करना, (उनका सत्कार करना, सम्मान करना या) उनकी पर्युपासना करना नहीं कल्पता।

अम्बड के उत्तरवर्ती भव

१००—अम्बडे यं भंते ! परिव्वायए कालमासे कालं किञ्च्चा कर्हि गच्छहिति ? कर्हि उववज्जिज्जहिति ?

गोयमा ! अम्बडे यं परिव्वायए उच्चावएर्हि सोलघ्वयगुणवेरमणपञ्चवद्वाणपोसहोववासेहि अप्याणं भावेमाणे बहुइं वासाइं समणोवासयपरिमायं पाजणिहिति, पाजणिहिता भासियाए संलेहनाए अप्याणं भूसित्ता, सट्टु भत्ताइं अगसणाए खेदिता, आओइवपदिक्षकंते, समाहिपत्ते कालमासे कालं

१. देखें सूत्र-संख्या ८०।

२. सूत्र-संख्या २ के विवेचन में चेत्य की विस्तृत व्याख्या है, जो द्रष्टव्य है।

किञ्चित् बन्मलोए कल्पे देवताए उबवज्जिहति । तत्थं पं प्रत्येगहयाणं देवाणं दस सागरोषमाइं ठिई पञ्चता । तत्थं पं प्रम्महस्स वि देवस्स दस सागरोषमाइं ठिई ।

१००—भगवन् ! अम्बड परिव्राजक मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर कही जायेगा ? कहीं उत्पन्न होगा ?

गीतम् ! अम्बड परिव्राजक उच्चावच—उत्कृष्ट-अनुत्कृष्ट—विशेष-सामान्य शीलवत्, गुणवत्, विरमण—विरति, प्रस्थाख्यान-त्याग एवं पोषद्योपवास द्वारा आत्मभावित होता हुआ—आत्मोन्मुख रहता हुआ बहुत वर्षों तक अपणोपासक-पर्यायि—गृहि-धर्म या आवक-धर्म का पालन करेगा । वैसा कर एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर, आलोचना, प्रतिक्रमण कर, मृत्यु-काल आने पर वह समाधिपूर्वक देह-त्याग करेगा । देह-त्याग कर वह ब्रह्मलोक कल्प में देवरूप में उत्पन्न होगा । वहीं अनेक देवों की आयु-स्थिति दश सागरोपम-प्रमाण बतलाई गई । अम्बड देव का भी आयुष्य दश सागरोपम-प्रमाण होगा ।

१०१—सेण भंते ! अम्बडे देवे ताथो देवलोगाद्ये आज्ज्वल्यएण, भवव्याएण, ठिङ्क्खाएण, अण्टर चयं चइता कहि गच्छहिति, कहि उबवज्जिहति ?

१०१—भगवन् ! अम्बड देव अपना आयु-क्षय, भव-क्षय, स्थिति-क्षय होने पर उस देवलोक से च्यवन कर कहीं जायेगा ? कहीं उत्पन्न होगा ?

१०२—गोयमा ! महाविदेहे वासे जाइं कुलाइं भवति—अङ्गाइं, दित्ताइं, विसाइं वित्तिष्ण-वित्त भवण-सयणासण-जाण-वाहणाइं, बहुधण-जायरुध-रययाइं, आओगपओगसंपउत्ताइं विच्छिन्निय-पउरभत्तपाणाइं, बहुवासीदासगोमहिसगवेलगप्पमूयाइं, बहुजणस्स अपरिभूयाइं, तहप्पगारेसु कुलेसु पुमत्ताए पक्ष्मायाहिति ।

१०२—गीतम् ! महाविदेह क्षेत्र में ऐसे जो कुल हैं यथा—धनाद्य, दोप्त—दोप्तिमान्, प्रभावशाली या दृप्त—स्वाभिमानी, सम्पन्न, भवन, शयन—ओढ़ने-बिछाने के वस्त्र, आसन—बैठने के उपकरण, यान—माल-असबाब ढोने की गाड़ियाँ, वाहन—सवारियाँ आदि विपुल साधन-सामग्री तथा सोना, चौदी, सिक्के आदि प्रचुर धन के स्वामी होते हैं । वे आयोग-प्रयोग-संप्रवृत्त—व्यावसायिक दृष्टि से धन के सम्यक् विनियोग और प्रयोग में निरत—नीतिपूर्वक द्रव्य के उपार्जन में संलग्न होते हैं । उनके यहीं भोजन कर चुकने के बाद भी खाने-पीने के बहुत पदार्थ बचते हैं । उनके घरों में बहुत से नौकर, नौकरानियाँ, गायें, भैंसे, बैल, पाड़े, भेड़-बकरियाँ आदि होते हैं । वे लोगों द्वारा अपरिभूत—अतिरस्कृत होते हैं—इतने रोबीले होते हैं कि कोई उनका परिभव-तिरस्कार या अपमान करने का साहस नहीं कर पाता । अम्बड (देव) ऐसे कुलों में से किसी एक में पुरुषरूप में उत्पन्न होगा ।

१०३—तए ण तस्स दारगस्स गडभट्ठस्स चेव समाणस्स अम्मापिईण धम्मे वढा पद्मणा मविस्सइ ।

१०३—अम्बड शिषु के रूप में जब गर्भ में आयेगा, (उसके पुण्य-प्रभाव से) माता-पिता की धर्म में आस्था दृढ़ होगी ।

१०४—से जं तत्थ णवण्हं भासाणं बहुदिपुण्णाणं अद्वद्वमाणराइदियाणं बोइषकंताणं सुकुमाल-पाणिपाए, जाव (श्रहीणपद्मिपुण्णपंचविषसरीरे, लक्खणवंजणगुणोद्वेषे, भाणुभाणप्पमाणपद्मिपुण्ण-सुजायसव्वंगसुदर्गे,) ससिसोमाकारे, कंते, पियर्वसणे, मुरुवे दारए पयाहिति ।

१०४—नी महीने साढ़े सात दिन व्यतीत होने पर बच्चे का जन्म होगा । उसके हाथ-पैर सुकोमल होंगे । उसके शरीर की पाँचों इन्द्रियों अहोन-प्रतिपूर्ण—रक्षा की दृष्टि से अखण्डत एवं सम्पूर्ण होंगी । वह उत्तम लक्षण—सौभारथसूचक हाथ की रेखाएँ आदि, व्यंजन—उत्कर्षसूचक तिल, मस आदि चिह्न तथा गुणयुक्त होगा । दैहिक फैलाव, वजन, ऊँचाई आदि की दृष्टि से वह परिपूर्ण, श्रेष्ठ तथा सर्वांगसुन्दर होगा । उसका आकार चन्द्र के सदृश सौम्य होगा । वह कान्तिभान्, देखने में प्रिय एवं सुरूप होगा ।

१०५—तए णं तस्स दारगस्स अम्मापियरो पढ़से दिवसे ठिवडियं काहिति, बिहविषसे खंदसूरवंसणियं काहिति, छट्ठे दिवसे जागरियं काहिति, एककारसमे दिवसे बोइषकंते णिष्वत्ते असुइजायकम्मकरणे संपत्ते बारसाहे दिवसे अम्मापियरो इमं एयारुवं गोणं, गुणणिष्पणं णामधेज्जं काहिति—जम्हाणं अम्हं इमंसि दारगंसि गम्मत्यंसि चेव समाणंसि धम्मे वढपइण्णा तं होउ णं अम्हं दारए ‘वढपइण्णे’ णामेणं । तए णं लङ्ग दारगस्स अम्मापियरो अम्मापियरो कानेहिति वढपइण्णति ।

१०५—तत्पश्चात् माता-पिता पहले दिन उस बालक का कुलक्रमागत पुत्रजन्मोचित अनुष्ठान करेंगे । दूसरे दिन चन्द्र-सूर्य-दर्शनिका नामक जन्मोत्सव करेंगे । छठे दिन जागरिका—रात्रि-जागरिका करेंगे । ग्यारहवें दिन वे अशुचि-शोषण-विधान से निवृत्त होंगे । इस बालक के गर्भ में आते ही हमारी धार्मिक आस्था दृढ़ हुई थी, अतः यह ‘दृढ़प्रतिज्ञ’ नाम से सम्बोधित किया जाय, यह सोचकर माता-पिता बारहवें दिन बालक का ‘दृढ़प्रतिज्ञ’—यह गुणानुगत, गुणनिष्पन्न नाम रखेंगे ।

१०६—तं वढपइण्णं दारगं अम्मापियरो साइरेगद्वासजायणं जाणिता सोभणंसि तिहि-करण-विषस-णवखत्त-मुहुसंसि कलायरियस्स उवणेहिति ।

१०६—माता-पिता यह जानकर कि अब बालक आठ वर्ष से कुछ अधिक का हो गया है, उसे शुभ-तिथि, शुभ करण, शुभ दिवस, शुभ नक्षत्र एवं शुभ मुहूर्त में शिक्षण हेतु कलाचार्य के पास ले जायेंगे ।

१०७—तए णं से कलायरिए तं वढपइण्णं दारगं लेहाइयाओ, गणियप्पहरणाओ, सउणरुय-पञ्जदसाणाओ वावत्तरिकलाओ सुसज्जो य अस्थग्रो य करणाओ य सेहाविहिति, सिष्खाविहिति, तं जहा—लेहं, गणियं, रुदं, णटटं, गोयं, वाइयं, सरगर्यं, पुष्कररग्यं, समतालं, जूयं, झणवायं, पासगं, अटुवयं, पोरेकच्चं, दग्धमट्रियं, ग्रण्णविहिति, पाणविहिति, वत्थविहिति, विलेचणविहिति, सयणविहिति, अज्जं, पहेलियं, मागहियं, गहं, गोइयं, सिलोयं, हिरण्णजुत्ति, सुवण्णजुत्ति, गंधजुत्ति, चुणजुत्ति, आभरण-विहिति, तर्णोपडिकम्मं, इत्थलक्खणं, पुरिसस्वखणं, हयलक्खणं, गयस्वखणं, गोणलक्खणं, कुबकुञ्ज-स्वखणं, चक्कस्वखणं, छत्तलवखणं, चम्मलवखणं, दंडलवखणं, असिलवखणं, मणिलवखणं, कागण-स्वखणं, वत्थुविज्जं, खंधारमाणं, नगरमाणं, वत्युनिवेसणं, खूहं, पडिखूहं, चारं, पडिच्चारं, चक्कवूहं,

गरुलबहं, सगडबहं, जुँदं, निजुँदं, जुँदाइजुँदं, मुटिजुँदं, बाहूजुँदं, लयाजुँदं, इसरथं, छरुपचाहं, धणुष्वेयं, हिरण्णपार्गं, सुवण्णपार्गं, वदृखेद्धं, सुत्ताखेद्धं, णालियाखेद्धं, पस्त्त्वेज्जं, कुडगच्छेज्जं, सज्जीवं, निज्जीवं, सउणरुयमिति वाचस्त्रिकलाश्चो सेहावित्ता, सिखावेत्ता अम्मापिर्विणं उक्षणेहिति ।

१०७—तब कलाचार्य वालक दृढप्रतिज्ञ को लेख एवं गणित से लेकर पक्षिशब्दज्ञान तक बहुत र कलाएँ सूत्ररूप में—सैद्धान्तिक दृष्टि से, अर्थ रूप में व्याख्यात्मक दृष्टि से, करण रूप में—प्रयोगात्मक दृष्टि से सधायेंगे, सिखायेंगे—ग्रन्थास करायेंगे । वे बहुत र कलाएँ इस प्रकार हैं—

१. लेख—लेखन—अक्षरविन्यास, तद्विषयक कला, २. गणित, ३. रूप—भित्ति, पाषाण, वस्त्र, रजत, स्वर्ण, रत्न आदि पर विविध प्रकार का चित्रांकन, ४. नाट्य—अभिनय, नाच, ५. गीत—गान्धर्व-विद्या—संगीत-विद्या, ६. वाच्य—वीणा, दुन्दुभि, ढोन आदि स्वर एवं ताल सम्बन्धी वाच्य (साज) बजाने की कला, ७. स्वरगत—निषाद, छृष्टभ, गान्धार, षड्ज, मध्यम, धौवत तथा पञ्चम—इन सात स्वरों का पारिज्ञान, ८. उष्टकरगत—भृदंग-बादन की विशेष कला, ९. समताल—गान व ताल के लयात्मक समीकरण का ज्ञान, १०. दूत—जूग्रा बेलने की कला, ११. जनवाद—लोगों के साथ वार्तालाप करने की दक्षता अथवा वाद-विवाद करने में निपुणता, १२. पाशक-यासा फेंकने की विशिष्ट कला, १३. अष्टापद—विशेष प्रकार की दूत-क्रीडा, १४. पौरस्कृत्य—नगर की रक्षा, व्यवस्था आदि का ज्ञान, (अथवा पुरकाव्य—आशुकवित्व—किसी भी विषय पर तत्काल कविता रचने की कला,) १५. उदक-मृत्तिका—जल तथा मिट्टी के मेल से माण्ड आदि के निर्माण का परिज्ञान, १६. अन्न-विधि—अन्न पैदा करने की दक्षता अथवा भोजन-परिपाक का ज्ञान, १७. पान-विधि—पेय पदार्थों के निष्पादन, प्रयोग आदि का ज्ञान, १८. वस्त्र-विधि—वस्त्र सम्बन्धी ज्ञान, १९. विलेपन-विधि—शरीर पर चन्दन, कुंकुम आदि सुगन्धित द्रव्यों के लेप का, मण्डन का ज्ञान, २०. शयन-विधि—शय्या आदि बनाने, सजाने की कला, २१. आर्या—आर्या आदि मात्रिक छन्द रचने की कला, २२. प्रहेलिका—गूढ आशययुक्त गद्यपद्यात्मक रचना, २३. मागधिका—मगध देश की भाषा—मागधी प्राकृत में काव्य-रचना, २४. गाथा—संस्कृतेतर शौरसेनी, अर्धमागधी, पैशाची आदि प्राकृतों—लोक भाषाओं में आर्या आदि छन्दों में रचना करने की कला, २५. गीतिका—गेय काव्य की रचना, गीति, उपगीति आदि छन्दों में रचना, २६. इलोक-अनुष्टुप् आदि छन्दों में रचना, २७. हिरण्य-युक्ति—रजत-निष्पादन—चाँदी बनाने की कला, २८. सुवर्ण-युक्ति—सोना बनाने की कला, २९. गन्ध-युक्ति—सुगन्धित पदार्थ तैयार करने की विधि का ज्ञान, ३०. चूर्ण-युक्ति—विभिन्न औषधियों द्वारा तान्त्रिक विधि से निर्मित चूर्ण ढालकर दूसरे को वश में करना, स्वयं अन्तर्धान हो जाना आदि (विद्याओं) का ज्ञान, ३१. आभरण-विधि—आभूषण बनाने तथा धारण करने की कला, ३२. तरुणी-प्रतिक्रम—युद्धती-सज्जा की कला, ३३. स्त्री-लक्षण—पत्नियी, हस्तिनी, शंखिनी व चित्रिणी स्त्रियों के लक्षणों का ज्ञान, ३४. पुरुष-लक्षण—उत्तम, मध्यम, अध्यम, आदि पुरुषों के लक्षणों का ज्ञान, अथवा शश आदि पुरुष-भेदों का ज्ञान, ३५. हय-लक्षण—अश्व-जातियों, लक्षणों आदि का ज्ञान, ३६. गज-लक्षण—हाथियों के शुभ, अशुभ, आदि लक्षणों की जानकारी, ३७. गो-लक्षण—गाय, बैल के लक्षणों का ज्ञान, ३८. कुकुट-लक्षण—मुर्गे के लक्षणों का ज्ञान, ३९. चक्र-लक्षण, ४०. छत्र-लक्षण, ४१. चर्म-लक्षण—ढाल आदि चमड़े से बनी विशिष्ट वस्तुओं के लक्षणों का ज्ञान, ४२. दण्ड-लक्षण, ४३. असि-लक्षण—तलवार की श्रेष्ठता, अश्रेष्ठता का ज्ञान, ४४. मणि-लक्षण—रत्न-परीक्षा, ४५. काकणी-लक्षण—

चक्रवर्ती के एतत्संज्ञक रत्न के लक्षणों की पहचान, ४६. वास्तु-विद्या—भवन-निर्माण की कला, ४७. स्कन्धावार-मान—शत्रुसेना को जीतने के लिए अपनी सेना का परिमाण जानना, छावनी लगाना, मोर्चा लगाना आदि की जानकारी, ४८. नगर-निर्माण, विस्तार आदि की कला अथवा युद्धोपयोगी विशेष नगर-रचना की जानकारी, जिससे शत्रु पर विजय प्राप्त की जा सके, ४९. वास्तुनिवेशन—भवनों के उपयोग, विनियोग आदि के सम्बन्ध में विशेष जानकारी, ५०. व्यूह—आकार-विशेष में सेना स्थापित करने या जमाने की कला, प्रतिव्यूह—शत्रु द्वारा रचे गये व्यूह के प्रतिपक्ष में—मुकाबले तत्प्रतिरोधक दूसरे व्यूह की रचना का ज्ञान, ५१. चार—चन्द्र, सूर्य, राहु, केतु आदि ग्रहों की गति का ज्ञान अथवा राशि गण, वर्ण, वर्ग आदि का ज्ञान, प्रतिचार—इष्टजनक, अनिष्टजनक शान्तिकर्म का ज्ञान, ५२. चक्रव्यूह—चक्र—रथ के पहिये के आकार में सेना को स्थापित-सजिज्जत करना, ५३. गुण-व्यूह—गुण के आकार में सेना को स्थापित-सजिज्जत करना, ५४. शकट-व्यूह—गाढ़ी के आकार में सेना को स्थापित-सजिज्जत करना, ५५. युद्ध—लड़ाई की कला, ५६. नियुद्ध—पैदल युद्ध करने की कला, ५७. युद्धातियुद्ध—तलबार, भाला आदि फैक्कर युद्ध करने की कला, ५८. मुष्टि-युद्ध—मुक्कों से लड़ने में निपुणता, ५९. बाहु-युद्ध—भुजाओं द्वारा लड़ने की कला, ६०. लता-युद्ध—जैसे बेल वृक्ष पर चढ़ कर उसे जड़ से लेकर शिखर तक आमेल्जित कर लेती है, उसी प्रकार जहाँ योद्धा प्रतियोद्धा के शरीर को प्रगाढ़तया उपमदित कर भूमि पर गिरा देता है और उस पर चढ़ बैठता है, ६१. इषुशस्त्र—नाग-बाण आदि के प्रयोग का ज्ञान, भुर-प्रवाह—छुरा आदि फैक्कर बार करने का ज्ञान, ६२. धनुर्बद—धनुविद्या, ६३. हिरण्यपाक—रजत-सिंहि, ६४. सुवर्ण-पाक—सुवर्ण-सिंहि, ६५. वृत्त-खेल—रस्सी आदि पर चलकर खेल दिखाने की कला, ६६. सूत्र-खेल—सूत द्वारा खेल दिखाने, कच्चे सूत द्वारा करिश्मे बतलाने की कला, ६७. नालिका-खेल—नालिका में पासे या कोडियाँ डालकर गिराना—जूझा खेलने की एक विशेष प्रक्रिया की जानकारी, ६८. पत्रच्छेद—एक सौ आठ पत्तों में यथेष्ट संख्या के पत्तों को एक बार में छेदने का हस्त-लाधव, ६९. कटच्छेद—चटाई की तरह क्रमशः फैलाये हुए पत्र आदि के छेदन की विशेष प्रक्रिया में नैपुण्य, ७०. सजीव—पारद आदि मारित धातुओं को पुनः सजीव करना—सहज रूप में लाना, ७१. निर्जीव—पारद, स्वर्ण आदि धातुओं का मारण करना तथा ७२. शकुन-रुत—पक्षियों के शब्द, गति, चेष्टा आदि जानने की कला।

ये बहुतर कलाएँ सशाकर, इनका शिक्षण देकर, अभ्यास कराकर कलाचार्य बालक को माता-पिता को सौंप देंगे।

१०८—तए णं तस्स दलपद्मास्त दारगस्स अम्मापियरो तं कलायरिथं विउलेणं असणपाण-खाइमसाइमेणं वृत्यगंधमल्लालंकारेण थ सक्कारेहिति, सक्कारेस्ता सम्माणेहिति, सम्माणेत्ता विउलं जीवियारिहं पोइदाणं दलइस्तंति, दलइत्ता पडिविसज्जेहिति ।

१०९—तब बालक दुष्प्रतिज्ञ के माता-पिता कलाचार्य का विपुल—प्रचुर अशन, पान, खाद्य, सदाचार, वस्त्र, गन्ध, माला तथा अलंकार द्वारा सत्कार करेंगे, सम्मान करेंगे। सत्कार-सम्मान कर उन्हें विपुल, जीविकोचित—जिससे समुचित रूप में जीवन-निवाह होता रहे, ऐसा प्रीतिदान—पुरस्कार देंगे। पुरस्कार देकर प्रतिविसर्जित करेंगे—दिदा करेंगे।

१०९—तए ण से दृष्टप्रहणे दारए बावत्तरिकलापंडिए, नवंगसुत्तपडिबोहिए, अट्टारसदेसीभासा-विसारए, गोयरहि, गंधवणदृकुसले, हयजोही, गयजोही, रहजोही, बाहुजोही, बाहुपमही, वियालचारी, साहसिए, अलंभोगसमत्ये याचि अविस्सइ ।

१०९—बहुतर कलाओं में पंडित—मर्मज्ज, प्रतिबुद्ध नौ अंगों— दो कान, दो नेत्र, दो घ्राण, एक जिह्वा, एक त्वचा तथा एक मन—इन अंगों को चेतना, संवेदना के जागरण से युक्त—यौवनावस्था में विद्यमान, अठारह देशी भाषाओं— लोकाल्लाभाओं में विशारद—निपुण, गीतप्रिय, गान्धर्व-नाट्य-कुशल—संभीत-विद्या, नृत्य-कला आदि में प्रवीण, अश्वयुद्ध—घोड़े पर सवार होकर युद्ध करना, गजयुद्ध—हाथी पर सवार होकर युद्ध करना, रथयुद्ध—रथ पर सवार होकर युद्ध करना, बाहुयुद्ध—भूजाओं द्वारा युद्ध करना, इन सब में दक्ष, विकालचारी—निर्भीकिता के कारण रात में भी धूमने-फिरने में निःशक, साहसिक—प्रत्येक कार्य में साहसी दृढ़प्रतिज्ञ यों सांगोपांग विकसित-संविद्धि द्वारा होकर सर्वथा भोग-समर्थ हो जाएगा ।

११०—तए ण दृष्टप्रहणे दारगं अम्भापियरो बावत्तरिकलापंडियं जाव (नवंगसुत्तपडिबोहियं, अट्टारसदेसीभासाविसारयं, गोयरहं, गंधवणदृकुसलं, हयजोहि, गयजोहि, रहजोहि, बाहुजोहि, बाहुपमही, वियालचार, साहसियं) अलंभोगसमत्ये विद्याणिता विउलेहि अण्णभोगेहि, पाणभोगेहि, लेणभोगेहि, खत्थभोगेहि, सयणभोगेहि, उवणियंतेहिति ।

११०—माता-पिता बहुतर कलाओं में मर्मज्ज, (प्रतिबुद्ध नौ अंग युक्त, अठारह देशी भाषाओं में निपुण, गीतप्रिय, गान्धर्व-नाट्य-कुशल, अश्वयुद्ध, गजयुद्ध, रथयुद्ध, बाहुयुद्ध, एवं बाहुप्रमर्द में दक्ष, निर्भय-विकालचारी, साहसिक) अपने पुत्र दृढ़प्रतिज्ञ को सर्वथा भोग-समर्थ जानकर अन्न—उत्तम खाद्य पदार्थ, पान—उत्तम पेय पदार्थ, लयन—सुन्दर गृह आदि में निवास, उत्तम वस्त्र तथा शयन—उत्तम शय्या, बिछौने आदि सुखप्रद सामग्री का उपभोग करने का आग्रह करेंगे ।

१११—तए ण दृष्टप्रहणे दारए तेहि विउलेहि अण्णभोगेहि जाव (पाणभोगेहि, लेणभोगेहि, खत्थभोगेहि,) सयणभोगेहि णो सज्जिहिति, णो रज्जिहिति, णो गिज्जिहिति, णो सुज्जिहिति, णो अज्जिहिति ।

१११—तब कुमार दृढ़प्रतिज्ञ अन्न, (पान, गृह, वस्त्र,) शयन आदि भोगों में आसक्त नहीं होगा, अनुरक्त नहीं होगा, गृह—लोलुप नहीं होगा, मूर्च्छित—मोहित नहीं होगा तथा अध्यवसित नहीं होगा—मन नहीं लगायेगा ।

११२—से जहाणामए चप्पले इ बा, पउमे इ बा, कुमुके इ बा, नलिने इ बा, सुभगे इ बा, सुगंधे इ बा, पौडरीए उ बा, महापौडरीए इ बा, सम्पत्ते इ बा, सहस्रसपत्ते इ बा, सयसहस्रसपत्ते इ बा, पंके जाए, जले संबुद्धे णोबलिप्पहं कंकरएणं णोबलिप्पहं जलरएणं, एवामेव दृष्टप्रहणे यि दारए कामेहि जाए भोगेहि संबुद्धे णोबलिप्पहिति कामरएणं, णोबलिप्पहिति भोगरएणं, णोबलिप्पहिति मित्तणाइणियगसयणसंबंधिष्ठिजणेण ।

११२—जैसे उत्पल, पद्म, कुमुद, नलिन, सुभग, सुगंध, पुण्डरीक, महापुण्डरीक, शतपत्र, सहस्रपत्र, शतसहस्रपत्र आदि विविध प्रकार के कमल कीचड़ में उत्पन्न होते हैं, जल में बढ़ते हैं पर

जल-रज-जल-रूप रज से या जल-कणों से लिप्त नहीं होते, उसी प्रकार कुमार दृढ़प्रतिश्च जो काममय जगत् में उत्पन्न होगा, भोगमय जगत् में संवधित होगा—पलेगा-पुसेगा, पर काम-रज से—शब्दात्मक, रूपात्मक भोग्य पदार्थों से—भोगमत्कि से, भोग-रज से—गन्धात्मक, रसात्मक, स्पर्शात्मक भोग्य पदार्थों से—भोगसक्ति से लिप्त नहीं होगा, मित्र—सुहृद, जाति—सजातीय, निजक—भाई, बहिन आदि पितृपक्ष के पारिवारिक, स्वजन—नाना, मामा, आदि मातृपक्ष के पारिवारिक, तथा अन्यान्य सम्बन्धी, परिजन—सेवकवृन्द—इनमें आसक्त नहीं होगा।

११३—से णं तहारूपाणं थेराणं अंतिए केवलं बोहि बुजिभहिति, बुजिभता अगाराश्चो अणगारियं पञ्चहिति ।

११३—वह तथारूप—बीतराग की आज्ञा के अनुसर्ति अथवा सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन, सम्यक् चारित्र से युक्त स्थविरों ज्ञानवृद्ध, संयमवृद्ध श्रमणों के पास केवलबोधि—विशुद्ध सम्यक् दर्शन प्राप्त करेगा। गृहवास का परित्याग कर वह अनगार-धर्म में प्रवृत्तित—दीक्षित होगा—श्रमण-जीवन स्वोकार करेगा।

११४—से णं भविस्सइ अणगारे भगवंते ईरियासमिए जाव (भासासमिए, एसणासमिए, आयाणभंडमत्तनिक्षेपणासमिए, उच्चारपासवण्खेलसिधाणजल्लपरिद्वावणियासमिए, भणगुत्ते, वयगुत्ते, कायगुत्ते, गुत्ते, गुत्तिदिए) गुत्तबंभयारी ।

११४—वे अनगार भगवान्—मुनि दृढ़प्रतिश्च ईर्या—गमन, हलन, चलन आदि किया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इधर-उधर रखने आदि तथा मल, मूत्र, खांखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील होंगे। वे मनोगुप्त, बच्चोगुप्त, कायगुप्त भन, वचन तथा शरीर की क्रियाओं का गोपायन—संयम करने वाले, गुप्त शब्द आदि विषयों में रागरहित—अन्तर्भुख, गुर्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को उनके विषय व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित तथा गुप्त ब्रह्मचारी—नियमोपनियम-पूर्वक ब्रह्मचर्य का संरक्षण—परिपालन करने वाले होंगे।

११५—तस्य णं भगवंतस्य एएण विहारेण विहरपाणस्य शणते, घणुत्तरे, निरावरणे, कसिणे, पङ्किपुण्णे केवलबरणाणवंसणे समुप्पञ्जहिति ।

११५—इस प्रकार की चर्या में संप्रवर्तमान—ऐसा साधनामय जीवन जीते हुए मुनि दृढ़प्रतिश्च को अनन्त—अन्तरहित या अनन्त पदार्थ विषयक—अनन्त पदार्थों को जानने वाला, अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, निव्याधित—बाधा या व्यवधान रहित, निरावरण—आवरणरहित, कुत्सन—समग्र-सर्वर्थ—आहक, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण, अपने समग्र अविभागी अंशों से समायुक्त, केवलज्ञान, केवलदर्शन उत्पन्न होगा।

११६—तए णं से बहुपद्धणे केवलो ब्रह्मं कासाइं केवलिपरियाणं पाउणिहिति, केवलिपरियाणं पाउणिता भासिथाए स्लेहणाए अप्याणं भूसिता, सट्टु भत्ताइं अणसणाए छेविता जस्सद्वाए कीरद्वागमभावे, मुँडभावे, अष्टाणाए, अदंतवणए, केसलोए, बंभचेरवासे, अच्छदत्तगं अणोबाहणगं, भूमि-सेज्जा, फलगसेज्जा, कटुसेज्जा, परघरपवेसो लद्धावलद्धं, परेहि हीलणाश्रो, खिलणाश्रो, निदणाश्रो,

भरहणाश्रो, तालणाश्रो, तज्जणाश्रो, परिभवणाश्रो, पञ्चवृणाश्रो, उच्चावया गामकटंगा, बावीसं परोसहेवसरगा अहियासिज्जंति, तमदुमाराहिता चरिमेहि उस्सासणिस्सासेहि सिञ्जिभहिति, बुजिभ-हिति, मुच्चिच्चहिति परिणिव्वाहिति, सञ्चवुक्खाणमतं करेहिति ।

११६—तत्पश्चात् दृढप्रतिज्ञ केवली बहुत वर्षों तक केवलि-पर्याय का पालन करेंगे—केवलि-अवस्था में विचरेंगे । यों केवलि-पर्याय का पालन कर, एक मास की संलेखना और साठ भोजन—एक मास का अनशन सम्पन्न कर जिस लक्ष्य के लिए नम्नभाव—शारीरिक संस्कारों के प्रति अनासक्ति, मुण्डभाव—सांसारिक सम्बन्ध तथा ममत्व का त्याग कर श्रमण-जीवन की साधना, अस्तान—स्नान न करना, अदन्तवन—मंजन नहीं करना, केशलुचन—बालों को अपने हाथ से उखाड़ना, अव्रह्यचर्यवास—ब्रह्मचर्य की आराधना—बाह्य तथा आभ्यन्तर रूप में अध्यात्म की साधना, अच्छ्रुक—छक्र (छाता) धारण नहीं करना, जूत वा पादरक्षिका धारण नहीं करना, भूमि पर सोना, जलक—कण्ठपट्ट पर सोना, सामान्य काठ की पटिया पर सोना, भिक्षा हेतु परग्रह में प्रवेश करना, जहाँ आहार मिला हो या न मिला हो, ओरों से अन्म-कर्मों को भत्सनापूर्ण अवहेलना—अवज्ञा या तिरस्कार, खिसना—मर्मोद्घाटनपूर्वक अपमान, निन्दना—निन्दा, गर्हणा—लोगों के समक्ष अपने सम्बन्ध में प्रकट किये गये कुत्सित भाव, तर्जना—अंगुली आदि द्वारा संकेत कर कहे गये कटु वचन, ताङना—थपड़ आदि द्वारा परिताङन, परिभवना—परिभव—अपमान, परिव्यथना—व्यथा, नाना प्रकार की इन्द्रियविरोधी—आँख, कान, नाक आदि इन्द्रियों के लिए कष्टकर स्थितियाँ, बाईंस प्रकार के परिषह तथा देवादिकृत उपसर्ग आदि स्वीकार किये, उस लक्ष्य को पूरा कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में सिँड़ होंगे, बुझ होंगे, मुक्त होंगे, परिनिर्वृत होंगे, सब दुखों का अन्त करेंगे ।

प्रत्यनीकों का उपपात

११७—सेन्जे इसे गामागर जाव^१ सण्णवेसेसु पञ्चवृण्या समणा भवति, तं जहा—आयरिय-पडिणीया, उवजभायपडिणीया, कुलपडिणीया, गणपडिणीया, आयरियउवजभायाणं श्रयसकारगा, अवणकारगा, अकित्तिकारया, बहुहि असन्मावुडभायणाहि मिच्छत्ताभिणवेसेहि य अप्पाणं च परं च तदुभयं च वृग्याहेमाणा, वृप्पाएमाणा विहरिता बहुहं वासाहं सामणपरियाणं पाउण्ति, बहुहं वासाहं सामणपरियाणं पाउणिता तस्स ठाणस्स अणालोद्यग्याध्यपडिकरंता कालमासे कालं किच्चरा उप्कोसेणं लंतए कप्पे देवकिक्किसिएसु देवकिक्किसियत्ताए उवधत्तारो भवति । तहि तेसि गई, तेरस सागरोवमाहं ठिई, अणाराहुगा, सेसं तं चेव ।

११८—जो ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में प्रवर्जित श्रमण होते हैं, जेसे—आचार्य-प्रत्यनीक—आचार्य के विरोधी, उपाध्याय-प्रत्यनीक—उपाध्याय के विरोधी, कुल-प्रत्यनीक—कुल के विरोधी, गण-प्रत्यनीक^२—गण के विरोधी, आचार्य और उपाध्याय के अयशस्कर अपयश करने वाले, अवर्णकारक अवर्णवाद बोलने वाले, अकीतिकारक—अपकीर्ति या निन्दा करने वाले, असदभाव—वस्तुतः जो हैं नहीं, ऐसी बातों या दोषों के उद्भावन-आरोपण तथा मिथ्यात्व के

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

२. आचार्य, उपाध्याय, कुल तथा गण का सूत्र-संख्या ३० के विवेचन के अन्तर्गत विवेचन किया जा चुका है, जो द्रष्टव्य है ।

अभिनिवेश द्वारा अपने को, औरों को—दोनों को दुराग्रह में डालते हुए, दृढ़ करते हुए—अपने को तथा औरों को आशातना-जनित पाप में निपतित करते हुए बहुत बर्धों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते हैं। अपने पाप-स्थानों की आलोचना, प्रतिक्रमण नहीं करते हुए मृत्यु-काल आ जाने पर मरण प्राप्तकर वे उत्कृष्ट लात्तक नामक छठे देवलोक में किलिविषिक संजक देवों में (जिनका चाण्डालवत् साफ-सफाई करना कार्य होता है) देवरूप में उत्पन्न होते हैं। अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी वहाँ स्थिति तेरह सागरोपम-प्रमाण होती है। अनाराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

संज्ञी पंचेन्द्रिय तिर्यक्योनि जीवों का उपपात

११८—सेज्जे इमे सण्णियंचिदियतिरिक्खजोणिया पञ्जस्या भवंति, तं जहा—जलयरा, अलयरा, खहयरा। तेसि णं अत्थेगद्याणं सुभेणं परिणामेण, पस्तथेहि अजभवसाणेहि, लेस्ताहि विसुङ्खमाणीहि तयावरणिज्जाणं कम्माणं खगोदसमेण ईहावूहमगणगवेसणं करेमाणाणं सण्णीपुञ्च-जाइसरणे समुप्पज्जइ ।

तथे णं समुप्पज्जाइसरणा समाणा सम्बोध चाणुञ्चयाइं पडिवज्जंति, पडिवज्जिता वहहि सीसद्वयगुणक्तेरमणपचक्खाणपोसहोववासेहि अप्पाणं भावेमाणा वहहइ वासाइ आउयं पालेति, पालिता आलोद्यपडिवकंता, समाहिपत्ता कालमासे कालं किच्चा उबकोसेणं सहस्सारे कप्पे देवसाए उबवसारो भवंति । तहहि तेसि गई, अट्टारस सागरोष्याइं ठिक्क पण्णता, परस्तोगस्स आदाहुगा, सेसं तं चेद ।

११९—जो ये संज्ञी—समनस्क या मन सहित, पर्याप्त—आहारादि-पर्याप्तियुक्त तिर्यग्योनिक-पशु, पक्षी जाति के जीव होते हैं, जैसे—जलचर—पानी में चलने वाले (रहने वाले), स्थलचर—पृथ्वी पर चलने वाले तथा खेचर—आकाश में चलने वाले (उड़ने वाले), उनमें से कइयों के प्रशस्त—उत्तम अद्यवसाय, शुभ परिणाम तथा विशुद्ध होती हुई लेश्याओं—अन्तःपरिणतियों के कारण ज्ञानावरणीय एवं वीर्यन्तिराय कर्म के क्षयोपशम से ईहा, अपोह, मार्गणा, गवेषणा करते हुए अपनी संज्ञित्व-अवस्था से पूर्ववर्ती भवों की समुत्ति—जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न हो जाता है ।

जाति-स्मरण ज्ञान उत्पन्न होते ही वे स्वयं पाँच अणुव्रत स्वीकार करते हैं। ऐसा कर अनेकविध शीलव्रत, गुणव्रत, विरमण—विरति, प्रत्याख्यान—त्याग, पोषधोपवास आदि द्वारा आत्म-भावित होते हुए बहुत बर्धों तक अपने आयुष्य का पालन करते हैं—जीवित रहते हैं। फिर वे अपने पाप-स्थानों की आलोचना कर, उनसे प्रतिक्रान्त हो, समाधि-अवस्था प्राप्त कर, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट सहस्रार-कल्प—देवलोक में देव रूप में उत्पन्न होते हैं। अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी वहाँ स्थिति अठारह सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

आजीवकों का उपपात

१२०—से जे इमे गाभागर जाव^१ सण्णिवेसेसु आजीविया भवंति, तं जहा—दुघरंतरिया, तिघरंतरिया, सत्तघरंतरिया, उप्पलब्देतिया, घरसमुदाणिया, विज्जयंतरिया उद्विया समणा, से णं

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

एयारुवेण विहारेण विहरमाणा बहूदं वासाइं परियायं पाउणित्ता कालमासे कालं किञ्चचा उष्कोसेण अच्छुए कप्ये देवत्ताए उद्बवत्तारो भवंति, तर्हि तेसि गई, बावोसं सागरोषमाइं ठिई, अणाराहुगा, सेसं तं चेव ।

१२०—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो आजीवक होते हैं, जैसे—दो घरों के अन्तर से—दो घर छोड़कर भिक्षा लेने वाले, तीन घर छोड़कर भिक्षा लेनेवाले, सात घर छोड़कर भिक्षा लेनेवाले, नियम-विशेषवश भिक्षा में केवल कमल-डंठल लेनेवाले, प्रत्येक घर से भिक्षा लेनेवाले, जब बिजली चमकनी हो तब भिक्षा नहीं लेनेवाले, मिट्टी से बने नांद जैसे बड़े बर्तन में प्रविष्ट होकर तण करनेवाले, वे ऐसे आचार द्वारा विहार करते हुए—जीवन-यापन करते हुए बहुत वर्षों तक आजीवक-पर्याय का पालन कर, मृत्यु-काल आने पर मरण प्राप्त कर, उत्कृष्ट अच्छुत कल्प में (बारहवें देवलोक में) देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे आराधक नहीं होते। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है ।

आत्मोत्कर्षक आदि प्रबन्धित शमणों का उपपात्

१२१—सेज्जे इमे गामागर जाव^१ सणिवेसेसु पञ्चदया समणा भवंति, तं जहा—अत्तुकोसिया, परपरिवाइया, भूइकम्मिया, भुज्जो-भुज्जो कोउयकारगा, तेण एयारुवेण विहारेण विहरमाणा बहूदं वासाइं सामण्णपरियागं पाउण्ति, पाउणित्ता तस्स ठाणस्स अणालोइयप्रपडिकंता कालमासे कालं किञ्चचा उष्कोसेण अच्छुए कप्ये आभियोगिएसु देवेसु देवत्ताए उद्बवत्तारो भवंति । तर्हि तेसि इई, बावोसं सागरोषमाइं ठिई, परलोगस्स अणाराहुगा, सेसं तं चेव ।

ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये प्रबन्धित शमण होते हैं, जैसे—आत्मोत्कर्षक—अपना उत्कर्ष दिखानेवाले—अपना बढ़पन या गरिमा बखाननेवाले, परपरिवाइक—दूसरों की निन्दा करने वाले, भूतिकभिक—ज्वर आदि वाधा, उपद्रव शान्त करने हेतु अभिमन्त्रित भस्म आदि देनेवाले, कौतुककारक—भाग्योदय आदि के निमित्त चामत्कारिक बातें करनेवाले । वे इस प्रकार की चर्या लिये विहार करते हुए—जीवन चलाते हुए बहुत वर्षों तक शमण-पर्याय का पालन करते हैं। अपने गृहीत पर्याय का पालन कर वे अन्ततः अपने पाप-स्थानों की आलोचना नहीं करते हुए, उनसे प्रतिक्रान्त नहीं होते हुए, मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट अच्छुत कल्प में आभियोगिक—सेवकवर्ग के देवों में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक नहीं होते। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है ।

निहृष्टों का उपपात्

१२२—सेज्जे इमे गामागर जाव^२ सणिवेसेसु णिहृगा भवंति, तं जहा—१ बहुरया, २ जीव-पएसिया, ३ अव्वसिया, ४ सामुच्छेया, ५ दोकिरिया, ६ तेरासिया, ७ अबद्धिया इच्छेते सत्त पद्यणणिणहुगा, केवलचरियालिगसामणा, मिळछद्विं बहूहि असमावृद्धभावणाहि मिच्छुता-भिणिवेसेहि य अपाणं च परं च तदुभयं च वुणाहेमाण, वुप्याएमाणा विहरिता बहूदं वासाइं

१. देखें भूत्र-संज्ञा ७१

सामण्णपरिवारं पाउण्ठति, पाउणिता कालमासे फालं किञ्चना उक्कोसेण उवरिमेसु गेवेऽजेसु वेष्टाए
उववत्तारो भवति । तहि तेसि गई, एकतोस सागरोपमाई ठिई, परलोगस्स अणाराहगा, सेसं सं चेब ।

१२२—ग्राम, आकर, सन्निवेश आदि में जो ये निहृव होते हैं, जैसे—बहुरत, जीवप्रादेशिक, अव्यक्तिक, सामुच्छेदिक, द्वैक्रिय, त्रैराशिक तथा अबद्धिक, वे सातों ही जिन-प्रवचन—जैन-सिद्धान्त, बीतरागवाणी का अपलाप करने वाले या उलटी प्रखण्डा करनेवाले होते हैं । वे केवल चर्चा—
भिक्षा-याचना आदि बाह्य क्रियाओं तथा लिंग—रजोहरण आदि चिह्नों में श्रमणों के सदृश होते हैं । वे मिथ्यादृष्टि हैं । असद्भाव—जिनका सद्भाव या अस्तित्व नहीं है, ऐसे अविद्यमान पदार्थों या
तथ्यों की उद्भावना—निराघार परिकल्पना द्वारा, मिथ्यात्व के अभिनिवेश द्वारा अपने को, औरों
को—दोनों को दुराग्रह में डालते हुए, दृढ़ करते हुए—अतथ्यपरक (जिन-प्रवचन के प्रतिकूल)
संस्कार जमाते हुए बहुत वर्षों तक श्रमण-पर्याय का पालन करते हैं । श्रमण-पर्याय का पालन कर,
मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्ट ग्रैवेयक देवों में देवरूप में उत्पन्न होते हैं । वहाँ अपने
स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है । वहाँ उनकी स्थिति इकतोस सागरोपम-प्रमाण होती है ।
वे परलोक के आराधक नहीं होते । अवगोष वर्णन पूर्वक है ।

विवेचन—प्रस्तुत सूत्र में जिन सात निहृवों का उल्लेख हुआ है—आचार्य अभयदेवसूरि ने
अपनी बृत्ति में संक्षेप में उनकी चर्चा की है । उस सम्बन्ध में यऋत्तत्र और भी उल्लेख प्राप्त होते
हैं । जिन-प्रवचन के अपलापी ये निहृव सिद्धान्त के किसी एक देश या एकांश को लेकर हठाग्रह किया
दुराग्रह से अभिभूत थे ।

उनके वादों का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है—

१. बहुरतवाद—बहुत समयों में रत या आसक्त बहुरत कहे जाते थे । उनके अनुसार कार्य
की निष्पन्नता बहुत समयों से होती है ।^१ अतः कियमाण को छुत नहीं कहा जा सकता । अपेक्षा-भेद
पर आधृत अनेकान्तमय समंजस विचारधारा में बहुरतवादियों की आस्था नहीं थी ।

बहुरतवाद का प्रवर्तक जमालि था । वह क्षत्रिय राजकुमार था । भगवान् महावीर का
जामाता था । बैराग्यवश वह भगवान् के पास प्रव्रजित हुआ, उसके पाँच सौ साथी भी । ज्ञानाराधन
एवं तपश्चरण पूर्वक वह श्रमण-धर्म का पालन करने लगा ।

एक बार उसने जनपद-विहार का विचार किया । भगवान् से अनुज्ञा मांगी । भगवान् कुछ
बोले नहीं । फिर भी उसने अपने पाँच सौ श्रमण-साधियों के साथ विहार कर दिया ।

वह श्रावस्ती में रुका । कठोर चर्चा तथा तप की आराधना में लगा । एक बार वह धोर
पित्तज्वर से पीड़ित हो गया । असह्य वेदना थी । उसने अपने साधुओं को बिछौना तैयार करने की
आज्ञा दी । साधु बैसा करने लगे । जमालि ज्वर की वेदना से अत्यन्त व्याकुल था । क्षण-क्षण का
समय बीतना भारी था । उसने अधीरता से पूछा—क्या बिछौना तैयार हो गया ? साधु बोले—
देवानुप्रिय ! बिछौना बिछ गया है । तीव्र ज्वर-जनित आकुलता थी ही, जमालि टिक नहीं पा रहा ।

१. बहुत्तु समयेषु रताः—आसक्ताः, बहुभिरेव समयैः कार्यं निष्पद्यते नैकसमयेनेत्येवंविधवादिनो बहुरताः—
जमालिभवतानुपातिनः । ——ब्रौपपातिकसूत्र बृत्ति, पत्र १०६

या । वह तत्काल उठा, गया और देखा कि बिछौना विद्याया जा रहा है । यह देखकर उसने विचार किया—कार्य एक समय में निष्पत्त नहीं होता, बहुत समयों से होता है । कितनी बड़ी भूल चल रही है कि क्रियमाण को कृत कह दिया जाता है । भगवान् महाबीर भी ऐसा कहते हैं । जमालि के मन में इस प्रकार एक मिथ्या विचार बैठ गया । वेदना शान्त होने पर अपने साथी श्रमणों के सक्षम उसने यह विचार रखा । कुछ सहमत हुए, कुछ असहमत । जो सहमत हुए, उसके साथ रहे, जो सहमत नहीं हुए, वे भगवान् महाबीर के पास आगये ।

जमालि कुछ समय पश्चात् भगवान् महाबीर के पास आया । वारलाप हुआ । भगवान् महाबीर ने उसे समझाया, पर उसने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा । धीरे-धीरे उसके साथी उसका साथ छोड़ते गये ।

२. जीवप्रादेशिकवाद—एक प्रदेश भी कम हो तो जीव जीव-जीवत्वयुक्त नहीं कहा जा सकता, अतएव जिस एक—अन्तिम प्रदेश से पूर्ण होने पर जीव जीव कहलाता है, वह एक प्रदेश ही वस्तुतः जीव है । जीवप्रादेशिकवाद का यह सिद्धान्त था । इसके प्रवर्तक तिष्यगुप्ताचार्य थे ।^१

३. अव्यक्तकवाद—साधु आदि के सन्दर्भ में यह सारा जगत् अव्यक्त है । अभुक्त साधु है या देव है, ऐसा कुछ भी स्पष्टतया व्यक्त या प्रकट नहीं होता ।^२ यह अव्यक्तकवाद का सिद्धान्त है । इस वाद के प्रवर्तक आचार्य आषाढ़ माने जाते हैं ।

इस वाद के चलने के पीछे एक घटना है । आचार्य आषाढ़ श्वेतविका नगरी में थे । वे अपने शिष्यों को योग-साधना सिखा रहे थे । अकस्मात् उनका देहान्त हो गया । अपने आयुष्य-बन्ध के अनुसार वे देव हो गये । उन्होंने यह सोचकर कि उनके शिष्यों का अभ्यास अधूरा न रहे, अपने मृत शरीर में प्रवेश किया । यह सब क्षण भर में घटित हो गया । किसी को कुछ भान नहीं हुआ । शिष्यों का अभ्यास पूरा कराकर वे देवरूप में उस देह से बाहर निकले और उन्होंने श्रमणों को सारी धटना बतलाते हुए उनसे क्षमा-याचना की कि देवरूप में असंयत होते हुए भी उन्होंने संयतात्माओं से बन्दन-नमस्कार करवाया । यह कहकर वे अपने अभीष्ट स्थान पर चले गये ।

यह देखकर श्रमणों को संदेह हुआ कि जगत् में कौन साधु है, कौन देव है, यह अव्यक्त है । उन्होंने इस एक बात को पकड़ लिया, दुराग्रह-ग्रस्त हो गये । उन श्रमणों से यह वाद चला । इस प्रकार अव्यक्तकवाद के प्रवर्तक वस्तुतः आचार्य आषाढ़ के श्रमण-शिष्य थे ।

१. जीवः प्रदेश एवंको येषां मतेन ते जीवप्रदेशः । एकेनापि प्रदेशेन न्यूनो जीवो न भवत्ययो येनैकेन प्रदेशेन पूर्णः सन् जीवो भवति, स एवंकः प्रदेशः जीवो भवतीत्येवंविद्यवादिनस्त्यगुप्ताचार्यमताविसंवादिनः ।

—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

२. अव्यक्तं समस्तमिदं जगत् साधवादिविषये श्रमणोऽयं देवो वाऽयमित्यादिविविक्तप्रतिभासोदयाभावात्तश्चाव्यक्तं वस्तिवति मतमस्ति येषां ते अव्यक्तिकाः, अविद्यमाना वा साधवादिव्यक्तिरेतामित्यव्यक्तिकाः, आषाढ़ाचार्य-शिष्यमतात्तः पातिनः ।

—औपपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

४. सामुच्छेदिकवाद—नारक आदि भावों का एकान्ततः प्रतिक्षण समुच्छेद—विनाश होता रहता है। सामुच्छेदिकवाद का ऐसा अभिमत है। इसके प्रवर्तक अश्वमित्र माने जाते हैं।^१

इसके प्रवर्तन से सम्बद्ध कथानक इस प्रकार है—

कौण्डल नामक आचार्य थे। उनके शिष्य का नाम अश्वमित्र था। आचार्य शिष्य को 'पूर्व-ज्ञान' का अध्यास करा रहे थे। पर्यायवाद का प्रकरण चल रहा था। पर्याय की एक समयवर्तिता प्रसंगोपात्तरूप में समझा रहे थे। प्रथम समय के नारक समुच्छेद—विच्छिन्न—होंगे, दूसरे समय के नारक समुच्छेद होंगे। पर्यायात्मक दृष्टि से इसी प्रकार सारे जीव समुच्छेद होंगे। अश्वमित्र ने सारे सन्दर्भ को यथार्थरूप में न समझते हुए केवल समुच्छेद या समुच्छेदता को ही पकड़ लिया। वह दुराग्रही हो गया। उसने सामुच्छेदिकवाद का प्रवर्तन किया।

५. द्वैक्रियवाद—शीतलता और उष्णता आदि की दोनों अनुभूतियाँ एक हो समय में साथ होती हैं, ऐसी मान्यता द्वैक्रियवाद है। गंगाचार्य इसके प्रवर्तक थे।^२

इसके प्रवर्तन से सम्बद्ध कथा इस प्रकार है—

गङ्गा नामक मुनि धनगुप्त आचार्य के शिष्य थे। वे अपने गुरु को बन्दन करने जा रहे थे। मार्ग में उल्लुका नामक नदी पढ़ती थी। मुनि जब उसे पार कर रहे थे, उनके सिर पर सूर्य की उष्ण किरणें पड़ रही थीं, पैरों में पानी की शीतलता का अनुभव हो रहा था।

मुनि गङ्गा सोचने लगे—आगमों में तो बतलाया है, एक साथ दो क्रियाओं की अनुभूति नहीं होती, पर मैं प्रत्यक्ष देख रहा हूँ ऐसा होता है। तभी तो एक ही साथ मुझे शीतलता एवं उष्णता का अनुभव हो रहा है। वे इस विचार में आग्रहप्रस्त हो गये। उन्होंने दो क्रियाओं का अनुभव एक साथ होने का सिद्धान्त स्थापित किया।

६. त्रैराशिकवाद—त्रैराशिकवादी जीव, अजीव तथा नोजीव—जो जीव भी नहीं, अजीव भी नहीं—ऐसी तीन राशियाँ स्वीकार करते हैं। त्रैराशिकवाद के प्रवर्तक आचार्य रोहगुप्त थे।^३

इसके प्रवर्तन की कथा इस प्रकार है—रोहगुप्त अन्तरंजिका नामक नगरी में रहे हुए थे। वे अपने गुरु आचार्य श्रीगुप्त को बन्दन करने जा रहे थे। पोदुशाल नामक परिवाजक अपनी विद्याओं के प्रदर्शन द्वारा लोगों को आश्चर्यान्वित कर रहा था, वाद हेतु सबको चुनौती भी दे रहा था। रोहगुप्त ने पोदुशाल की चुनौती स्वीकार कर ली। पोदुशाल वृश्चिकी, सर्पी, मूषिकी आदि विद्याएँ साथे हुए

१. नारकादिभावनां प्रतिक्षणं समुच्छेदं अर्थं वदत्तीति सामुच्छेदिकाः, अश्वमित्रमतानुसारिणः।

—अौपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

२. हे क्रिये—शीतवेदमोष्णवेदनादिस्वरूपे एकत्र समये जीवोऽनुभवतीत्येवं वदन्ति वे, ते द्वैक्रिया गङ्गाचार्यमतानुवर्तिनः। —अौपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

३. त्रीन् राशीन् जीवजीवनोजीवरूपान् वदन्ति वे, ते त्रैराशिकाः, रोहगुप्तमतानुसारिणः।

—अौपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र १०६

था। आचार्य श्रीगुप्त ने रोहगुप्त को मयूरी, नकुली, विडाली आदि उन विद्याओं को निरस्त करने वाली विद्याएँ सिखला दीं।

राजसभा में चर्चा प्रारम्भ हुई। पोदुशाल बहुत चालाक था। उसने रोहगुप्त को पराजित करना कठिन समझ कर रोहगुप्त के पक्ष को ही अपना पूर्वपक्ष बना लिया, जिससे रोहगुप्त उसका खण्डन न कर सकें। उसने कहा—जगत् में दो ही राशियाँ हैं—जीवराशि और अजीवराशि। रोहगुप्त असमंजस में पड़ गए। दो राशियों का पक्ष ही उन्हें मान्य था, किन्तु पोदुशाला को पराजित न करने और उसके पक्ष को स्वीकार कर लेने से अपेक्षा होगा, इस विचार से उन्होंने जीव, अजीव तथा नोजीव—इन तीन राशियों की स्थापना की। तर्क द्वारा अपना मत सिद्ध किया। पोदुशाला द्वारा प्रयुक्त वृश्चिकी, सर्पी तथा मूषिकी आदि विद्याओं को मयूरी, नकुल एवं विडाली आदि विद्याओं द्वारा निरस्त कर दिया। पोदुशाल पराजित हो गया।

रोहगुप्त गुरु के पास आये। सारी घटना उन्हें बतलाई। आचार्य श्रीगुप्त ने रोहगुप्त से कहा कि तीन राशियों की स्थापना कर उसने (रोहगुप्त ने) उचित नहीं किया। यह सिद्धान्तविरुद्ध हुआ। अतः वह वापस राजसभा में जाए और इसका प्रतिवाद करे। रोहगुप्त ने इसे अपनी प्रतिष्ठा का प्रधन बना लिया। वे वैसा नहीं कर सकें। उन्होंने वैराशिकवाद का प्रबर्तन किया।

७. अबद्धिकवाद—कर्म जीव के साथ बंधता नहीं, वह केंचुल की तरह जीव का मात्र स्पर्श किये साथ लगा रहता है। अबद्धिकवादों ऐसा मानते हैं। गोष्ठामाहिल इस बाद के प्रबर्तक थे।^१

इसके प्रबर्तन की कथा इस प्रकार है—

दुर्बलिका पुष्ट्यमित्र, जो आर्येरक्षित के उत्तराधिकारी थे, अपने विन्ध्य नामक शिष्य को कर्म-प्रवाद के बन्धाधिकार का अभ्यास करा रहे थे। वहाँ यथाप्रसंग कर्म के द्विविध रूप की चर्चा आई—जैसे गोली दीवार पर सटाई गई मिट्टी दीवार से चिपक जाती है, वैसे ही कुछ कर्म ऐसे हैं, जो आत्मा के साथ चिपक जाते हैं, एकाकार हो जाते हैं। जिस प्रकार सूखी दीवार पर सटाई गई मिट्टी केवल दीवार का स्पर्श कर गीचे गिर जाती है, उसी प्रकार कुछ कर्म ऐसे हैं, जो आत्मा का स्पर्श मात्र करते हैं, गाढ़ रूप में बंधते नहीं। गोष्ठामाहिल ने यह सुना। वह संशक्त हुआ। उसने अपनी शंका उपस्थित की कि यदि आत्मा और कर्म एकाकार हो जाएं तो वे पृथक्-पृथक् नहीं हो सकते। अतः यही न्याय-संगत है कि कर्म आत्मा के साथ बंधते नहीं, आत्मा का केवल संस्पर्श करते हैं। दुर्बलिका पुष्ट्यमित्र ने गोष्ठामाहिल को वस्तु-स्थिति समझाने का प्रयत्न किया पर गोष्ठामाहिल ने अपना दुराग्रह नहीं छोड़ा तथा अबद्धिकवाद का प्रबर्तन किया।

बहुरत्ववाद भगवान् महाबीर के कैवल्य-प्राप्ति के चौदह वर्ष पश्चात्, जीवप्रादेशिकवाद कैवल्य-प्राप्ति के सोलह वर्ष पश्चात्, अव्यक्तवाद भगवान् महाबीर के निवाण के एक सौ चौदह वर्ष पश्चात्, सामुच्छेदिकवाद निवाण के दो सौ वर्ष पश्चात्, द्वैक्रियवाद निवाण के दो सौ अट्टाईस वर्ष पश्चात्, वैराशिकवाद निवाण के पाँच सौ चालीस वर्ष पश्चात् तथा अबद्धिकवाद निवाण के छह सौ तीन वर्ष पश्चात् प्रवर्तित हुआ।

१. अबद्धं सत् कर्म कञ्चुकवत् पार्थितः सूष्ट्यमात्रं जीवं समनुगच्छतीत्येवं वदत्तीत्यबद्धिकाः, गोष्ठामाहिलमता-वलमित्यनः। —ओपपातिक सूत्र बृति पत्र १०६

जमालि, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल के अतिरिक्त अन्य सभी निहृव अपनी अपनी भूलों का प्रायशिक्त लेकर पुनः सध में सम्मिलित हो गये । अमलि, रोहगुप्त तथा गोष्ठामाहिल, जो संघ से अन्त तक पृथक् ही रहे, उनकी कोई परम्परा नहीं चली । न उनका कोई साहित्य ही उपलब्ध है ।

अल्पारंभी आदि मनुष्यों का उपवास

१२३--सेडजे इये गामागर जाव^१ सण्णिवेसेमु मणुया भवंति, तं जहा—अप्पारंभा, अप्पपरिग्रहा, धम्मिया, धम्माण्या, धम्मटू, धम्मक्षाई, धम्मप्पलोई, धम्मपलज्जणा, धम्मसमुदायारा, धम्मेण चेव वित्ति कण्ठेमाणा, सुसीला, सुव्यया, सुप्पडियाणंदा साहूहि एगच्चाश्रो पाणाइवायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो अपडिविरया एवं जाव (एगच्चाश्रो मुसाबायाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो अपडिविरया, एगच्चाश्रो अविष्णादाणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाश्रो अपडिविरया, एगच्चाश्रो मेहुणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाश्रो अपडिविरया, एगच्चाश्रो परिग्रहाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो अपडिविरया, एगच्चाश्रो कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोहाओ, पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अवभक्षाणाओ, पेसुण्णाओ, परपरिवायाओ, अरहरहाओ, मायामोसाओ, मिच्छादंसणसल्लाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो अपडिविरया, एगच्चाश्रो करणकारावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए एगच्चाश्रो अपडिविरया, एगच्चाश्रो पयण-पयावणाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो पयणपयावणाओ अपडिविरया, एगच्चाश्रो कोट्टण-पट्टिणसज्जणतालणवहंधपरिकिलेसाओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो अपडिविरया, एगच्चाश्रो ष्हाणमद्धणवण्णगविलेवणसहफरिसरसल्लवर्गंधमल्लालंकाराओ पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो अपडिविरया, जेयावणे तहप्पगारा सावज्जजोगोवहिया कम्मंता परपाणपरियावणकरा कुञ्जंति, तज्जो विएगच्चाश्रो पडिविरया जावज्जीवाए, एगच्चाश्रो अपडिविरया ।

१२३ . आम, आकर, सम्बिवेश आदि में जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे अल्पारंभ--अल्प—थोड़ी हिसा से जीवन चलानेवाले, अल्पपरिग्रह--सीमित धन, धान्य आदि में सन्तोष रखनेवाले, धार्मिक—श्रुत-चारित्ररूप धर्म का आचरण करनेवाले, धर्मनुग—श्रुतधर्म या आभमानुभोदित धर्म का अनुगमन—अनुसरण करनेवाले धर्मिष्ठ—धर्मप्रिय—धर्म में प्रीति रखनेवाले, धर्मख्यायी—धर्म का आख्यान करनेवाले, भव्य प्राणियों को धर्म बतानेवाले अथवा धर्मख्याति—धर्म द्वारा ख्याति प्राप्त करनेवाले, धर्मप्रलोकी—धर्म को उपादेय रूप में देखनेवाले, धर्मप्ररंजन—धर्म में विशेष रूप से अनुरक्त रहनेवाले, धर्मसमुदाचार—धर्म का सानन्द, सम्यक् आचरण करनेवाले, धर्मपूर्वक अपनी जीविका चलानेवाले, सुशील—उत्तम शील—आचारयुक्त, सुव्रत—श्रेष्ठ व्रतयुक्त, सुप्रत्यानन्द—आत्मपरितुष्ट; वे साधुओं के पास—साधुओं के साक्ष्य से अंशतः—स्थूल रूप में जीवनभर के लिए हिसा से, (असत्य से, चोरी से, अव्याहर्य से, परिग्रह से) क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, प्रेय से, द्वेष से, कलह से, अभ्यास्यान से, पैशुन्य से, परपरिवाद से, रति-अररति से तथा मिद्यादर्शनशल्य से प्रतिविरत—निवृत्त होते हैं, अंशतः—सूक्ष्मरूप में अप्रतिविरत—अनिवृत्त होते हैं, अंशतः—स्थूल रूप में जीवन भर के लिए आरम्भ-समारम्भ से विरत होते हैं, अंशतः—सूक्ष्म रूप में अविरत होते हैं, वे जीवन भर के लिए अंशतः किसी क्रिया के करने-कराने से प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं, वे जीवन भर के लिए अंशतः पकाने, पकवाने से प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत

होते हैं, वे जीवन भर के लिये कूटने, पीटने, तजित करने—कटु वचनों द्वारा भत्सना करने, ताढ़ना करने, अपड़ आदि द्वारा ताड़ित करने, वध—प्राण लेने, बन्ध—रस्सी आदि से बाँधने, परिक्लेश—पीड़ा देने से अंशतः प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं, वे जीवन भर के लिए स्नान, मद्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला तथा अलंकार से अंशतः प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं, इसी प्रकार और भी पापमय प्रवृत्ति युक्त, छल-प्रपञ्च युक्त, दूसरों के प्राणों को कष्ट पहुंचानेवाले कर्मों से जीवन भर के लिए अंशतः प्रतिविरत होते हैं, अंशतः अप्रतिविरत होते हैं।

१२४—तं जहा—समणोवासगा भवंति, अभिगयजीवाजीवा, उवसद्गुण्णपावा, आसव-संवर-निज्जर-किरिया-अहिंगरण-बंध-मोक्ष-कुसला, असहेज्जा, देवासुर-णाग-जवख-रवखस-किञ्चर-किपुरिस-गरुल-गंधवध-महोरग। हए हि देवगणेहि निगंयश्चो पावयणाश्चो अणहृष्कमणिज्जा, निभरंथे पावयणे णिसंकिया, णिवकंखिया, निविलिगिरुद्धा, लद्धद्वा, गहियद्वा, पुच्छयद्वा, अभिगयद्वा, विणिलिष्यद्वा अट्टिमिज्जपेमाणुरागरत्ता। “अयमाडसो ! निगंयंथे पावयणे अद्धेन, अयं परमट्ठेन, सेसे अणट्ठेन” ऊसिय-फलिहा, अबंगुयद्वावारा, खियतंतेउरपुरधरप्पवेसा चउद्दसद्गुद्गुद्गुपुण्णमासिणीसु पद्धिपुण्णं पोसहं सम्म अणुपालेसा समणे निगंयंथे फासुएसणिज्जेण असण-पाण-खाइम-साइमेण, वत्थपडिगहृकंबलपाय-पुच्छणेण, ओसहभेसज्जेण पडिहारएण य पीढफलगसेज्जासंथारएण पडिलाभेमाणा विहरति, विहरिता भत्तं पच्चक्षुंति । ते बहुइं भसाइं अणसणाए छेदेति, छेदिता आलोइयपडिकंता, समाहिपत्ता कालमासे कालं किल्वा उक्कोसेण अरुचुए कप्पे देवत्ताए उववत्तारो भवंति । तहि तेसि गई, बाकीसं सागरोवभाइं ठिई, आराहगा, सेसं तहेब ।

१२४-ऐसे श्रमणोपासक—गृही साधक होते हैं, जिन्होंने जीव, अजीव आदि पदार्थों का स्वरूप भली भाँति समझा है, पुण्य और पाप का भेद जाना है, आसव, संवर, निर्जरा, क्रिया, अधिकरण, बन्ध एवं मोक्ष को भली भाँति अवगत किया है, जो किसी दूसरे की सहायता के अनिच्छुक है—आत्मनिर्भर हैं, जो देव, नाग, सुपर्ण, यक्ष, राक्षस, किञ्चर, किपुरुष, गरुड, गन्धर्व, महोरग आदि देवों द्वारा निर्गंत्य-प्रवचन से अनतिक्रमणीय—विचलित नहीं किये जा सकने योग्य हैं, निर्गंत्य-प्रवचन में जो निःशंक—शंकारहित, निष्कांक—आत्मोत्थान के अतिरिक्त अन्य आकांक्षा रहत, निविचिकित्स—विविकित्सा या संशरहित, लब्धार्थ—धर्म के यथार्थ तत्त्व को प्राप्त किए हुए, गृहीतार्थ—उसे ग्रहण किये हुए, पृष्ठार्थ—जिज्ञासा या प्रश्न द्वारा उसे स्थिर किये हुए, अभिगतार्थ—स्वायत्त किये हुए, दिनिष्ठिचतार्थ—निष्ठिचत रूप में आत्मसात् किये हुए हैं, जो अस्थि और मज्जा तक धर्म के प्रति प्रेम तथा अनुराग से भरे हैं, जिनका यह निष्ठिचत विष्वास है, निर्गंत्य-प्रवचन ही अर्थ—प्रयोजनभूत है, इसके सिवाय अन्य अनर्थ—अप्रयोजनभूत है, उच्छ्रृत-परिघ—जिनके घर के किवाड़ों के आगल नहीं लगी रहती हो, अपावृतद्वार—जिनके घर के दरवाजे कभी बन्द नहीं रहते हों—भिक्षुक, याचक, अतिथि आदि खाली न लौट जाएं, इस दृष्टि से जिनके घर के दरवाजे सदा खुले रहते हों, त्यक्तान्तःपुरगृहद्वारप्रवेश—शिष्ट जनों के आवागमन के कारण घर के भीतरी भाग में उनका प्रवेश जिन्हें अप्रिय नहीं लगता हो, या अन्तःपुर अथवा घर में जिनका प्रवेश प्रीतिकर हो, चतुर्दशी, अष्टमी, अमावस्या एवं पूर्णिमा को परिपूर्ण पौष्टि का सम्यक् अनुपालन करते हुए, श्रमण-निर्गंत्यों को प्रामुक—अचित्, एषणीय---निर्देष अक्षम, पान, खाद्य, स्वाद्य आहार, वस्त्र, पात्र, कम्बल, पाद-प्रोञ्चन, औषध—जड़ी, खूटी आदि वनीषष्ठि,

भेषज—तैयार औषधि, दवा, प्रतिहारिक—लेकर वापस लौटा देने योग्य वस्तु, पाट, बाजोट, ठहरने का स्थान, बिछाने के लिए धास आदि द्वारा प्रतिलाभित करते हुए विहार करते हैं—जीवन-यापन करते हैं; इस प्रकार का जीवन जीते हुए वे अन्ततः भोजन का त्याग कर देते हैं। बहुत से भोजन-काल अनशन द्वारा विच्छिन्न करते हैं, बहुत दिनों तक निराहार रहते हैं। वैसा कर वे पाप-स्थानों की आलोचना करते हैं, उनसे प्रतिक्रान्त होते हैं—प्रतिक्रमण करते हैं। यों समाधि अवस्था प्राप्त कर मृत्यु-काल आने पर देह-त्याग कर उत्कृष्टतः अच्युत कल्प में वे देव रूप में उत्पन्न होते हैं। अपने स्थान के अनुरूप वहाँ उनकी गति होती है। उनकी स्थिति बाईस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। अवशेष वर्णन पूर्ववत् है।

१२५—सेउजे इसे गामागर जाव^१ सण्णिवेसेसु भणुया भवंति, सं जहा— श्रणारंभा, अपरिग्रहा धम्मिया जाव (धम्माणुया, धम्मदूा, धम्मकछाई, धम्मपलोई, धम्मसमुदायारा, धम्मेण खेद विन्त कर्पेमाण) सुसीला, सुठवया, शुपडियाणंदा, साहू, सब्बाओ पाणाइवायाओ पडिविरया, जाव (सब्बाओ मुसावायाओ पडिविरया, सब्बाओ, अविण्णादाणाओ पडिविरया, सब्बाओ मेहुणाओ पडिविरया) सब्बाओ परिग्रहाओ पडिविरया, सब्बाओ, कोहाओ, माणाओ, मायाओ, लोभाओ जाव (पेज्जाओ, दोसाओ, कलहाओ, अङ्गकछाणाओ, पेसुणाओ, परपरिवायाओ, अरहरईओ, मायामोसाओ) मिथ्यादंसणसल्लाओ पडिविरया, सब्बाओ आरंभसमारंभाओ पडिविरया, सब्बाओ करणकारादणाओ पडिविरया, सब्बाओ पयणपयावणाओ पडिविरया, सब्बाओ कोट्टणपिटृणसज्जण-तालणबहुबंधपरिकिलेसाओ पडिविरया, सब्बाओ पहाण-मट्टण-वण्णग-विलेषण-सद्द-फरिस-रस-रूप-गंध-मल्लालंकाराओ पडिविरया, जे यावणे तहृपगारा सावजज्जोगोवहिया कम्मता परपाणपरियावणकरा कउत्ति, तओ वि पडिविरया जावज्जीवाए।

१२६—ग्राम, आकर, सञ्चिवेश आदि में जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे— अनारंभ—आरंभरहित, अपरिग्रह—परिग्रहरहित, धामिक, (धर्मनुग, धमिष्ठ, धर्मख्यायी, धर्मप्रलोकी, धर्मप्ररंजन, धर्म-सभुदाचार, धर्मपूर्वक जीविका चलाने वाले,) सुशील, सुब्रत, स्वात्मपरितुष्ट, वे साधुओं के साक्ष्य से जीवन भर के लिए सम्पूर्णतः—सब प्रकार की हिंसा, सम्पूर्णतः असत्य, सम्पूर्णतः चोरी, सम्पूर्णतः अब्रहाचर्ध तथा सम्पूर्णतः परिग्रह से प्रतिविरत होते हैं, सम्पूर्णतः क्रोध से, मान से, माया से, लोभ से, (प्रेय से, द्वेष से, कलह से, अभ्याख्यान से, पंशुन्य से परपरिवाद से अरति-रति से, मायामृषा से,) मिथ्यादर्शनशाल्य से प्रतिविरत होते हैं, सब प्रकार के आरंभ-समारंभ से प्रतिविरत होते हैं। करने, तथा कराने से संपूर्णतः प्रतिविरत होते हैं, पकाने एवं पकवाने से सर्वथा प्रतिविरत होते हैं, कूटने, पीटने, तजित करने, ताडित करने, किसी के प्राण लेने, रस्सी आदि से बाधने एवं किसी को कष्ट देने से सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं, स्नान, मर्दन, वर्णक, विलेपन, शब्द, स्पर्श, रस, रूप, गन्ध, माला, और अलंकार से सम्पूर्ण रूप में प्रतिविरत होते हैं, इसी प्रकार और भी पाप-प्रवृत्तियुक्त, छल-प्रपंचयुक्त, दूसरों के प्राणों को कष्ट पहुंचाने वाले कर्मों से जीवन भर के लिए सम्पूर्णतः प्रतिविरत होते हैं।

अनारंभी अमण

१२७—से जहाणामए अणगारा भवंति—इरियासमिया, भासासमिया, जाव (एसणासमिया

आयाणभेदमत्तनिकलेवणासमिया, उच्चारपासवण-खेलसिघाणजलपरिद्रुष्णियासमिया, भणगुत्ता, वयगुत्ता, कायगुत्ता, गुत्ता, गुत्तिदिया, गुत्तबंधयारी, अममा, अक्षिखणा, छिण्णगंथा, छिण्णसोया, निरुवलेवा, कंसपाईव मुक्कतोया, संख इव निरंगणा, जोबो इव अप्पडिहयगई, जञ्चकणगं पित्र जायल्का, आदरिसफलगा इव पागडभावा, कृम्मो इव गुत्तिदिया, पुक्ष्मरपत्तं इव निरुवलेवा, गगणभिव निरालंबणा, अणिलां इव निरालया, चबो इव सोमलेसा, सूरो इव दित्ततेया, सागरो इव गंभीरा, विहग इव सब्बश्चो विष्पमुवका, मंदरा इव अप्पकंपा, सारयससिलं इव सुद्धहियया, खण्णिविसार्ण इव एगजाया, भारंडपक्खी इव अप्पमत्ता कुंजरो इव सोंडीरा बसभो इव जायत्थामा, सोहो इव दुद्धरिसा, बसुधरा इव सञ्चकासविसहा, सुहुयहुयासणो इव तेयसा जलंता) इणमेव निर्गांथं पावयणं पुरओकारं विहरंति ।

१२६—वे अनगार—श्रमण ऐसे होते हैं, जो ईर्या—गमन, हलन-चलन आदि किया, भाषा, आहार आदि की गवेषणा, याचना, पात्र आदि के उठाने, इवर-उधर रखने आदि में, मल, मूत्र, खंखार, नाक आदि का मैल त्यागने में समित—सम्यक् प्रवृत्त—यतनाशील होते हैं, जो मनोगुप्त, वचोगुप्त, कायगुप्त—मन, वचन तथा शरीर को क्रियाओं का गोपायन—संयम करने वाले, गुप्त—शब्द आदि विषयों में रागरहित—अन्तमुख, गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को उनके विषय-व्यापार में लगाने की उत्सुकता से रहित, गुप्त ऋद्धाचारो—नियमोपनियम पूर्वक ब्रह्मचर्य का संरक्षण—परिपालन करने वाले, अमम—ममत्वरहित, अकिञ्चन—परिग्रहरहित, छिन्नग्रन्थ—संसार से जोड़नेवाले पदार्थों से विमुक्त, छिन्नसोत—ज्ञोक-प्रवाह में नहीं बहनेवाले या आश्रवों को रोक देने वाले, निरुपलेप कर्म-बन्ध के लेप से रहित, कांसे के पात्र में जैसे पानी नहीं लगता, उसी प्रकार स्नेह, आसक्ति आदि के लगाव से रहित, शंख के समान निरंगण—राग आदि की रंजनात्मकता से शून्य—शंख जैसे सम्मुखीन रंग से अप्रभावित रहता है, उसी प्रकार सम्मुखीन कोध, द्वेष, राग, प्रेम, प्रशंसा, निन्दा आदि से अप्रभावित, जीव के समान अप्रतिहत—प्रतिष्ठात या निरोध रहित गतियुक्त, जात्य—उत्तम जाति के, विशोधित, अन्य कुधातुओं से अमिथित शुद्ध स्वर्ण के समान जातरूप—प्राप्त निर्मल चारित्र्य में उत्कृष्ट भाव से संस्थित—निर्दोष चारित्र्य के प्रतिपालक, दर्पणपट्ट के सदृश प्रकट भाव प्रवचना, छलना व कपट रहित शुद्ध भाव युक्त, कल्पुए की तरह गुप्तेन्द्रिय—इन्द्रियों को विषयों से खींच कर निरृत्ति-भाव में संस्थित रखने वाले, कमलपत्र के समान निलेप, आकाश के सदृश निरालम्ब—निरपेक्ष, वायु की तरह निरालय—मृहरहित, चन्द्रमा के समान सौम्य लेश्यायुक्त सौम्य, सुकोमल-भाव-संवलित, सूर्य के समान द्वीप्त तेज—दैहिक तथा आत्मिक तेज युक्त, समुद्र के समान गम्भीर, पक्षी की तरह सर्वथा विप्रमुक्त—मुक्तपरिकर, अनियतवास—परिवार, परिजन आदि से मुक्त तथा निश्चित निवास रहित, मेरु पर्वत के समान अप्रकम्प—अनुकूल, प्रतिकूल स्थितियों में, परिपर्हों में अविचल, शरद ऋतु के जल से समान शुद्ध हृदय युक्त, गेंडे के सींग के समान एक जात राग आदि विभावों से रहित, एकमात्र आत्मनिष्ठ, भारन्ड^१ पक्षी के समान अप्रमत—प्रमादरहित, जागरूक, हाथी के सदृश लौण्डीर—कषाय आदि को जीतने में शक्तिशाली, बलोच्छत, वृषभ के समान धैर्यशील—सुस्थिर,

१. ऐसी मान्यता है भारण्ड पक्षी के एक शरीर, तो सिर तथा तीन पैर होते हैं। उसकी दोनों ग्रीवाएँ अलग-अलग होती हैं। यों वह दो पक्षियों का समन्वित रूप लिये होता है। उसे अपने जीवन-निर्वाह हेतु खानपान आदि क्रियाओं में अत्यन्त प्रमादरहित या जागरूक रहना होता है।

सिंह के सदृश दुर्धर्ष—परिषहों, कष्टों से अपराजेय, पृथ्वी के समान सभी शीत, उष्ण, अनुकूल, प्रतिकूल स्थिरों को समझाव से सहने में सक्षम तथा धूत द्वारा भली भाँति हुत—हृवन की हुई ग्रन्ति के समान तेज से जाज्वलयमान—ज्ञान तथा तप के तेज से दीप्तिमान् होते हैं, निर्गन्त्य-प्रवचन—बीत-राम-वाणी—जिन-आज्ञा को सम्मुख रखते हुए विचरण करते हैं—ऐसे) पवित्र आचारयुक्त जीवन का सञ्चिवाहि करते हैं।

१२७—जैसि एं भगवंताणं एएण विहारेण विहरमाणाणं अस्थेगद्याणं अणंते जाव (अनुत्तरे, जिवाद्याए, निरावरणे कसिणे, पडिपुणे केवलवरनाणदंसणे समुप्यजज्ञ)। ते बहुइं वासाइं केवलि-परियागं पाउगंति, याचणिशा भत्तं पच्चपखंति, भसं पच्चक्षित्ता बहुइं भसाइं अणसणाए छेदेति, छेदित्ता जस्तद्वाए कोरइ नग्नभावे जाव (मुङ्डभावे, अण्हाणए, अदंतवणए, केसलोए, बंधनेरवासे, अच्छतगं, अणोवाहणगं, भूमिसेज्जा, फलहसेज्जा, कहुसेज्जा, परघरपवेसो लद्वावलद्व), परेहि हीलणाओ, खिसणाओ, निदणाओ, गरहणाओ तालणाओ, तज्जणाओ, परिभवणाओ, पव्वहणाओ, उच्चावधा गामकंटगा बावोसं परीसहोधसगा अहियासिज्जंति, तमदुमाराहित्ता चरिमेहि उसास-णिस्तासेहि सिज्जंति, बुज्जंति, मुच्चंति, परिणिज्वायंति सञ्चदुखाणं) अंतं करंति।

१२८—ऐसी चर्या द्वारा संयमी जीवन का सञ्चिवाहि करने वाले पूजनीय थमणों में से कहयों को अनन्त—अन्तरहित, (अनुत्तर—सर्वश्रेष्ठ, निव्याधित—बाधारहित या व्यवधानरहित, निरावण—आवरणरहित, कुत्सन—समग्र—सर्वार्थाहक, प्रतिपूर्ण—परिपूर्ण—अपने समस्त अविभागी अंशों से युक्त) केवलज्ञान, केवलदर्शन समुत्पन्न होता है। वे बहुत वष्टों तक केवलिपर्याय का पालन करते हैं—कंवल्य-अवस्था में विचरण करते हैं। अन्त में आहार का परित्याग करते हैं, अनशन सम्पन्न कर (जिस लक्ष्य के लिए नग्नभाव-शरीर-संरक्षार सम्बन्धी श्रीदासीन्य, मुण्डभाव—श्रामण्य, अस्तान, अदन्तवन, केश-लुचन, ब्रह्मचर्यवास, छत्र—छाते तथा उपानह—जूते, पादरक्षिका का अग्रहण, भूमि, फलक व काष्ठपट्टिका पर शयन, प्राप्त, अप्राप्त की चिन्ता किए बिना धिक्षा हेतु परगृहप्रवेश, अवज्ञा, अपमान, निन्दा, गहरा, तर्जना, ताङ्ना, परिभव, प्रव्यथा, अनेक इन्द्रिय-कष्ट, बाईस प्रकार के परिषह एवं उपसर्ग आदि स्वीकार किये, उस लक्ष्य को पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्रवास-निःश्वास में सिद्ध होते हैं, बुढ़ होते हैं, मुक्त होते हैं, परिनिवृत होते हैं,) सब दुःखों का अन्त करते हैं।

१२९—जैसि पि य एं एगद्याणं णो केवलवरनाणदंसणे समुप्यज्जन्ति, ते बहुइं वासाइं छउमत्यपरियागं पाउण्णंति, पाउणिता आवाहे उपणे वा अणुप्यणे वा भत्तं पच्चक्षंति। ते बहुइं भसाइं अणसणाए छेदेति, जस्तद्वाए कीरइ नग्नभावे जाव^१ तमदुमाराहित्ता चरिमेहि उसासणीसासेहि अणंतं अणुत्तरं, निव्याधाणं, निरावरणं, कसिणं, पडिपुणं केवलवरनाणदंसणं उप्पादेति, तओ पच्छा सिज्जभहिति जाव^२ अंतं करेहिति।

१३०—जिन कहयों-कतिपय अनगारों को केवलज्ञान, केवलदर्शन, उत्पन्न नहीं होता, वे बहुत वष्टों तक छद्मस्थ-पर्याय—कमविरणयुक्त अवस्था में होते हुए संयम-पालन करते हैं—साधना

१. देखें सूत्र-संख्या १२७

२. देखें सूत्र-संख्या १२७

रत रहते हैं। किर किसी आबाधा—रोग आदि विष्णु के उत्पन्न होने पर या न होने पर भी वे भोजन का परित्याग कर देते हैं। बहुत दिनों का अनशन करते हैं। अनशन सम्पन्न कर, जिस लक्ष्य से कष्ट-पूर्ण संयम-पथ स्वीकार किया, उसे आराधित कर—प्राप्त कर—पूर्ण कर अपने अन्तिम उच्छ्वास-निःश्वास में अनन्त, अनुत्तर, निष्ठाधित, निरावरण, कृत्स्न, प्रतिपूर्ण केवलज्ञान, केवलदर्शन प्राप्त करते हैं। तत्पश्चात् सिद्ध होते हैं, सब दुःखों का अन्त करते हैं।

१२९— एगच्चा पुण एगे भयंतारो पुद्वकम्मावसेसेण कालमासे कालं किञ्च्चा उक्कोसेण सञ्चट्टुसिद्धे महाविमाणे देवताए उवदत्तारो अवंति। तहि तेसि गई, तेतीसं सागरोवमाइं ठिई, आराहगा, सेसं तं चेव।

१३०— कई एक दौ अद्य याते वाते—भरिष्य में केवल एक ही बार मनुष्य-देह धारण करने वाले भगवन्त—भक्ता-अनुष्ठानविशेषसेवी अथवा भयत्राता—संयममयी साधना द्वारा संसार-भय से अपना परिवारण करने वाले सांसारिक मोह-माया से अव्याप्त या अप्रभावित साधक जिनके पूर्व-संचित कर्मों में से कुछ क्षय अवशेष है—उनके कारण, मृत्यु-काल आने पर देह-रप्ताग कर उत्कृष्ट सवर्थिसिद्ध महाविमान में देवरूप में उत्पन्न होते हैं। वहाँ अपने स्थान के अनुरूप उनकी गति होती है। उनकी स्थिति तेतीस सागरोपम-प्रमाण होती है। वे परलोक के आराधक होते हैं। शेष पूर्ववत्।

सर्वकामाविविरत मनुष्यों का उपपात

१३०—सेज्जे इसे गामागर जाव^१ सज्जिवेसेसु मणुया भवति, तं जहा—सब्बकामविविया, सब्बरागविविया, सब्बसंगातीता, सब्बसिणेहाइवकंता, अवकोहा, निष्कोहा एवं माणमाय-लोहा, अणुपुव्वेण श्रद्धु कम्मपयडीओ खवेता उपिप लोयग्गपङ्कटुणा हवंति।

१३०—ग्राम, आकर, सज्जिवेश आदि में जो ये मनुष्य होते हैं, जैसे—सर्वकामविविरत—शब्द आदि समस्त काम्य विषयों से निवृत्त—उत्सुकता रहित, सर्वरागविविरत—सब प्रकार के राग परिणामों से विविरत, सर्व संगातीत—सब प्रकार की आसक्तियों से हटे हुए, सर्वस्नेहातिकान्त—सब प्रकार के स्नेह—प्रेमानुराग से रहित, अक्रोध—क्रोध को विफल करने वाले, निष्क्रोध—जिन्हें क्रोध आता ही नहीं—क्रोधोदयरहित, क्षीणक्रोध—जिनका क्रोधमोहनीय कर्म क्षीण हो गया हो, इसी प्रकार जिनके मान, माया, लोभ क्षीण हो गये हों, वे आठों कर्म-प्रकृतियों का क्षय करते हुए लोकाग्र—लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित होते हैं—मोक्ष प्राप्त करते हैं।

केवलि-समुद्धात

१३१—अणगारे ण भंते ! भावियपा केवलिसमुद्धाएण समोहणिता, केवलकर्पं लोयं फुसित्ता ण चिट्ठ ?

हंता, चिट्ठ ।

१३१—भगवन् ! भावितात्मा—अध्यात्मानुगत अनगार केवलि-समुद्धात द्वारा आत्मप्रदेशों को देह से बाहर निकाल कर, क्या समग्र लोक का स्पर्श कर स्थित होते हैं ?

हाँ, गौतम ! स्थित होते हैं।

१. देखें सूत्र-संख्या ७१

१३२—से णूणं भंते ! केवलकर्पे लोए तेहि निजरापोगलेहि फुडे ?
हंता फुडे ।

१३२—भगवन् ! क्या उन निजरा-प्रधान—अकमविस्था प्राप्त पुदगलों से—खिरे हुए पुदगलों से समय लोक स्पृष्ट—ब्याप्त होता है ? ”
हाँ, गोतम ! होता है ।

१३३—छउभत्थे णं भंते ! मणुसे तेसि णिजरापोगलाणं किचि वण्णेण वण्णं, गंधेण गंधं, रसेण रसं, फासेण फासं जाणइ पासइ ?

गोयमा ! जो इष्टहुे समहुे ।

१३३—भगवन् ! छद्मस्थ—कमविरणयुक्त, विशिष्टज्ञानरहित मनुष्य क्या उन निजरा-पुदगलों के वण्णरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रस को तथा स्पर्शरूप से स्पर्श को जानता है ? देखता है ?

गीतम ! ऐसा संभव नहीं है ।

१३४—से केणदठेण भंते ! एवं खुच्चइ—‘छउभत्थे णं मणुसे तेसि णिजरापोगलाणं यो किचि वण्णेण वण्णं जाव (गंधेण गंधं, रसेण रसं, फासेण फासं) जाणइ, पासइ ।

१३४—भगवन् ! यह किस अभिप्राय से कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुदगलों के वण्णरूप से वर्ण को, गन्धरूप से गन्ध को, रसरूप से रस को तथा स्पर्शरूप से स्पर्श को जरा भी नहीं जानता, नहीं देखता ।

१३५—गोयमा ! यथं णं जंबूद्वीपे दीवे सववदीवसपुद्वाणं सववब्मंतराए, सववखुड़ाए, वट्टे, तेलापूयसंठाणसंठिए वट्टे, रहुचककवालसंठाणसंठिए वट्टे, पुक्खरकण्यासंठाणसंठिए वट्टे, पडिपुण्ण-चंदसंठाणसंठिए एकं जोयणसथसहसं आयामविक्षमेणं, तिणि जोयणसथसहसाइं सोलससहसाइं दोणि य सत्तावीसे जोयणसए तिणि य कोसे अट्टावीसं च धणुसर्वं तेरस य अंगुलाइं अद्वंगुलियं च किचि विसेसाहिए परिवेवेणं पञ्चसे ।

१३५—गीतम ! यह जम्बूद्वीप नामक द्वीप सभी द्वीपों तथा समुद्रों के बिलकुल बीच में स्थित है । यह आकार में सबसे छोटा है, गोल है । तेल में पके हुए पूए के समान गोल है । रथ के पहिये के आकार के सदृश गोल है । कमल-कणिका—कमल के बीज-कोष की तरह गोल है । पूर्ण चन्द्रमा के आकार के समान गोलाकार है । एक लाख योजन-प्रमाण लम्बा-चौड़ा है । इसकी परिधि तीन लाख सोलह हजार दो सौ योजन तीन कोस एक सौ अट्टाईस धनुष तथा साढ़े तेरह अंगुल से कुछ अधिक बतलाई गई है ।

१३६—वेषे णं महिद्वीए, महजुतीए, महञ्चले, महाजसे, महासुखे, महाणुभावे सविलेवणं गंधसमुगमयं गिणहइ, गिहिता तं अवदानेहि, अवदालिता जाव इणामेव त्ति कट्टु केवलकर्पं जंबूद्वीवं वोवं तिहि अच्छराणिवाएहि तिसत्तखुतो अणुपरियट्टिता णं हृष्वमायच्छेज्जा ।

१३६—एक अत्यधिक ऋद्धिमान्, द्युतिमान्, अत्यन्त बलवान्, महायशस्वी, परम सुखी, बहुत प्रभावशाली देव चन्दन, केसर आदि विलेपनोच्चित सुगन्धित द्रव्य से परिपूर्ण डिब्बा लेता है, लेकर उसे खोलता है, खोलकर—उस सुगन्धित द्रव्य को सर्वंत्र बिखेरता हुआ तीन चुटकी बजाने जितने समय में समस्त जम्बूद्वीप की इकोस परिक्रमाएँ कर तुरन्त आ जाता है ।^१

१३७—से णूणं गोयमा । से केवलकथे जंबुद्वीपे बीवे तेहि धाणपोग्नलेहि फुडे ?
होता फुडे ।

१३८—वया समस्त जम्बूद्वीप इउन ध्राण-पुद्गलो—गन्ध-परमाणुओं से सृष्ट—व्याप्त होता है ?

हाँ, भगवन् ! होता है ।

१३९—छउमत्थे णं गोयमा ! मणुस्से तेसि धाणपोग्नलाणं किञ्चि वरणेण वरणं जाव^२ जाणइ, पासइ ?

भगवन् ! णो इण्टठे समट्ठे ।

१४०—गौतम ! वया छद्मस्थ मनुष्य ध्राण-पुद्गलों को वर्ण रूप से वर्ण आदि को जरा भी जान पाता है ? देख पाता है ?

भगवन् ! ऐसा संभव नहीं है ।

१४१—से तेण्टठेणं गोयमा ! एवं दुच्चह—छउमत्थे णं मणुस्से तेसि णिजजरापोग्नलाणं णो किञ्चि वरणेण वरणं जाव^३ जाणइ, पासइ ।

१४२—गौतम ! इस अभिप्राय से यह कहा जाता है कि छद्मस्थ मनुष्य उन खिरे हुए पुद्गलों के वर्णरूप से वर्ण आदि को जरा भी नहीं जानता, नहीं देखता ।

१४३—सुहुमा णं ते पोग्नला वरणत्ता, समणाउसो ! सव्वसोयं पि य णं ते फुसित्ता णं चिट्ठलि ।

१४४—आयुष्मान् श्रमण ! वे पुद्गल इतने सूक्ष्म कहे गये हैं । वे समग्र लोक का स्पर्श कर स्थित रहते हैं ।

केवली-समुद्घात का हेतु

१४५—कम्हा णं भंते ! केवली समोहणंति ? कम्हा णं केवली समुद्घायं गच्छन्ति ?

१. 'जाव इणामेवेतिकट्टु' ति यावदिति परिमाणार्थस्तावदित्यस्य गम्यमानस्य सञ्चयेत्; 'इणामेव' ति इदं गमनम्, एवमिति चण्डुटिकारूपशीघ्रत्वावेदकहस्तव्यापारोपदर्शनपरः, अनुरुवाराश्रयणं च प्राकृतत्वात्, द्विर्वचनं च शीघ्रतातिशयोपदर्शनपरम्, इति रूपप्रदर्शनार्थः । —औपातिक सूत्र वृत्ति, पत्र १०९

२. देखें सूत्र-संख्या १३३

३. देखें सूत्र-संख्या १३३

गौयमा ! केवली णं चत्तारि कम्मंसा अपस्तिकखीणा भवंति, तं जहा—१. वेयणिङ्गं, २. आउयं, ३. णामं, ४. गोत्तं । सध्वबहुए से वेयणिङ्गे कम्मे भवइ । सध्वस्थीए से आउए कम्मे भवइ । यिसमं सर्वं करेइ बंधणेहि ठिईहि य, यिसमसमकरणयाए बंधणेहि ठिईहि य । एवं खलु केवली समोहणंति, एवं छलु केवलो समुद्घायं गच्छंति ।

१४१—भगवन् ! केवली किस कारण समुद्घात करते हैं—आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण करते हैं ।

गौतम ! केवलियों के वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोत्र—ये चार कर्माशा अपरिक्षीण होते हैं—सर्वथा क्षीण नहीं होते, उनमें वेदनीय कर्म सबसे अधिक होता है, आयुष्य कर्म सबसे कम होता है, बन्धन एवं स्थिति द्वारा विषम कर्मों को वे सम करते हैं । यों बन्धन और स्थिति से विषम कर्मों को सम करने हेतु केवली आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण करते हैं, समुद्घात करते हैं ।

१४२—सब्बे विं जं भंते ! केवली समुद्घायं गच्छंति ?

जो हणट्ठे समट्ठे;

अकिञ्चित्ता णं समुद्घायं, अणंता केवली जिणा ।

जरामरणविष्पमुत्तका, सिद्धि वरगाइ गया ॥

१४२—भगवन् ! वया सभों केवलो समुद्घात करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता ।

समुद्घात किये बिना ही अनन्त केवली, जिन—वीतराग (जन्म,) वृद्धावस्था तथा मृत्यु से विप्रमुक्त—सर्वथा रहित होकर सिद्धि—सिद्धावस्था रूप सर्वोत्कृष्ट गति को प्राप्त हुए हैं ।

समुद्घात का स्वरूप

१४३—कहसमए णं भंते ! आउज्जोकरणे पण्णते ?

गौयमा ! असंखेज्जसमइए अंतोमुहुत्तिए पण्णते ।

१४३—भगवन् ! आवर्जीकरण—उदीरणावलिका में कर्मप्रक्षेप व्यापार—कर्मी को उदयावस्था में लाने का प्रक्रियाक्रम कितने समय का कहा गया है ?

गौतम ! वह असंख्येय समयवर्ती अन्तर्मुहूर्त का कहा गया है ।

१४४—केवलिसमुद्घाए णं भंते ! कहसमइए पण्णते ?

गौयमा ! अटुसमइए पण्णते । तं जहा—पढ़मे समए दंडं करेइ, बिईए समए कवाडं करेइ, तइए समए मंथं करेइ, घउस्ये समये लोयं पूरेइ, पंचमे समए लोयं पडिसाहरइ, छट्ठे समए मंथं पडिसाहरइ, सत्तमे समए कवाडं पडिसाहरइ, अटुमे समए दंडं पडिसाहरइ । तओ पच्छा सरीरत्थे भवइ ।

१४४—भगवन् ! केवली-समुद्घात कितने समय का कहा गया है ?

गौतम ! केवली-समुद्घात आठ समय का कहा गया है । जैसे—पहले समय में केवली आत्म-

प्रदेशों को विस्तीर्ण कर दण्ड के आकार में करते हैं अर्थात् पहले समय में उनके आत्मप्रदेश ऊर्ध्वलोक तथा अधोलोक के अन्त तक प्रसृत होकर दण्डाकार हो जाते हैं। दूसरे समय में वे (केवली) आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण कर कपाटाकार करते हैं—आत्मप्रदेश पूर्व तथा पश्चिम दिशा में फैलकर कपाट का आकार धारण कर लेते हैं। तीसरे समय में केवली उन्हें विस्तीर्ण कर मन्थानाकार करते हैं—आत्मप्रदेश दक्षिण तथा उत्तर दिशा में फैलकर मन्थानी का आकार ले लेते हैं। चौथे समय केवली लोकशिखर सहित इनके अन्तराल की पूर्ति हेतु आत्मप्रदेशों को विस्तीर्ण करते हैं। पांचवें समय में अन्तराल स्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं। शापस संकुचित करते हैं। छठे समय में मन्थानी के आकार में अबस्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं। सातवें समय में कपाट के आकार में स्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं। आठवें समय में दण्ड के आकार में स्थित आत्मप्रदेशों को प्रतिसंहृत करते हैं। तत्पश्चात् वे (पूर्ववत्) शरीरस्थ हो जाते हैं।

१४४—से ण भंते ! तथा समुद्घात गए कि मणजोगं जुंजइ ? वयजोगं जुंजइ ? कायजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! णो मणजोगं जुंजइ, णो वयजोगं जुंजइ, कायजोगं जुंजइ ।

१४५—भगवन् ! समुद्घातगत—समुद्घात में प्रवर्तमान केवली क्या मनोयोग का प्रयोग करते हैं ? क्या वचन-योग का प्रयोग करते हैं ? क्या काय-योग का प्रयोग करते हैं ?

गोतम ! वे मनोयोग का प्रयोग नहीं करते । वचन-योग का प्रयोग नहीं करते । वे काय-योग का प्रयोग करते हैं । अर्थात् वे मानसिक तथा वाचिक कोई क्रिया न कर केवल कायिक क्रिया करते हैं ।

१४६—कायजोगं जुंजमाणे कि ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ ? ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? वेउवियसरीरकायजोगं जुंजइ ? वेउवियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ ? आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ ? कम्मसरीरकायजोगं जुंजइ ?

गोयमा ! ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं पि जुंजइ, णो वेउवियसरीरकायजोगं जुंजइ, णो वेउवियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, णो आहारगसरीरकायजोगं जुंजइ, णो आहारगमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, कम्मसरीर-कायजोगं पि जुंजइ, पढ़मटुमेसु समएसु ओरालियसरीरकायजोगं जुंजइ, विह्यछटुसतमेसु समएसु ओरालियमिस्ससरीरकायजोगं जुंजइ, तइयचउत्थपंचमेहि कम्मसरीरकायजोगं जुंजइ ?

१४७—भगवन् ! काय-योग को प्रयुक्त करते हुए क्या वे औदारिक-शरीर-काय-योग का प्रयोग करते हैं—औदारिक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या औदारिक-मिश्र औदारिक शरीर कार्मण—दोनों शरीरों से क्रिया करते हैं ? क्या वैक्रिय शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या वैक्रिय-मिश्र—कार्मण-मिश्रित या औदारिक-मिश्रित वैक्रिय शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या आहारक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या आहारक-मिश्र—औदारिक-मिश्रित आहारक शरीर से क्रिया करते हैं ? क्या कार्मण शरीर से क्रिया करते हैं ? अर्थात् सात प्रकार के काययोग में से किस काययोग का प्रयोग करते हैं ?

गौतम ! वे औदारिक-शरीर-काय-योग का प्रयोग करते हैं, औदारिक-मिश्र शरीर से भी क्रिया करते हैं। वे बैक्रिय शरीर से क्रिया नहीं करते। बैक्रिय-मिश्र शरीर से क्रिया नहीं करते। आहारक शरीर से क्रिया नहीं करते। आहारक-मिश्र शरीर से भी क्रिया नहीं करते। अर्थात् इन कायिक योगों का वे प्रयोग नहीं करते। पर औदारिक तथा औदारिक-मिश्र के साथ-साथ कार्मण-शरीर-काय-योग का भी प्रयोग करते हैं।

पहले और आठवें समय में वे औदारिक शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं। दूसरे, छठे और सातवें समय में वे औदारिक मिश्र शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं। तीसरे, चौथे और पाँचवें समय में वे कार्मण शरीर-काययोग का प्रयोग करते हैं।

समुद्घात के पश्चात् धोग-प्रवृत्ति

१४७—से णं भंते ! तहा समुद्घातगण सिङ्गङ्ग, बुजभङ्ग, सुञ्चिङ्ग, परिणिव्याह, सर्वदुष्काण-मंतं करेह ?

णो इणट्ठे समट्ठे ?

से णं तथो पडिणियत्तङ्ग, पडिणियत्तिसा इहमागच्छङ्ग, आगच्छत्ता तथो पच्छा मणजोगं पि जुंजह, वयजोगं पि जुंजह, कायजोगं पि जुंजह ।

१४८—भगवन् ! क्या समुद्घातगत—समुद्घात करने के समय कोई सिद्ध होते हैं ? बुझ होते हैं ? मुक्त होते हैं ? परिनिवृत्त होते हैं—परिनिवर्ण प्राप्त करते हैं ? सब दुःखों का अन्त करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता। वे उभसे—समुद्घात से बायस लौटते हैं। लौटकर अपने ऐहिक—मनुष्य शरीर में आते हैं—अवस्थित होते हैं। तत्पश्चात् मनोयोग, वचनयोग तथा काययोग का भी प्रयोग करते हैं—मानसिक, वाचिक एवं कायिक क्रिया भी करते हैं।

१४९—मणजोगं जुंजमाणे कि सञ्चमणजोगं जुंजह ? मोसमणजोगं जुंजह ? सञ्चमोस-मणजोगं जुंजह ? असञ्चमोसमणजोगं जुंजह ?

गोप्यमा ! सञ्चमणजोगं जुंजह, षो मोसमणजोगं जुंजह, षो सञ्चमोसमणजोगं जुंजह, असञ्चमोसमणजोगं पि जुंजह ।

१५०—भगवन् ! मनोयोग का उपयोग करते हुए क्या सत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या मृषा—असत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या सत्य-मृषा—सत्य-असत्य मिश्रित (जिसका कुछ अंश सत्य हो, कुछ असत्य हो ऐसे) मनोयोग का उपयोग करते हैं ? क्या अ-सत्य-अ-मृषा—न सत्य, न असत्य—व्यवहार-मनोयोग का उपयोग करते हैं ?

गौतम ! वे सत्य मनोयोग का उपयोग करते हैं। असत्य मनोयोग का उपयोग नहीं करते। सत्य-असत्य-मिश्रित मनोयोग का उपयोग नहीं करते। किन्तु अ-सत्य-अ-मृषा-मनोयोग—व्यवहार मनोयोग का वे उपयोग करते हैं।

विवेचन—मन की प्रवृत्ति मनोयोग है। द्रव्य-मनोयोग तथा भाव-मनोयोग के रूप में वह दो प्रकार का है। मन की प्रवृत्ति हेतु मनोवर्गण के जो पुद्गल संगृहीत किये जाते हैं, उन्हें द्रव्य-मनोयोग कहा जाता है। उन गृहीत पुद्गलों के सहयोग से आत्मा जो मननात्मक प्रवृत्ति; वर्तमान, भूत, भविष्य आदि के सन्दर्भ में चिन्तन, मनन, विमर्श आदि करती है, उसे भाव-मनोयोग कहा जाता है। केवली में इसका सद्भाव नहीं रहता।

जैसा प्रस्तुत सूत्र में संकेतित हुआ है, मनोयोग चार प्रकार का है—

१. सत्य मनोयोग, २. असत्य मनोयोग, ३. सत्य-असत्य-मिश्रित मनोयोग तथा ४. व्यवहार मनोयोग—मन की वैसी व्यावहारिक आदेश, निर्देश आदि से सम्बद्ध प्रवृत्ति, जो सत्य भी नहीं होती, असत्य भी नहीं होती।

१४९—**व्यजोगं जुं जमाणे कि सच्चवद्वजोगं जुं जह ? मोसवद्वजोगं जुं जह ? सच्चामोसवद्वजोगं जुं जह ? असच्चामोसवद्वजोगं जुं जह ?**

गोयमा ! सच्चवद्वजोगं जुं जह, जो मोसवद्वजोगं जुं जह, जो सच्चामोसवद्वजोगं जुं जह, असच्चामोसवद्वजोगं पि जुं जह।

१५०—भगवन् ! वाक्योग को प्रयुक्त करते हुए—वचन-क्रिया में प्रवृत्त होते हुए वया सत्य वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं। क्या मृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं? क्या सत्य-मृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं? वया असत्य-अमृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं?

गौतम ! वे सत्य-वाक्-योग को प्रयुक्त करते हैं। मृषा-वाक्-योग को प्रयुक्त नहीं करते। न वे सत्य-मृषा-वाक्-योग को ही प्रयुक्त करते हैं। वे असत्य-अमृषा-वाक्-योग—व्यवहार-वचन-योग को भी प्रयुक्त करते हैं।

१५०—कायजोगं जुं जमाणे आश्चेऽज वा, चिट्ठेज वा, जिसीएज वा, तुष्टेज वा, उल्लंघेज वा, पल्लंघेज वा, उक्सेवण वा, श्रक्षेवण वा, तिरियक्षेवण वा करेज वा पाहिहारियं वा पौदकलगसेज वा संयारं पक्ष्यापिणेज वा।

१५०—वे काययोग को प्रवृत्त करते हुए आगमन करते हैं, स्थित होते हैं, बैठते हैं, लेटते हैं, उल्लंघन करते हैं—लांघते हैं, प्रलंघन करते हैं—विशेष रूप से लांघते हैं, उत्क्षेपण करते हैं—हाथ आदि को ऊपर करते हैं, अवक्षेपण करते हैं—नीचे करने हैं तथा तिर्यक् दोपण करते हैं—तिरछे या आगे-पीछे करते हैं। अथवा ऊँची, नीची और तिरछी गति करते हैं। काम में ले लेने के बाद प्रातिहारिक—वापस लौटाने योग्य उपकरण—पट्ट, शय्या, संस्तारक आदि लौटाते हैं।

योग-निरोध : सिद्धावस्था

१५१—से पं भते ! तहा सजोगी सिद्धमह, जाव (बुजमह, मुच्चमह, परिणिव्वाह, सव्व-मुक्ताण) अंतं करेह ?

जो इणट्ठे समट्ठे ।

१५१—भगवन् ! क्या सयोगी—मन, वचन तथा काय योग से युक्त सिद्ध होते हैं ? (बुद्ध होते हैं ? मुक्त होते हैं ? परिनिर्वास होते हैं—परिनिर्वाण प्राप्त करते हैं ?) सब दुःखों का अन्त करते हैं ?

गौतम ! ऐसा नहीं होता ।

१५२—से णं पुर्वमेव सणिणस्स पञ्चिदियस्स पञ्जत्तगस्स जहणजोगिस्स हेद्वा असंख्येज्जगुणपरिहीणं पठमं मणजोगं निरुभद्ध, तयाणंतरं च णं बिदियस्स पञ्जत्तगस्स जहणजोगिस्स हेद्वा असंख्येज्जगुणपरिहीणं विद्वयं बद्धजोगं निरुभद्ध, तयाणंतरं च णं सुहुमस्स पणमजोद्यस्स अपञ्जत्तगस्स जहणजोगस्स हेद्वा असंख्येज्जगुणपरिहीणं तद्यं कायजोगं णिरुभद्ध ।

१५३—वे सबसे पहले पर्याप्त आहार आदि पर्याप्ति युक्त, संज्ञी—समनस्क पञ्चेन्द्रिय जीव के जघन्य मनोयोग के नीचे के स्तर से असंख्यातगुणहीन मनोयोग का निरोध करते हैं । अर्थात् इतना मनोव्यापार उनके बाकी रहता है । उसके बाद पर्याप्त द्विनिद्रिय जीव के जघन्य वचन-योग के नीचे के स्तर से असंख्यातगुणहीन वचन-योग का निरोध करते हैं । तदनन्तर अपर्याप्त—आहार आदि पर्याप्तिरहित सूक्ष्म पतक - नीलन-फूलन जीव के जघन्य योग के नीचे के स्तर से असंख्यात-गुणहीन काय-योग का निरोध करते हैं ।

१५३—से णं एएणं उबाएणं पठमं मणजोगं णिरुभद्ध, मणजोगं णिरुभित्ता वयजोगं णिरुभद्ध, वयजोगं णिरुभित्ता कायजोगं णिरुभद्ध, कायजोगं णिरुभित्ता जोगनिरोहं करेइ, जोगनिरोहं करेत्ता अजोगत्तं पाउणह, अजोगत्तं पाउणित्ता ईसि हस्सपंचवद्वारच्चारणद्वाए असंख्येजसमद्यं अंतोमुहूत्तियं सेलेसि पडिवज्जह, पुर्वरइयगुणसेद्यं च णं कम्मं तीसे सेलेसिमद्वाए असंख्येज्जेहि गुणसेहीहि अणंते कदम्से खवयंते वेयणिज्जाउयणामगोए इच्छेते चत्तारि कम्मंसे जुगवं खवेह, खवित्ता ओरालियतेथ-कम्माहं सद्वाहि विष्पजहणर्हि विष्पजहुह, विष्पजहित्ता उज्जुसेहीपडिवज्जे अफुसमाणगई उद्धं एककसमएणं अविगाहेण गंता सागारोवउत्ते सिजभह ।

१५३—इस उपाय या उपक्रम द्वारा वे पहले मनोयोग का निरोध करते हैं । मनोयोग का निरोध कर वचन-योग का निरोध करते हैं । वचन-योग का निरोध कर काय-योग का निरोध करते हैं । काय-योग का निरोध कर सर्वथा योगनिरोध करते हैं—मन, वचन तथा शरीर से सम्बद्ध प्रवृत्तिमात्र को रोकते हैं । इस प्रकार योग-निरोध कर वे अयोगत्व—अयोगावस्था प्राप्त करते हैं । अयोगावस्था प्राप्तकर ईश्वरपृष्ठ पांच हङ्ग अक्षर—अ, इ, उ, औ, ल के उच्चारण के असंख्यात कालवर्ती अन्तर्मुहूर्त तक होने वाली शैलेशी अवस्था—मेहवत् अप्रकम्प दशा प्राप्त करते हैं । उस शैलेशी-काल में पूर्वरचित गुण-श्रेणी के रूप में रहे कर्मी को असंख्यात गुण-श्रेणियों में अनन्त कर्माशों के रूप में क्षीण करते हुए वेदनीय, आयुष्य, नाम तथा गोप्र—इन चारों कर्मों का युगपत्—एक साथ क्षय करते हैं । इन्हें क्षीण कर आदारिक, तंजस तथा कार्मण शरीर का पूर्ण रूप से परित्याग कर देते हैं । वैसा कर आजु श्रेणिप्रतिपन्न हो—आकाश-प्रदेशों की सीधी पंक्ति का अवलम्बन कर अस्पृश्यमान गति द्वारा एक समय में ऊर्ध्व-गमन कर—ऊँचे पहुँच साकारोपयोग—ज्ञानोपयोग में सिद्ध होते हैं ।

सिद्धों का स्वरूप

१५४—ते णं तथं सिद्धा भवन्ति सादीया, अपज्जवसिया, असरीरा, जीवघणा, दंसणनाणोब-
ज्ञा, निट्टियहा, निरेण्या, णिम्मला, वितिमिरा, विसुद्धा सासयमणागयद्वं कालं चिट्ठन्ति ।

१५४—वहाँ—लोकाश्र में सादि—मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदिसहित, अपर्य-
वसित—अन्तरहित, अशरीर—शरीरहित, जीवघन—घनरूप—सघन अवगाढ आत्मप्रदेश युक्त, ज्ञानरूप
साकार तथा दर्शन रूप अनाकार उपयोग सहित, निष्ठितार्थ—कृतकृत्य, सर्व प्रयोजन समाप्त किये
हुए, निरेजन—निश्चल, स्थिर या निष्प्रकम्प, नीरज—कर्मरूप रज से रहित—बध्यमान कर्मवर्जित,
निर्मल—मलरहित—पूर्वबद्ध कर्मों से विनिमुक्त, वितिमिर अज्ञानरूप अन्धकार रहित, विशुद्ध—
परम शुद्ध—कर्मक्षयनिष्पन्न आत्मशुद्धियुक्त सिद्ध भगवान् भविष्य में शाश्वतकाल पर्यन्त (अपने स्वरूप
में) संस्थित रहते हैं ।

१५५—से केण्टट्ठेण भंते ! एवं बुद्धचइ—ते णं तथं सिद्धा भवन्ति सादीया, अपज्जवसिया
जाव (असरीरा, जीवघणा, दंसणनाणोबउत्ता, निट्टियहा, निरेण्या, णिम्मला, वितिमिरा,
विसुद्धा सासयमणागयद्वं कालं) चिट्ठन्ति ।

गोयमा ! से जहाणामए बीयाणं अगिगदङ्गाणं पुणरवि अंकुरूपत्ती ण भवइ, एवामेव सिद्धाणं
कम्मबीए वड्हे पुणरवि जम्मुपत्ती न भवइ । से तेण्टट्ठेण गोयमा ! एवं बुद्धचइ—ते णं तथं सिद्धा
भवन्ति सादीया, अपज्जवसिया जाव । चिट्ठन्ति ।

१५५—भगवान् ! वहाँ वे सिद्ध होते हैं, सादि—मोक्ष-प्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदि-
सहित, अपर्यवसित—अन्तरहित, (अशरीर शरीर-रहित, जीवघन—घनरूप—अवगाढरूप आत्म-
प्रदेशयुक्त, दर्शनज्ञानोपयुक्त—दर्शन रूप अनाकार तथा ज्ञानरूप साकार उपयोग सहित, निष्ठितार्थ—
कृतकृत्य, सर्व प्रयोजन समाप्त किये हुए, निरेजन निश्चल, स्थिर या निष्प्रकम्प, नीरज—कर्मरूप
रज से रहित बध्यमान कर्मवर्जित, निर्मल—मलरहित पूर्वबद्ध कर्मों से विनिमुक्त, वितिमिर—
अज्ञानरूप अन्धकार से रहित, विशुद्ध—परम शुद्ध—कर्मक्षयनिष्पन्न आत्मशुद्धि युक्त) शाश्वतकाल-
पर्यन्त स्थित रहते हैं—इत्यादि आप किस आशय से करमाते हैं ?

गीतम ! जैसे अग्नि से दग्ध—सर्वेथा जले हुए बीजों की पुनः अंकुरों के रूप में उत्पत्ति नहीं
होती, उसी प्रकार कर्म-बीज दग्ध होने के कारण सिद्धों की भी फिर जन्मोत्पत्ति नहीं होती ।
गीतम ! मैं इसी आशय से यह कह रहा हूँ कि सिद्ध सादि, अपर्यवसित…… होते हैं ।

सिद्धमान के संहनन संस्थान आदि

१५६—जीवा णं भंते ! सिद्धभमाणा क्यरंमि संधयणे सिद्धभंति ?

गोयमा ! बहुरोपभणारायसंधयणे सिद्धभंति ।

१५६—भगवान् ! सिद्ध होते हुए जीव किस संहनन (देहिक अस्थि-बंध) में सिद्ध होते हैं ?

गीतम ! वे वज्ज-ऋषभ-ताराच संहनन में सिद्ध होते हैं ।

१५७—जीवा एं भंते ! सिद्धभमाणा क्यरंभि संठाणे सिद्धभंति ?

गोयमा ! छण्हं संठाणाणं अण्णयरे संठाणे सिद्धभंति ।

१५८—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव किस संस्थान (देहिक आकार) में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! छह संस्थानों^१ में से किसी भी संस्थान में सिद्ध हो सकते हैं ।

१५९—जीवा एं भंते ! सिद्धभमाणा क्यरंभि उच्चात्ते सिद्धभंति ?

गोयमा ! जहण्णेण सत्तरण्णीए, उष्कोसेणं पञ्चधणुसइए सिद्धभंति ।

१६०—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव कितनी अवगाहना—ऊँचाई में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! जघन्य—कम से कम सात हाथ तथा उत्कृष्ट—अधिक से अधिक पाँच सौ घनुष की अवगाहना में सिद्ध होते हैं ।

बिवेचन—सिद्ध होने वाले जीवों की प्रत्युत सूत्र में जो अवगाहना प्रलिपित की गई है, वह तीर्थकरों की अपेक्षा से समझना चाहिए । भगवान् महाबीर जघन्य सात हाथ की और भ० अष्टभ उत्कृष्ट पाँच सौ घनुष की अवगाहना से सिद्ध हुए । सामान्य केवलियों की अपेक्षा यह कथन नहीं है । क्योंकि कूमरपुत्र दो हाथ की अवगाहना से सिद्ध हुए । मरुदेवी की अवगाहना पाँच सौ घनुष से अधिक थी ।

१६१—जीवा एं भंते ! सिद्धभमाणा क्यरम्मि आजए सिद्धभंति ?

गोयमा ! जहण्णेण साइरेगटुकासाउए, उष्कोसेणं पुञ्चकोडियाचए सिद्धभंति ।

१६२—भगवन् ! सिद्ध होते हुए जीव कितने आयुष्य में सिद्ध होते हैं ?

गौतम ! कम से कम आठ वर्ष से कुछ अधिक आयुष्य में तथा अधिक से अधिक करोड़ पूर्व के आयुष्य में सिद्ध होते हैं । इसका तात्पर्य यह हुआ कि आठ वर्ष या उससे कम की आयु वाले और क्रोड पूर्व से अधिक की आयु के जीव सिद्ध नहीं होते हैं ।

सिद्धों का परिवास

१६३—अतिथि एं भंते ! इसीसे रयणप्पहाए पुङ्खवीए अहे सिद्धा परिवर्तति ?

जो हण्डठे सम्हृदे, एवं जाव अहे सत्तमाए ।

१६४—भगवन् ! क्या इस रत्नप्रभा पृथ्वी—प्रथम नारक भूमि के नीचे सिद्ध निवास करते हैं ?

नहीं, ऐसा अर्थ—अभिप्राय—ठीक नहीं है ।

रत्नप्रभा के साथ-साथ शक्तिराप्रभा, बालुकाप्रभा, पञ्चप्रभा, धूम्रप्रभा, तमःप्रभा तथा तमस्तमःप्रभा—पहली से सातवीं तक सभी नारकभूमियों के सम्बन्ध में ऐसा ही समझना चाहिए अर्थात् उनके नीचे सिद्ध निवास नहीं करते ।

१. —१. समचतुरल, २. त्याग्रोषपरिमण्डल, ३. सादि, ४. वामन, ५. कुञ्ज, ६. हुँड ।

१६१—अतिथि यं भंते ! सोहृष्मस्स कप्पस्स अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इण्टडे समट्ठे, एवं सव्वेति पुच्छा—ईसाणस्स, सणंकुमारस्स जाव (माहिंवस्स, बंभस्स, लंतगस्स, महासुक्कस्स, सहस्सारस्स, आणयस्स, पाणयस्स, आरणस्स) अच्चुयस्स गेवेजजिमाणाणं अणत्तरविमाणाणं ।

१६२—भगवन् ! क्या सिद्ध सौधर्म कल्प (देवलोक) के नीचे निवास करते हैं ?

नहीं ऐसा अभिप्राय ठीक नहीं है । ईशान, सनत्कुमार, (माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण एवं) अच्युत तक, ग्रंथेयक विमानों तथा अनुत्तर विमानों के सम्बन्ध में भी ऐसा ही समझना चाहिए । अर्थात् इनके नीचे भी सिद्ध निवास नहीं करते ।

१६३—अतिथि यं भंते ! ईसीपब्भाराए पुढ़वीए अहे सिद्धा परिवसंति ?

णो इट्ठे समट्ठे ।

१६४—भगवन् ! क्या सिद्ध ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी के नीचे निवास करते हैं ?

नहीं, ऐसा अभिप्राय ठीक नहीं है ।

१६५—से कहि खाद्य यं भंते ! सिद्धा परिवसंति ?

गोयमा ! इमीसे रथणपहाए पुढ़वोए बहुसमरमणिज्जाम्रो भूमिभागाम्रो उद्दं चंदिमसूरि-यगहगणणव्यत्तताराभवणाम्रो बहुइं जोयणाइं, बहुइं जोयणसयाइं, बहुइं जोयणसहस्साइं, बहुइं जोयणसयसहस्साइं, बहुओ जोयणकोडीओम्रो, बहुओ जोयणकोडाकोडीओम्रो उद्गुतरं उप्पहस्ता सोहृष्मीसाण-मणंकुमारमाहिंवबंभलंतगमहासुक्कसहस्सारआणयपाणयारणश्चुए तिष्ण य अद्वारे गेविजजिमाण-वाससए वीईवइत्ता विजय-वेजयंत-जयंत-अपराजिय-सव्वहुसिद्धस्स य महाविमाणस्स सव्वउवरिल्लाम्रो भूमियग्गाम्रो दुवालसजोयणाइं अवाहाए एत्थं यं ईसीपब्भारा णाम पुढ़वो पण्णस्ता, पण्णालीसं जोयण-सयसहस्साइं आयामविक्षम्भेण, एगा जोयणकोडी बायालीसं च सयसहस्साइं तीसं च सहस्साइं वीष्ण य अउणापणे जोयणस्सए किचि विसेसाहिए परिरएणं ।

१६६—भगवन् ! फिर सिद्ध कहाँ निवास करते हैं ?

गोतम ! इस रत्नप्रभा भूमि के बहुसम रमणीय भूभाग से ऊपर, चन्द्र, सूर्य, ग्रहगण, नक्षत्र तथा तारों के भवनों से बहुत योजन, बहुत मंकडों योजन, बहुत हजारों योजन, बहुत लाखों योजन बहुत करोड़ों योजन तथा बहुत कोडाकोड़ योजना से ऊर्ध्वर्तर—बहुत ऊपर जाने पर सौधर्म, ईशान, सनत्कुमार, माहेन्द्र, ब्रह्म, लान्तक, महाशुक्र, सहस्रार, आनत, प्राणत, आरण, अच्युत कल्प, तथा तीन सौ अठारह ग्रंथेयक विमान-आवास से भी ऊपर विजय, वैजयन्त, जयन्त, अपराजित और सर्वार्थसिद्ध महाविमान के सर्वोच्च शिखर के अग्रभाग से बारह योजन के अन्तर पर ऊपर ईषत्प्राग्भारा पृथ्वी कही गई है ।

वह पृथ्वी पंतालीस लाख योजन लम्बी तथा चौड़ी है । उसकी परिधि एक करोड़ बयालीस लाख तीस हजार दो सौ उनचास योजन से कुछ अधिक है ।

१६४—इसीपब्लाराए णं पुढबोए बहुमजभदेसभाए अटुजोथणिए खेते अटु जोयणाइं बाहलेण, तयाणेंतरं च णं भायाए भायाए परिहायमाणी परिहायमाणी सव्वेसु चरिमपेरतेसु भच्छ्यपत्ताओ तणुयतरा अंगुलस्स शसंखेजइभागं बाहलेण पण्णत्ता ।

१६५—ईषत्प्राभारा पृथ्वी अपने ठीक मध्य भाग में आठ योजन क्षेत्र में आठ योजन मोटी है । तत्पश्चात् मोटेपन में क्रमशः कुछ कुछ कम होती हुई राबसे अन्तिम किनारों पर मव्वी की पाँख से पतली है । उन अन्तिम किनारों की मोटाई अंगुल के असंख्यातवे भाग के तुल्य है ।

१६५—ईसीपब्लारा पृथ्वी के बारह नाम बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—
१. ईषत्, २. ईषत्प्राभारा, ३. लनु, ४. तनुतनु, ५. सिद्धि, ६. सिद्धालय, ७. मुक्ति,
८. मुक्तालय, ९. लोकाग्र, १०. लोकाग्रस्तुपिका, ११. लोकाग्रपतिबोधना, १२. सर्वग्राणभूतजीव-
सत्त्वसुखावहा ।

१६५—ईषत्प्राभारा पृथ्वी के बारह नाम बतलाये गये हैं, जो इस प्रकार हैं—

१. ईषत्, २. ईषत्प्राभारा, ३. लनु, ४. तनुतनु, ५. सिद्धि, ६. सिद्धालय, ७. मुक्ति,
८. मुक्तालय, ९. लोकाग्र, १०. लोकाग्रस्तुपिका, ११. लोकाग्रपतिबोधना, १२. सर्वग्राणभूतजीव-
सत्त्वसुखावहा ।

१६६—ईसीपब्लारा णं पुढबो सेया आयंसतलविमल-सोलिलय-मुणाल-दग्धरथ-तुसार-गोवखोर-
हारवण्णा, जत्ताणयछत्तसंठाणसंठिया, सव्वज्जुणसुवण्णयमई, आदथा, सण्हा, लण्हा, घटा, घटा, णीरया,
णिमला, णिप्पंका, णिकंकडच्छाया, समरीचिया, सुप्पभा, पासादीया, दरिसणिज्जा, अभिरूपा,
पहिरूथा ।

१६६—ईषत्प्राभारा पृथ्वी दर्पणतल के जैसी निर्मल, सोलिलय पुष्प, कमलनाल, जलकण,
तुषार, गाय के दूध तथा हार के समान श्वेत वर्णयुक्त है । वह उलटे छब्ब जैसे आकार में अवस्थित
है—उलटे किये हुए छब्ब जैसा उसका आकार है । वह अर्जुन स्वर्ण श्वेत स्वर्ण—अत्यधिक मूल्य युक्त
श्वेत धातुविशेष जैसी दृति लिए हुए है । वह आकाश या सफटिक—विल्लौर^१ जैसी स्वच्छ, श्वेत
कोमल परमाणु-स्कन्धों से निष्पञ्च होने के कारण कोमल तन्तुओं से बुने हुए वस्त्र के समान
मुलायम, लष्ट—सुन्दर, ललित आकृतियुक्त, घृष्ट—लेज शाण पर विसे हुए पत्थर की तरह मानो
तराशी हुई, मृष्ट सुकोमल शाण पर विस कर मानो पत्थर की तरह संवारी हुई, नीरज—रज-
रहित, निर्मल—मलरहित, निषंक शोभायुक्त, समरीक्षिका—गुन्दर किरणों से—प्रभा से युक्त,
प्रासादीय—चित्त को प्रसन्न करनेवाली, दर्शनीय—देखने योग्य, अभिरूप—मनोज—मन को अपने में
रमा लेने वाली तथा प्रतिरूप मन में बस जानेवाली है ।

१६७—ईसीपब्लाराए णं पुढबोए सेयाए जोयणंमि लोगते । तस्स जोयणस्स जे से उवरिल्ले
गाउए, तस्स णं गाउयस्स जे से उवरिल्ले छब्बागे, तत्थ णं सिद्धा भगवंतो सादीया, अपजज्वसिया

अणीगजाहमरणाणिवियणं संसारकलंकलंभावपुणवभवगवभवासवसहीपवंचमहकंता सासवभणा-
यवद्वं चिद्धन्ति ।

१६७—इष्टत्रागभारा पृथ्वी के तल से उत्सोधांगुल (माप) द्वारा एक योजन पर लोकान्त है । उस योजन के ऊपर के कोस के छठे भाग पर सिद्ध भगवान्, जो सादि—मोक्षप्राप्ति के काल की अपेक्षा से आदियुक्त तथा आपर्यवसित—अनन्त हैं, जो जन्म, बुढ़ापा, मृत्यु आदि अनेक योनियों की देवता, संसार के भीषण दुःख, पुनः पुनः होनेवाले गर्भवास रूप प्रपञ्च—बार बार गर्भ में आने के संकट अतिक्रान्त कर चुके हैं, लौघ चुके हैं, अपने शाश्वत—नित्य, भविष्य में सदा सुस्थिर स्वरूप में संस्थित रहते हैं ।^१

विवेचन—जैन साहित्य में वर्णित प्राचीन माप में अंगुल व्यावहारिक दृष्टि से सबसे छोटी इकाई है । वह तीन प्रकार का माना गया है—आत्मांगुल, उत्सेधांगुल तथा प्रमाणांगुल । वे इस प्रकार हैं—

आत्मांगुल—विभिन्न कालों के मनुष्यों का अवगाहन (अवगाहना)—आकृति-परिमाण चिन्ह-भिन्न होता है । अतः अंगुल का परिमाण भी परिवर्तित होता रहता है । अपने समय के मनुष्यों के अंगुल के माप के अनुसार जो परिमाण होता है, उसे आत्मांगुल कहा जाता है । जिस काल में जो मनुष्य होते हैं, उस काल के नगर, वन, उपवन, सरोवर, कूप, वापी, प्रासाद आदि उन्हीं के अंगुल के परिमाण से—आत्मांगुल से नापे जाते हैं ।

उत्सेधांगुल—आठ यवमध्य का एक उत्सेधांगुल माना गया है । जारक, मनुष्य, देव आदि की अवगाहना का माप उत्सेधांगुल द्वारा होता है ।

प्रमाणांगुल—उत्सेधांगुल से हजार गुना बड़ा एक प्रमाणांगुल होता है । रत्नप्रभा आदि नारक भूमियाँ, भवनपति देवों के भवन, कल्प (देवलोक—स्वर्म), वर्षधर पर्वत, द्वीप आदि के विस्तार—लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, गहराई, परिधि आदि शाश्वत वस्तुओं का माप प्रमाणांगुल से होता है ।

अनुयोगद्वार सूत्र में इसका विस्तार से वर्णन है ।^२

सिद्ध : सारसंक्षेप

१६८—कहि पडिह्या सिद्धा, कहि सिद्धा पडिह्या ? ।

कहि बोंदि चहला ण, कत्थ गंतूण सिड्धही ? ॥१॥

१६९—सिद्ध किस स्थान पर प्रतिहत हैं—प्रतिरुद्ध हैं—आगे जाने से रुक जाते हैं ? वे कहीं प्रतिष्ठित हैं—अवस्थित हैं ? वे यहाँ—इस लोक में देह को त्याग कर कहाँ जाकर सिद्ध होते हैं ?

१७०—श्रावोगे पडिह्या सिद्धा, लोयगे य पडिह्या ।

इह बोंदि चहत्ता ण, कत्थ गंतूण सिड्धही ॥२॥

१. 'जोयर्णमि लोगते ति' इह योजनमृत्सेधांगुलयोजनमवसेयम् ।

श्रौपातिकसूत्र वृत्ति, पत्र ११५

२. अनुयोगद्वार सूत्र, पृष्ठ १९२-१९६

१६९—सिद्ध लोक के अग्रभाग में प्रतिष्ठित हैं अतः अलोक में जाने में प्रतिहत हैं—अलोक में नहीं जाते। इस मर्त्यलोक में ही देह का त्याग कर वे सिद्ध-स्थान में जाकर सिद्ध होते हैं।

१७०—अं संठाणं तु इहं भवं चयंतस्स चरिमसमयमि ।
आसी य पएसधणं, तं संठाणं तर्हि तस्स ॥३॥

१७०—देह का त्याग करते समय अन्तिम समय में जो प्रदेशधन आकार—नाक, कान, उदर आदि रिक्त या पोले अंगों की रिक्तता या पोलेशन है विलय के अनीशुत आकार होता है, उदी आकार वही—सिद्धस्थान में रहता है।

१७१—बीहं वा हसं वा, जं चरिमस्वे हृषेऽज संठाणं ।
तत्तो तिभाग्नीणं, सिद्धाणेगाहणा भणिया ॥४॥

१७१—अन्तिम भव में दीर्घ या हस्व—लम्बा-ठिगना, बड़ा-छोटा जैसा भी आकार होता है, उससे तिहाई भाग कम में सिद्धों की अवगाहना—अवस्थिति या व्याप्ति होती है।

१७२—तिण्ण सथा तेत्तीसा, धणुत्तिभागो य होइ ओद्धुव्वो ।
एसा खलु सिद्धाणं, उवकोसोगाहणा भणिया ॥५॥

१७२—सिद्धों की उत्कृष्ट अवगाहना तीन सौ तौतीस धनुष तथा तिहाई धनुष (बत्तीस अंगुल) होती है, सर्वज्ञों ने ऐसा बतलाया है।

जिनकी देह पाँच सौ धनुष-विस्तारमय होती है, वह उनकी अवगाहना है।

१७३—चत्तारि य रथणीशो, रथणितिभागूणिया बोद्धुव्वा ।
एसा खलु सिद्धाणं, भिभलभश्चोगाहणा भणिया ॥६॥

१७३—सिद्धों को मध्यम अवगाहना चार हाथ तथा तिहाई भाग कम एक हाथ (सोलह अंगुल) होती है, ऐसा सर्वज्ञों ने निरूपित किया है।

सिद्धों की मध्यम अवगाहना का निरूपण उन मनुष्यों की अपेक्षा से है, जिनकी देह की अवगाहना सात हाथ-परिमाण होती है।

१७४—एकका य होइ रथणी, साहीया अंगुलाइ ग्रहु भवे ।
एस खलु सिद्धाणं, जहणणश्चोगाहणा भणिया ॥७॥

१७४—सिद्धों की जघन्य—न्यूनतम अवगाहना एक हाथ तथा आठ अंगुल होती है, ऐसा सर्वज्ञों द्वारा भाषित है।

यह अवगाहना दो हाथ की अवगाहना युक्त परिमाण-विस्तृत देह वाले कूमपुत्र आदि की अपेक्षा से है।

१७५—ओगाहणाए सिद्धा, भवत्तिभागेण होति परिहीणा ।
संठाणभणित्यत्वं, जरामरणविष्पमुक्ताणं ॥८॥

१७५—सिद्ध अन्तिम भव की अवगाहना से तिहाई भाग कम अवगाहना युक्त होते हैं। जो वार्षिक और मृत्यु से विप्रमुक्त हो गये हैं—सर्वथा छूट गये हैं, उनका संस्थान—आकार किसी भी लौकिक आकार से नहीं मिलता।

१७६—अथ ए एगो सिद्धो, तत्थ अणंता भवत्यविमुक्ता ।

अण्णोण्णसमोगाढा, पुट्टा सब्बे य लोगते ॥१६॥

१७६—जहाँ एक सिद्ध है, वहाँ भव-क्षय—जन्म-मरण रूप सांसारिक आवागमन के नष्ट हो जाते से मुक्त हुए अनन्त सिद्ध हैं, जो परस्पर अवगाढ़—एक दूसरे में मिले हुए हैं। वे सब लोकान्त का—लोकाय भाग का संस्पर्श किये हुए हैं।

१७७—फुसइ अणंते सिद्धे, सब्बपएसेहि णियमसो सिद्धो ।

ते वि असंखेज्जगुणा, देसपएसेहि जे पुट्टा ॥१०॥

१७७—(एक-एक) सिद्ध समस्त आत्म-प्रदेशों द्वारा अनन्त सिद्धों का सम्पूर्ण रूप में संस्पर्श किये हुए हैं। यों एक सिद्ध की अवगाहना में अनन्त सिद्धों की अवगाहना है—एक में अनन्त अवगाढ़ हो जाते हैं और उनसे भी असंख्यात्मगुण सिद्ध ऐसे हैं जो देशों और प्रदेशों से—कतिपय भागों से—एक-दूसरे में अवगाढ़ हैं।

तात्पर्य यह है कि अनन्त सिद्ध तो ऐसे हैं जो पूरी तरह एक-दूसरे में समाये हुए हैं और उनसे भी असंख्यात्मगुणित सिद्ध ऐसे हैं जो देश-प्रदेश से—कतिपय अंशों में, एक-दूसरे में समाये हुए हैं।

अमूर्त होने के कारण उनकी एक-दूसरे में अवगाहना होने में किसी प्रकार की बाधा उत्पन्न नहीं होती।

१७८—असरीरा जीवधना, उवजत्ता दंसणे य जाणे य ।

सापारमणागारं, लक्षणमेयं तु सिद्धाणं ॥११॥

१७८—सिद्ध शरीर रहित, जीवधन—सधन अवगाह रूप आत्म-प्रदेशों से युक्त तथा दर्शनोपयोग एवं ज्ञानोपयोग में उपयुक्त हैं। यों साकार—विगेष उपयोग—ज्ञान तथा अनाकार—सामान्य उपयोग—दर्शन—चेतना सिद्धों का लक्षण है।

१७९—केवलज्ञानुवर्त्ता, जाणती सब्बभावगुणभावे ।

पासंति सब्बओ छलु, केवलदिद्वीहिणंताहि ॥१२॥

१७९—वे केवलज्ञानोपयोग द्वारा सभी पदार्थों के गुणों एवं पर्यायों को जानते हैं तथा अनन्त केवलदर्शन द्वारा सर्वतः—सब और से—समस्त भावों को देखते हैं।

१८०—ए वि अतिथि माणुसाणं, तं सोक्ष्मं ण वि य सब्बदेवाणं ।

अं सिद्धाणं सोक्ष्मं, अववाहाहं उवगयाणं ॥१३॥

१८०—सिद्धों को जो अव्याबाध—सर्वथा विघ्न आधारहित, शाश्वते सुख प्राप्त है, वह न मनुष्यों को प्राप्त है और न समय देवताओं को ही ।

१८१—अं देवाणं सोऽक्षं, सब्दद्वा पिण्डिं अणंतगुणं ।
ण य पावह मुत्तिभुहं, णंताहि वग्गवग्गृहि ॥१४॥

१८२—तीन काल गुणित अनन्त देव-सुख, यदि अनन्त बार वर्गवर्गित किया जाए तो भी वह मोक्ष-सुख के समान नहीं हो सकता ।

विवेचन—अतीत, वर्तमान तथा भूत—तीनों कालों से गुणित देवों का सुख, कल्पना करें, यदि लोक तथा अलोक के अनन्त प्रदेशों पर स्थापित किया जाए, सारे प्रदेश उससे भर जाएं तो वह अनन्त देव-सुख से संजित होता है ।

दो समान संख्याओं का परस्पर गुणन करने से जो गुणनफल प्राप्त होता है, उसे वर्ग कहा जाता है । उदाहरणार्थं पाँच का पाँच से गुणन करने पर गुणनफल पच्चीस आता है । पच्चीस पाँच का वर्ग है । वर्ग का वर्ग से गुणन करने पर जो गुणनफल आता है, उसे वर्गवर्गित कहा जाता है । जैसे पच्चीस का पच्चीस से गुणन करने पर छः सौ पच्चीस गुणनफल आता है । यह पाँच का वर्ग-वर्गित है ।

देवों के उक्त अनन्त सुख को यदि अनन्त बार वर्गवर्गित किया जाए तो भी वह मुक्ति-सुख के समान नहीं हो सकता ।

१८२—सिद्धस्स सुहो रासी, सब्दद्वा पिण्डिश्चो जह हवेज्जा ।
सोणंतवग्गभहश्चो, सब्दागासे ण माएज्जा ॥१५॥

१८३—एक सिद्ध के सुख को तीनों कालों से गुणित करने पर जो सुख-राशि निष्पन्न हो, उसे यदि अन्त वर्ग से विभाजित किया जाए, जो सुख-राशि भागफल के रूप में प्राप्त हो, वह भी इतनी अधिक होती है कि सम्पूर्ण आकाश में समाहित नहीं हो सकती ।

१८३—जह पास कोइ मिच्छो, नगरगुणे बहुविहे वियाणंतो ।
न चएइ परिकहेऽ, उपमाए तहि असंतीए ॥१६॥

१८३—जैसे कोई म्लेच्छ—असभ्य बनवासी पुरुष नगर के धनेकविधि गुणों को जानता हुआ भी बन में कैसी कोई उपमा नहीं पाता हुआ उस (नगर) के गुणों का वर्णन नहीं कर सकता ।

१८४—इय सिद्धाणं सोऽक्षं, अणोवमं णतिय तस्स ग्रोवम्मं ।
किञ्चि विसेसेणेतो, अवम्ममिणं सुणह बोच्छं ॥१७॥

१८४—उसी प्रकार सिद्धों का सुख अनुपम है । उसकी कोई उपमा नहीं है । फिर भी (सामान्य जनों के बोध हेतु) विशेष रूप से उपमा द्वारा उसे समझाया जा रहा है, मुनें ।

१८५-८६—जहु सब्बकामगुणियं, पुरिसो भोल्लू भोयणं कोई ।
 तण्हाछुहाविमुक्को, अच्छेज्ज जहा अमियतिलो ॥१८॥
 हय सब्बकालतिला, अतुलं निवाणमुवगया सिद्धा ।
 सासव्यमध्याबाहं, चिट्ठुति सुही सुहं पत्ता ॥१९॥

१८५-८६—जैसे कोई पुरुष अपने द्वारा चाहे गये सभी गुणों—विशेषताओं से युक्त भोजन कर, भूख-प्यास से मुक्त होकर अपरिमित तृप्ति का अनुभव करता है, उसी प्रकार सर्वकालतृप्ति—सब समय परम तृप्ति युक्त, अनुपम शान्तियुक्त सिद्ध शाश्वत—नित्य तथा अव्याबाध—सर्वथा विघ्न-बाधारहित परम सुख में निमग्न रहते हैं ।

१८७—सिद्धति य बुद्धति य, पारगयति य परंपरगयति ।
 उम्मुक्ककम्मकवया, अजरा अमरा संसारा य ॥२०॥

१८७—वे सिद्ध हैं—उन्होंने अपने सारे प्रयोजन साध लिये हैं । वे बुद्ध हैं—केवलज्ञान द्वारा समस्त विश्व का बोध उन्हें स्वायत्त है । वे पारगत हैं—संसार-सागर को पार कर चुके हैं । वे परंपरागत हैं—परंपरा से प्राप्त मोक्षोपायों का अवलम्बन कर वे संसार-सागर के पार पहुँचे हुए हैं । वे उन्मुक्त-कर्मकवच हैं—जो कर्मों का बद्धतर उन पर लगा था, उससे वे छूटे हुए हैं । वे अजर हैं—वृद्धावस्था से रहित हैं । अमर हैं—मृत्युरहित हैं—तथा वे असंग हैं—सब प्रकार की आसक्तियों से तथा समस्त पर-पदार्थों के संसर्ग से रहित हैं ।

१८८—णित्यश्णसव्यकुवस्ता, जाइजरामरणबंधणविमुक्का ।
 अव्याबाहं सुख्खं, अणुहोति सासर्य सिद्धा ॥२१॥

१८८—सिद्ध सब दुःखों को पार कर चुके हैं जन्म, बुढ़ापा तथा मृत्यु के बन्धन से मुक्त हैं । निर्बाधि, शाश्वत सुख का अनुभव करते हैं ।

१८९—अतुलसुहसागरगया, अव्याबाहं अणोवमं पत्ता ।
 सव्यमणागयमद्दं, चिट्ठुति सुही सुहं पत्ता ॥२२॥

१८९—अनुपम सुख-सागर में लौन, निर्बाधि, अनुपम मुक्तावस्था प्राप्त किये हुए सिद्ध समग्र अनागत काल में—भविष्य में सदा प्राप्तसुख, सुखयुक्त अवस्थित रहते हैं ।

‘ठाण’ और ‘कुल’ संबंधी विशेष विचार

गण

भगवान् महावीर का श्रमण-संघ बहुत विशाल था। अनुशासन, व्यवस्था, संगठन, संचालन आदि की दृष्टि से उसकी अपनी अप्रतिम विशेषताएँ थीं। फलतः उत्तरवर्ती समय में भी वह समीक्षीतया चलता रहा, आज भी एक सीमा तक चल रहा है।

भगवान् महावीर के नौ गण थे, जिनका स्थानांग सूत्र में उल्लेख^१ है—

- | | |
|-----------------|-------------------|
| १. गोदास गण, | २. उत्तरबलिसह गण, |
| ३. उद्देह गण, | ४. चारण गण, |
| ५. उद्वाइय गण, | ६. विस्सवाइय गण, |
| ७. कामद्विक गण, | ८. मानव गण, |
| ९. कोटिक गण। | |

इन गणों की स्थापना का मुख्य आधार आगम-वाचन। एवं धर्मशिक्षानुपालन की व्यवस्था था। अध्ययन द्वारा ज्ञानार्जन श्रमण-जीवन का अपरिहार्य अंग है। जिन श्रमणों के अध्ययन की व्यवस्था एक साथ रहती थी, वे एक गण में समाविष्ट थे। अध्ययन के अतिरिक्त किया अथवा अन्यान्य व्यवस्थाओं तथा कार्यों में भी उनका साहचर्य तथा ऐक्य था।

गणस्थ श्रमणों के अध्यापन तथा देखभाल का कार्य या उत्तरदायित्व गणधरों पर था।

भगवान् महावीर के भ्यारह गणधर थे^२—

१. इन्द्रभूति, २. अग्निभूति, ३. वायुभूति, ४. व्यक्त, ५. सुधर्मा, ६. मण्डत, ७. मौर्यपुत्र
८. अकम्पित, ९. अचलभ्राता, १०. मेतार्य, ११. प्रभास।

हन्द्रभूति भगवान् महावीर के प्रथम व प्रमुख गणधर थे। वे गौतम गोत्रीय थे, इसलिए आगम-वाङ्मय और जैन परंपरा में वे गौतम के नाम से प्रसिद्ध हैं। प्रथम से सप्तम तक के गणधरों के अनुशासन में उनके अपने-अपने गण थे। अष्टम तथा नवम गणधर का सम्मिलित रूप में एक गण

१. समणस्स णं भगवश्चो महावीरस्स णव गणा हुत्या, तं जहा—गोदासगणे, उत्तरबलिसहगणे, उद्देहगणे, चारणगणे, उद्वाइयगणे, विस्सवाइयगणे, कामद्विक्यगणे, मानवगणे, कोटियगणे।

—ठाण ९. २९, पृष्ठ ८५६

२. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ४७३

था। इसी प्रकार दसवें तथा म्यारहवें गणधर का भी एक गण था।^१ कहा जाता है कि श्रमण-संख्या कम होने के कारण इन दो-दो गणधरों के गणों को मिलाकर एक-एक किया गया था।

अध्यापन, कियानुष्ठान की सुविधा रहे, इस हेतु गण पृथक्-पृथक् थे। वस्तुतः उनमें कोई मौलिक भेद नहीं था। वाचना का भी केवल शाब्दिक भेद था, अर्थ की दृष्टि से वे अभिन्न थीं। नयोंकि भगवान् महाबीर ने अर्थरूप में जो तत्त्व-निरूपण किया, भिन्न-भिन्न गणधरों ने अपने-अपने शब्दों में उसका संकलन या संश्लेषण किया, जिसे वे अपने-अपने गण के श्रमण-समुदाय को सिखाते थे। अतएव गणविशेष की व्यवस्था करनेवाले तथा उसे वाचना देनेवाले गणधर का निर्वाण हो जाने पर उस गण का पृथक् अस्तित्व नहीं रहता। निर्वाणोन्मुख गणधर अपने निर्वाण से पूर्व दीर्घजीवी गणधर सुधर्मी के गण में उसका विलय कर देते थे।

भगवान् महाबीर के संघ की यह परंपरा थी कि सभी गणों के श्रमण, जो भिन्न-भिन्न गणधरों के निर्देशन तथा अनुशासन में थे, प्रमुख पट्टधर के शिष्य माने जाते थे। इस परंपरा के अनुसार सभी श्रमण भगवान् महाबीर के निर्वाण के अनन्तर सहजतया उनके उत्तराधिकारी सुधर्मी के शिष्य माने जाने लगे। यह परम्परा आगे भी चलती रही।

यह बड़ी स्वस्थ परम्परा थी। जब तक रही, संघ बहुत सबल एवं सुव्यवस्थित रहा। वस्तुतः धर्म-संघ का मुख्य आधार श्रमण-श्रमणी-समुदाय ही है। उनके सम्बन्ध में जितनी अधिक जागरूकता और सावधानी बरती जाती है, संघ उतना ही दृढ़ और स्थिर बनता है।

भगवान् महाबीर के समय से चलती आई गुरु-शिष्य-परम्परा का आचार्य भद्रबाहु तक निर्वाह होता रहा। उनके बाद इस क्रम ने एक नया मोड़ लिया। तब तक श्रमणों की संख्या बहुत बढ़ चुकी थी। भगवान् महाबीर के समय व्यवस्था की दृष्टि से गणों के रूप में संघ का जो विभाजन था, वह यथावत् रूप में नहीं चल पाया। सारे संघ का प्रमुख नेतृत्व एकमात्र पट्टधर पर होता था, वह भी आर्य जम्बू तक तो धूल सका, आगे सम्भव नहीं रहा। फलतः उत्तरवर्ती काल में संघ में से समय-समय पर भिन्न-भिन्न नामों से पृथक्-पृथक् समुदाय निकले, जो 'गण' संज्ञा से अभिहित हुए।

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि भगवान् महाबीर के समय में 'गण' शब्द जिस अर्थ में प्रयुक्त था, आगे चलकर उसका अर्थ परिवर्तित हो गया। भगवान् महाबीर के आदेशानुवर्ती गण संघ के निरपेक्ष आग नहीं थे, परस्पर सापेक्ष थे। आचार्य भद्रबाहु के अनन्तर जो गण अस्तित्व में आये, वे एक दूसरे से निरपेक्ष हो गये। परिणाम यह हुआ, दीक्षित श्रमणों के शिष्यत्व का ऐक्य नहीं रहा। जिस समुदाय में वे दीक्षित होते, उस समुदाय या गण के प्रधान के शिष्य कहे जाते।

भगवान् महाबीर के नौ गणों के स्थानांग सूत्र में जो नाम आये हैं, उनमें से एक के अतिरिक्त ठीक वे ही नाम आचार्य भद्रबाहु के पश्चात् भिन्न भिन्न समय में विभिन्न आचार्यों के नाम से निकलने वाले आठ गणों के मिलते हैं, जो कल्प-स्थविरावली के निम्नांकित उद्धरण से स्पष्ट हैं—

"काश्यपगोत्रीय स्थविर गोदास से गोदास-गण निकला।

स्थविर उत्तरबलिस्सह से उत्तरबलिस्सह गण निकला।

१. जैनदर्शन के मौलिक तत्त्व, पहला भाग, पृष्ठ ३९।

काश्यपगोत्रीय स्थविर आर्यरोहण से उद्देह-गण निकला ।
 हारीतगोत्रीय स्थविर श्रीगुप्त से चारणगण निकला ।
 भारद्वाजगोत्रीय स्थविर भद्रयश से उद्वाइय-गण निकला ।
 कुंडिलगोत्रीय स्थविर कामद्वि से वेसवाडिय (विस्ववाइय) गण निकला ।
 विशिष्टगोत्रीय काकन्दीय स्थविर ऋषिगुप्त से मानव-गण निकला ।
 कोटिककाकन्दीय व्याघ्रापत्यगोत्रीय स्थविर सुस्थित-सुप्रतिकुद्ध से कोटिक-गण निकला ॥१॥

भगवान् महाबीर के नी गणों में सातवें का नाम कामद्विक (कामदिव्य) था । उसे छोड़ देने पर अवशेष नाम ज्यों के त्यों हैं । योड़ा बहुत कहीं कहीं वर्णात्मक भेद दिखाई देता है, वह केवल भाषात्मक है । अपने समय की जीवित—जनन्प्रचलित भाषा होने के कारण प्राकृत की ये सामान्य प्रवृत्तियाँ हैं ।

प्रश्न उपस्थित होता है, भगवान् महाबीर के गणों का गोदासगण, बलिस्सहगण आदि के रूप में जो नामकरण हुआ, उसका आधार क्या था ? यदि व्यक्तिविशेष के नाम के आधार पर गणों के नाम होते तो क्या यह उचित नहीं होता कि उन-उन गणों के व्यवस्थापकों—गणधरों के नाम पर बंसा होता ? गणस्थित किन्हीं विशिष्ट साधुओं के नामों के आधार पर ये नाम दिये जाते तो उन विशिष्ट साधुओं के नाम आगम-वाङ्मय में, जिसका ग्रथन गणधरों द्वारा हुआ, अवश्य मिलते । पर ऐसा नहीं है । समझ में नहीं आता, फिर ऐसा क्यों हुआ । विद्वानों के लिए यह चित्तन का विषय है ।

ऐसी भी सम्भावना हो सकती है कि उत्तरवर्ती समय में भिन्न-भिन्न श्रमण-स्थविरों के नाम से जो आठ समुदाय या गण चले, उन (गणों) के नाम भगवान् महाबीर के गणों के साथ भी जोड़ दिये गये हों ।

एक गण जो बाकी रहता है, उसका नामकरण स्यात् आर्य सुहस्ती के बारह अतेवासियों में से चौथे कामिद्वि (कामद्वि) नामक श्रमण-श्रेष्ठ के नाम पर कर दिया गया हो, जो अपने समय के सुविष्यात आचार्य थे, जिनसे वेसवाडिय (विस्ववाइय) नामक गण निकला था ।

१. थेरेहितो णं गोदासेहितो कासवगोत्तेहितो गोदासगणं नामं गणं निर्गण ।
 थेरेहितो णं उत्तरबलिस्सहेहितो तत्थं णं उत्तरवलिस्सहगणं नामं गणं निर्गण ।
 थेरेहितो णं शज्जरोहणेहितो कासवगोत्तेहितो तत्थं णं उद्देहगणं नामं गणं निर्गण ।
 थेरेहितो णं सिरिगुत्तेहितो हारिय भोत्तेहितो एत्थं णं चारणगणं नामं गणं निर्गण ।
 थेरेहितो भद्रजसेहितो भारद्वायगोत्तेहितो एत्थं णं उद्वाडियगणं निर्गण ।
 थेरेहितो णं कामिद्विहितो कुंडिलसगोत्तेहितो एत्थं णं वेसवाडियगणं नामं गणं निर्गण ।
 थेरेहितो णं इसिगुत्तेहितो णं कार्कदण्डेहितो वासिद्विसगोत्तेहितो तत्थं णं माणवगणं नामं गणं निर्गण ।
 थेरेहितो णं सुट्टिय-सुप्रदिकुद्धेहितो कोटियकाकदण्डेहितो वग्धावच्चसगोत्तेहितो एत्थं णं कोटियगणं नामं गणं निर्गण ।

स्पष्टतया कुछ भी अनुमान नहीं लगाया जा सकता, ऐसा (यह सब) क्यों किया गया। हो सकता है, उत्तरवर्ती गणों की प्रतिष्ठापनता बढ़ाने के लिए यह स्थापित करने का प्रयत्न रहा हो कि भगवान् महावीर के गण भी इन्हीं नामों से अभिहित होते थे।

एक सम्भावना और की जा सकती है, यद्यपि है तो बहुत दूरवर्ती, स्यात् भगवान् महावीर के नी गणों में से प्रत्येक में एक एक ऐसे उत्कृष्ट साधना-निरत, महातपा, परमज्ञानी, ध्यानयोगी साधक रहे हों, जो जन-सम्पर्क से दूर रहने के नाते बिलकुल प्रसिद्धि में नहीं आये, पर जिनकी उच्चता एवं पवित्रता असाधारण तथा स्पृहणीय थी। उनके प्रति श्रद्धा, आदर और बहुमान दिखाने के लिए उन गणों के नामकरण, जिन-जिन में वे थे, उनके नामों से कर दिये जाये हों।

उत्तरवर्ती समय में संयोग कुछ ऐसे बने हों कि उन्हीं नामों के आचार्य हुए हों, जिनमें अपने नामों के साथ प्राकृत गणों के नामों का साम्य देखकर अपने-अपने नाम से नये गण प्रवर्तित करने का उत्साह जागा हो।

ये सब मात्र कल्पनाएँ और सम्भावनाएँ हैं। इस पहलू पर और गहराई से चिन्तन एवं अन्वेषण करना अपेक्षित है।

तिलोयपण्णति में भी गण का उल्लेख हुआ है। वहाँ यहाँ लयः है—

"सभी तीर्थकरों में से प्रत्येक के पूर्वधर, शिक्षक, अवधिज्ञानी, केवली, वैक्रियलब्धिधर, विपुलमति और वादी शमणों के साथ गण होते हैं।"^१

भगवान् महावीर के सात गणों का वर्णन करते हुए तिलोयपण्णतिकार ने लिखा है—

"भगवान् महावीर के सात गणों में उन-उन विशेषताओं से युक्त शमणों की संख्याएँ इस प्रकार थीं— पूर्वधर तीन सौ, शिक्षक नौ हजार नौ सौ, अवधिज्ञानी एक हजार तीन सौ, केवली सात सौ, वैक्रियलब्धिधर नौ सौ, विपुलमति पाँच सौ तथा वादी नार सौ।"^२

प्रस्तुत प्रकरण पर विचार करने पर यह स्पष्ट प्रतीत होता है कि यद्यपि 'गण' शब्द का प्रयोग यहाँ अवश्य हुआ है पर वह संगठनात्मक इकाई का द्योतक नहीं है। इसका केवल इतना-सा आशय है कि भगवान् महावीर के शासन में अमुक-अमुक वैशिष्ट्य-सम्पन्न शमणों के अमुक-अमुक संख्या के समुदाय या समूह थे अर्थात् उनके संघ में इन-इन विशेषताओं के इतने अमण थे।

केवलियों, पूर्वधरों तथा अवधिज्ञानियों के और इसी प्रकार अन्य विशिष्ट गुणशारी शमणों के अलग-अलग गण होते, यह कैसे सम्भव था। यदि ऐसा होता तो उदाहरणार्थं सभी केवली एक

१. पुर्वधर सिक्खकों ही, केवलिवेकुब्बी विउलमदिवादी।

पत्तकं सत्तगणा, सब्बाणं तित्थकत्ताणं ॥ —तिलोयपण्णति १०९८

२. तिसयाइं पुर्वधरा, णबणउदिसयाइं होति सिक्खगणा।

तेरससयाणि औही, सत्तसयाइं पि केवलिणो ॥

इगिसयरहिदसहस्रं, वेकुब्बी पणसयाणी विउलमदी।

चत्तारि सया वादी, गणसंखा वड्डमाणजिणे ॥ —तिलोयपण्णति ११३०-६१

ही गण में होते। वहाँ किसी तरह की तरतमता नहीं रहती। न शिक्षक-शैक्ष भाव रहता और न व्यवस्थात्मक संगति ही। यहाँ गण शब्द मात्र एक सामूहिक संख्या व्यक्त करने के लिए व्यवहृत हुआ है।

श्वेताम्बर-साहित्य में भी इस प्रकार के वैशिष्ट्य-सम्पन्न शमणों का उल्लेख हुआ है, जहाँ भगवान् महावीर के संघ में केवली सात सौ, मनःपर्यवज्ञानी पाँच सौ, अवधिज्ञानी तेरह सौ, चतुर्दश-पूर्वधर तीन सौ, वादि चार सौ, वैक्रियलब्धिधारी सात सौ तथा अनुत्तरोपपातिक मुनि आठ सौ बतलाये गये हैं।^१

केवली, अवधिज्ञानी, पूर्वधर और वादी—दोनों परम्पराओं में इनकी एक समान संख्या मानी गई है। वैक्रियलब्धिधर की संख्या में दो सौ का अन्तर है। तिलोयपण्णति में उनकी संख्या दो सौ अधिक मानी गई है।

उक्त विवेचन से बहुत साफ है कि तिलोयपण्णतिकार ने गण का प्रयोग सामान्यतः प्रचलित अर्थ समूह या समुदाय में किया है।

कुल

शमणों की संख्या उत्तरोत्तर बढ़ती गई। गणों के रूप में जो इकाइयाँ निष्पन्न हुई थीं, उनका रूप भी विशाल होता गया। तब स्यात् गण-व्यवस्थापकों को बहुत साधु-समुदाय की व्यवस्था करने में कुछ कठिनाइयों का अनुभव हुआ हो। क्योंकि अनुशासन में बने रहना बहुत बड़ी सहिष्णूता और धैर्य की अपेक्षा रखता है। हर कोई अपने उद्दीप्त अहं का हनन नहीं कर सकता। अनेक ऐसे कारण हो सकते हैं, जिनसे व्यवस्थाक्रम में कुछ और परिवर्तन आया। जो समुदाय गण के नाम से अभिहित होते थे, वे कुलात्मक इकाइयों में विभक्त हुए।

इसका मुख्य कारण एक और भी है। जहाँ प्रारंभ में जैनधर्म विहार और उसके आसपास के क्षेत्रों में प्रसृत था, उसके स्थान पर तब तक उसका प्रसार-क्षेत्र काफी बड़ चुका था। शमण दूर-दूर के क्षेत्रों में विहार, प्रवास करने लगे थे। जैन शमण बाह्य साधनों का मर्यादित उपयोग करते थे, अब भी वैसा है। अतएव यह संभव नहीं था कि भिन्न-भिन्न क्षेत्रों से पर्यटन करने वाले भुनिगण का पारस्परिक संपर्क बना रहे। दूरवर्ती स्थान से आकर मिल लेना भी संभव नहीं था, क्योंकि जैन शमण पद-यात्रा करते थे। ऐसी स्थिति में जो-जो शमण-समुदाय विभिन्न स्थानों में विहार करते थे, वे दीक्षार्थी मुमुक्षु जनों को स्वयं अपने शिष्य के रूप में दीक्षित करने लगे। उनका दीक्षित शमण-समुदाय उनका कुल कहलाने लगा। यद्यपि ऐसी स्थिति आने से पहले भी स्थविर-शमण दीक्षार्थियों को दीक्षित करते थे परन्तु दीक्षित शमण मुख्य पट्टधर या आचार्य के ही शिष्य भाने जाते थे। परिवर्तित दशा में ऐसा नहीं रहा। दीक्षा देने वाले दीक्षागुरु और दीक्षित उनके शिष्य—ऐसा सीधा सम्बन्ध स्थापित हो गया। इससे संघीय ऐक्य की परंपरा विच्छिन्न हो गई और कुल के रूप में एक स्वायत्त इकाई प्रतिष्ठित हो गई।

भगवतीसूत्र की वृत्ति में आचार्य अभयदेवसूरि ने एक स्थान पर कुल का विश्लेषण करते हुए लिखा है—

१. जैनधर्म का मौलिक इतिहास, प्रथम भाग पृष्ठ ४७३.

"एक आचार्य की सम्मति या शिष्य-परम्परा को कुल समझना चाहिए। तीन परस्पर सापेक्ष कुलों का एक गण होता है।"^१

पञ्चवस्तुक-टीका में तीन कुलों के स्थान पर परस्पर सापेक्ष अनेक कुलों के श्रमणों के समुदाय को गण कहा है।^२

प्रतीत होता है कि उत्तरोत्तर कुलों की संख्या बढ़ती गई। छोटे-छोटे समुदायों के रूप में उनका बहुत विस्तार होता गया। यद्यपि कल्प-स्थविरावली में जिनका उल्लेख हुआ है, वे बहुत थोड़े से हैं, पर जहाँ कुल के श्रमणों की संख्या नौ तक मान ली गई, उससे उक्त तथ्य अनुमेय है। पृथक्-पृथक् समुदायों या समूहों के रूप में विभक्त रहने पर भी वे भिन्न-भिन्न गणों में सम्बद्ध रहते थे। एक गण में कम से कम तीन कुलों का होना आवश्यक था। अत्यथा गण की परिभाषा में वह नहीं आता। इसका तात्पर्य यह हुआ कि एक गण में कम से कम कुल अर्थात् तदन्तर्वर्ती कम से कम सत्ताईस साधु सदस्यों का होना आवश्यक माना गया। ऐसा होने पर ही गण को प्राप्त अधिकार उसे सुलभ हो सकते थे।

गणों एवं कुलों का पारस्परिक सम्बन्ध, तदाश्रित व्यवस्था आदि का एक समयविशेष तक प्रवर्तन रहा। मुनि पं. कल्याणविजयजी ने युगप्रधान-शासनपद्धति के चलने तक गण एवं कुलमूलक परम्परा के चलते रहने की बात कही है, पर युगप्रधान-शासनपद्धति यथावत् रूप में अब तक चली, उसका संचालन क्रम किस प्रकार का रहा, इत्यादि बातें स्पष्ट रूप में अब तक प्रकाश में नहीं आ सकी हैं। अतः काल की इयत्ता में इसे नहीं बांधा जा सकता। इतना ही कहा जा सकता है, संघ-संचालन या व्यवस्था-निर्वाह के रूप में यह क्रम चला, जहाँ मुख्य इकाई गण था और उसकी पूरक या योजक इकाईयाँ कुल थे। इनमें परस्पर समन्वय एवं सामंजस्य था, जिससे संघीय शक्ति विद्वित न होकर संगठित बनी रही।

१. एथ कुलं विष्णेयं, एगायरियस्त संतई जा उ।

तिष्ठ कुलाणमिह पुण, सायेकम्बाणं गणो होई॥ —भगवती सूत्र द.८ वृत्ति

२. परस्परसापेक्षणामनेककुलातां साधूनां समुदाये। —पञ्चवस्तुक टीका, द्वार १

प्रयुक्त ग्रन्थ-सूची

अनुयोगदार सूत्र

प्रकाशक—

मुख्यदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद जैन संघ
हैद्राबाद (दक्षिण)

अन्तर्कृदशासूत्र

प्रकाशक—

श्री आगम प्रकाशन समिति
जैन स्थानक, पीपलिया बाजार
व्यावर (राजस्थान)

उद्धार्य सूत्र

प्रकाशक—

श्री अद्विल भारतीय साधुमार्गी जैन संस्कृति
रक्षक संघ,
सैलाना (मध्य प्रदेश)

उद्धार्य सूत्र

प्रकाशक—

मुख्यदेवसहाय ज्वालाप्रसाद
हैद्राबाद-सिकन्द्राबाद जैन संघ
हैद्राबाद (दक्षिण)

ओद्धार्यसूत्र

फर्गु सन कॉलेज, पुना

श्रीपणातिकसूत्रम्

प्रकाशक—

श्री अ. भा. इवेताम्बर स्थानकवासी
जैन शास्त्रोद्धार समिति
श्रीन लोज पासे, राजकोट

जयठवज

प्रकाशक—

जयठवज प्रकाशन समिति
९८, मिन्ट स्ट्रीट,
मद्रास-१

जैनवर्णन के मौलिक तत्त्व

पहला भाग

प्रकाशक—

मोतीलाल बैंगानी चेरिटेबल, ट्रस्ट,
१/४ सी० खगेन्द्र चट्ठी रोड,
काशीपुर, कलकत्ता-२

जैनधर्म का मौलिक इतिहास

प्रथम भाग

प्रकाशक—

जैन इतिहास समिति
श्रीचार्य श्री विनयचन्द्र ज्ञानभंडार,
लाल भवन, चौड़ा रास्ता,
जयपुर-३ (राजस्थान)

जैन साहित्य का बूहद् इतिहास

भाग २

प्रकाशक—

पाश्वर्नाथ विद्याश्रम शोध-संस्थान,
जैनाश्रम, हिन्दू युनिवर्सिटी,
वाराणसी-५